( सर्वाधिकार सुरक्षित )

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

# ☆ ज्ञानामृत ☆



टीका कर्ता
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य १०५ मनोहर जी वर्णी
**"श्रीमत्सहजानन्द जी महाराज"**

सम्पादक
पवन कुमार जवैलर्स
२६ दुर्गावाड़ी, सदर, मेरठ

प्रकाशक
**मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला**
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

[द्वितीय संस्करण ११०० ] सन् १९९५ [ लागत रु० २५)

# द्वितीय संस्करण की भूमिका

धर्मस्नेही पाठकवृन्द/'सहजानन्द ज्ञानामृत' ग्रन्थ का द्वितीय सस्करण आपको सौंपते हुये मुझे अति प्रसन्नता है। यह ग्रन्थ पूज्य महाराज श्री की स्वतन्त्र रचना है। इस ग्रन्थ में पूज्य श्री ने ७८ लघु निबन्धो के माध्यम से सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताये गये तत्त्वों का जो कथन सरल व सुबोध शैली में किया है वह शाश्वत सहज आनन्द प्राप्ति में हम सबको एक पथ प्रदर्शित करेगा।

प्रस्तुत ग्रथ 'ज्ञानामृत प्रवचन' नाम के अनुरूप ही है। अमृत पान करने से मानव अमर हो जाता है ऐसा लोक मे प्रसिद्ध है परन्तु ज्ञान का अमृत पान करने से आत्मा अजर अमर गुण को पा लेता है। छहढालाकार के शब्दो मे—

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।<br>
ज्ञानी के छिन माहि त्रिगुप्ति तैंसहज टरैं ते ॥

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराज ने लगभग ५०० ग्रथो की रचना करके हमे जो अमूल्य निधि प्रदान की है उससे हम कभी उऋण नही हो सकते हैं।

पूज्य आचार्यों, मुनियो तथा त्यागी जनो का स्पष्ट मत है कि सहजानन्द साहित्य निष्पक्ष एव आगमोक्त साहित्य है। इस साहित्य के मनन चिन्तन एवं स्वाध्याय द्वारा तत्त्वो का ज्ञान सुगमतया हो जाता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ रत्न पाठको के जन्म मरण का अभाव करके सहज एव स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति मे मार्गदर्शक होगा।

निवेदक :

**पवन कुमार जैन**

२६, दुर्गाबाड़ी, सदर मेरठ

जुलाई १९९५

# प्राक्कथन

ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारण,
इहि परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण।"

"प्राणी जन्मता है, जीता है, और मरता है किन्तु जीवन के अन्त तक यह नही समझ पाता कि उसका रहस्य और सच्चाई वास्तव मे क्या है ? यह जीवन दो प्रकार से देखने व अनुभव में आता है। बाह्य जीवन और आतरिक जीवन/बाह्य जीवन ५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छवास रूप १० प्राणो से निर्मित है, जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेसे सबके परिचित है और सभी विश्वास करते है। आतरिक जीवन (आत्मीक जीवन) जो सहज निरपेक्ष सत् चिदानन्दमय जीवत्व शक्ति से स्वतः सिद्ध है, किन्तु इन्द्रिय व विकल्पो के गम्य न होने के कारण सामान्य जीव न तो उसको जानने की, पहिचानने की आतरिक जिज्ञासा तथा रुचि रखते है। उनका तो मुख्य लक्ष्य वर्तमान बाह्य जीवन सम्बन्धित समस्त भौतिक सुविधाओ की उपलब्धि करना और उन्ही का सरक्षण, सम्बर्धन करते हुए मौज मनाना ही है। आतरिक (आत्मीक) जीवन की सहज, स्वाभाविक सुविधाओ अर्थात् सहज ज्ञानानन्दमय परम पारिणामिक भाव का आश्रय करके स्वाधीन सहज जीवन की उपलब्धि का लक्ष्य और उद्यम नही है। जिसके फल स्वरूप ही यह जीव अनादि काल से जन्म-मरण करता हुआ प्रत्येक समय अनन्त दुःख का भाजन बना हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक "सहजानन्द ज्ञानामृत" मे श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर लाल जी वर्णी सहजानन्द जी ने इस जीव को अनादि कालीन अज्ञान जनित मूलभूत समस्याओ का तात्विक रूप से समाधान किया है, जिसके फल स्वरूप इस जीव की काल्पनिक सुख-दुःख तथा जन्म-मरण का अभाव करने के लिए सहज ज्ञानानन्द मय अपनी आत्मा का अनुभव करते हुए अजर-अमर होकर शाश्वत सहज आनन्द प्राप्ति के लिए सर्वज्ञ प्रणीत मूलभूत तत्वोका ७८ लघु निबन्धो मे सरल सुबोध भाषा मे वैज्ञानिक पद्धति से कथन किया है।

लगभग ३५ वर्ष पूर्व श्री वर्णी जी भोपाल पधारे थे। मैंने उनके प्रवचनो तथा तत्व चर्चादि के माध्यम से विशेष लाभ लिया था। यहाँ से बिहार कर मेरठ पहुचकर मेरे ऊपर विशेष अनुकम्पा करके वर्णी साहित्य का सम्पूर्ण सेट निःशुल्क मेरे लिए भेट स्वरूप भिजवा दिया और संस्था का स्थाई सदस्य भी बना लिया। तब से मैं उनके साहित्य का

पूर्ण मनोयोग से स्वाध्याय मनन-चिन्तन सतत् करता रहता हूं तथा अन्य तत्त्व जिज्ञासु आत्मार्थी साधर्मियो तथा सामान्य जीवों को भी उनके साहित्य को स्वाध्याय मनन-चिन्तन हेतु देता ही रहता हू, जिससे उनको जिनोक्त शासन के प्रति विशेष रुचि और आतरिक स्वाधीन सहज जीवन जीने का लक्ष्य हुआ है।

मेरी विशेष प्रेरणा से इस ग्रन्थ का द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ है। मेरा समस्त आत्मार्थी साधर्मी भाई-बहिनो से सविनय अनुरोध है कि इस ग्रन्थ का सतत् स्वाध्याय मनन-चिन्तन कर अपने सहज ज्ञानान्दमय आत्मा का अमृतपान करते हुए जन्म-मरण का अभाव करके सादि अनन्त काल तक के लिए अखड आत्मिक अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करें।

"ॐ ज्ञानानन्दात्मने नमः"

निवेदक—
प० राजमल जैन
१०—लखबानी गली,
सर्राफा-चौक, भोपाल (म० प्र०)
४६२००१



✳ रे मनोहर ! दुःख से मुक्त होने के लिये तेरा ही भेद विज्ञान बल तुझ शरण होगा, अन्य नहीं।

"इच्छा से ज्ञान आनन्द दोनो का घात है। इच्छा न कुछ होता नही, न कल्याण है। इच्छा से जब कुछ होता नही, तो इच्छा करके क्यो कष्ठ उठाते हो।"

# ज्ञानामृत प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

( १ )

**मैं ज्ञानमात्र हूं, मात्र ज्ञानका ही परिणमन मुझमें संभव है, ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, यही मेरी रक्षा है, जिसकी निशानी है निर्विकल्प अलौकिक परम संतोषका अनुभव।**

ज्ञानामृतपानके उद्यवनका ज्ञान—इस आत्माको आवश्यक है ऐसे ज्ञानामृतका पान करना कि जिससे अज्ञानजन्य संताप शांत हो जाय। जितना भी जीवको संताप है वह सब अज्ञानका फल है। जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न समझना, उससे विपरीत समझना, इस बातमें तो दुःख होना प्राकृतिक बात है। यदि दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो अज्ञान अन्धकारको दूर करें, सत्य ज्ञानका प्रकाश पायें तो वहाँ सताप नहीं ठहरते। तो ऐसा ज्ञानामृतका पान बने। काहेके द्वारा ? कटोरी गिलास से नहीं, किन्तु अपनी ज्ञानवृत्तिके द्वारा। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समा जाय यह ही है वास्तविक अमृतका पान। तो उस ही के प्रसंगमें यहाँ इस प्रथम निबंधमें चार बातोंपर प्रकाश पड़ रहा है—मै क्या हूँ, मुझमें क्या हो सकता है, मेरी रक्षा किसमें है, और मेरी रक्षा हो गई या रक्षाका उपाय पा लिया, इसकी निशानी क्या है ? ये चारों परिज्ञान आत्महितके लिए बहुत उपयोगी हैं। मैं कौन हूं, इतनी ही बात नहीं जानी गई तो फिर सुखी किसको करता ? मुझमें फिर क्या सम्भव है, जब यह ही परिचय न हो तो मै अपनेमें पौरुष क्या कर सकता हूँ ? किसमें मेरी रक्षा है, यह ज्ञात ही न हो तो रक्षाका उपाय कौन करेगा ? और मेरी रक्षाका उपाय बन गया, मैं ठीक सही मार्गपर चल रहा, इसका कोई चिह्न भी समझमें न आये तो कैसे यह संतोष करेगा और कैसे यह अपने ज्ञानपथमें बैठेगा ? तो देखो ये चार बातें समझ लेनी बहुत उपयोगी हैं।

"मैं क्या हूँ" प्रथम जिज्ञासाका समाधान—अब उन चार बातोमे से पहली ब तपर ध्यान दीजिए—जिज्ञासा हुई कि मै क्या हूँ ? मै ज्ञानमात्र हूँ। मात्रका अर्थ है—केवल, सिर्फ याने जो मेरेमे स्वभाव है बस वही मै हूँ, इसमे निषेध किसका किया गया ? जो विकारभाव हैं, नैमित्तिक भाव हैं, पराश्रित भाव हैं उनको मना किया गया कि ये मै नहीं हूँ। अभेददृष्टि में तो यह निर्णय है कि मै ज्ञानमात्र हूँ, पर कुछ भेददृष्टिसे परखें तो इस ज्ञानके साथ ज्ञानके सहभावी अनेक गुण विदित हुए हैं। मै ज्ञानमात्र हूँ, मै दर्शनस्वरूप हूँ, चारित्ररूप हूँ, आनन्द रूप हूँ, सम्यक्त्वरूप हूं, अनेक बातें समझी जा सकती हैं, पर वे सब अनेक बातें भी अभेददृष्टिसे निरखनेपर मै ज्ञानमात्र हू' ऐसा ही समझा जायगा। भेददृष्टिमे तो गुण अनेक हैं तो उन अनेक गुणोमेसे ज्ञानमात्र की ही भावना क्यो बनाई गई ? इसका कारण यह है कि यदि हम अपनेमे किसी अन्य गुणरूपसे अपनेको मानकर चलें तो ज्ञानको छोड़कर अन्य गुणके जाननेकी बात नहीं आती। तो जाने बिना, अनुभवे बिना अन्य गुणोको मैं क्या समझ सकूंगा ? इसलिए सर्व गुणोंमे से ज्ञानगुणको ही एक छांट लें, और अपनेको यह अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र अनुभवनेमें आत्माका सर्वात्मक अनुभव बन सकता है और यहा कोई पराधीनता भी नही बनती, क्योकि ज्ञानके ही द्वारा जानना है और ज्ञानके ही रूपमे सब गुणोसे जानना है, इस कारण मै ज्ञानमात्र हूँ, मै ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी बराबर दृष्टि बनी चली जाय। यह तो है प्रथम जिज्ञासा समाधान—मैं ज्ञानमात्र हूँ।

"मुझमे क्या सम्भव है" द्वितीय जिज्ञासाका समाधान—अब दूसरी बात लीजिए। मुझमें कौनसी बात सम्भव है ? जब अपनेको ज्ञानमात्र तका तो उस ही प्रकारमे यह उत्तर आयगा। मुझमे मात्र ज्ञानका ही परिणमन सम्भव है। अपनेको देखा जा रहा है ज्ञानस्वरूप। और कोई भी वस्तु परिणमे बिना रहती नहीं और मै हूं ज्ञानस्वरूप। तो मुझमे जो परिणमन बनेगा वह ज्ञानरूप परिणमन ही बनेगा। मेरेमे ज्ञानपरिणमन ही सम्भव है। अन्य परिणमन मुझमे सम्भव नहीं। देखो जीवमे भले ही विकार तो होते जाते हैं, पर यह तका जा रहा है इस विधिमे कि मेरेमे अपने आपसे ही अपनेमे परका आश्रय लिए बिना क्या सभव है ? तो यह केवल जाननहारकी स्थिति सम्भव है। यहाँ विकारादिक सम्भव नहीं। तो दूसरा प्रश्न था, जिज्ञासा भी थी कि मेरेमे क्या सम्भव है ? देखो यह जीव मानता तो सब कुछ है कि मेरेमे सुख भी आता है, दुःख भी आता है, आनन्द भी मिलता है, सर्व बातें समझ तो रहा है, मगर वह सब ज्ञानके उपयोगकी करतूत है और वे मोहयुक्त उपयोगके विकार है। क्योकि सबमे ज्ञानपरिणमन बना हुआ है। मुझमे दुःख है, इसका

अर्थ क्या है कि मैने परपदार्थोको अपनानेका विकल्प बहुत किया। यह ही तो कष्ट है, जीवमें और है क्या ? अपने अपनेमे देखो—हम आप सब जीव ये अपनेमें हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, इनमें कष्टकी क्या बात है ? कहाँ से कष्ट आयगा ? कष्ट क्या कोई बाहरी चीज है ? जो किसी बाहरी पदार्थसे आये, बस एक ऐसा विकल्प किया कि जिससे मोह रागद्वेष विकल्परूप बन गया, ज्ञानके ऐसे परिणमनसे ही कष्ट हो रहा, कष्ट कही बाहरकी चीज नही, किसी बाहरी वस्तुसे आता नहीं किन्तु अपनेमे उस प्रकारका विकल्प बनाया और कष्ट होने लगा। तो जो कुछ भी और-और बातें सोची जा सकती हैं वे सब ज्ञानके ही परिणमनरूप है। तो यही बात अन्तमें आयी कि मुझमे ज्ञानका परिणमन ही सम्भव है और कुछ सम्भव नहीं। यह जीव अज्ञानवश वहुत बड़े वैभवको अपनाता है और उसमें दुःखी होता है। जिस समय वैभव मिला हुआ है उस समयमें भी यह जोव सुरक्षित नही है। उसके मोहके विकल्पमें, रागके विकल्पमे बरबादी कर रहा है यह प्राणी। तो जहाँ मोह है वहाँ क्लेश, राग है वहाँ क्लेश, द्वेष है वहाँ क्लेश। तो यह क्लेशकी विडम्बना मेरे ज्ञानके परिणमनके माध्यमसे ही तो बन रही है। तो ज्ञानका परिणमन ही उनमें सम्भव है। मुझमे अन्य बात सम्भव नहीं है।

"किसमे अपनी रक्षा है" तृतीय जिज्ञासाका समाधान—अब तीसरी समस्याको निरखिये—तीसरी बात यह पूछी गई है कि मेरी रक्षा किसमें है ? देखो यह जीव ज्ञानका परिणमन करनेके सिवाय और कुछ नहीं कर पाता। भले ही हमारे विकारके निर्माणमे पर-उपाधिका संग आवश्यक है और परपदार्थमे उपयोग देकर हम अपनेको कष्टमे ही डालते है। हम आप भगवानको पूजने रोज-रोज क्यो आते ? सुबह हुआ, नहाया धोया, मन्दिरमें आते प्रभुभक्ति करते, सब लोग बडा शोरसा मचाते, सब अपनी-अपनी धुनमे पूजा कर रहे हैं। अगर किसीकी शोरसे स्वयको बाधा आती है तो वह खुद जोरसे बोल बोलकर पूजा करने लगता है। कभी तो ऐसा गम नहीं खाते कि अरे वही तो पूजा है जो रोज-रोज करते, वही तो मन्दिर है, वही तो भगवान है। कभी ऐसा तो मन नहीं मानता कि आज न जावे दर्शन, पूजन करने। क्यो ऐसा करते ? यो करते कि यहाँ शान्ति मिलती है। प्रभुके गुणोका स्मरण होता है। बाहरके मोह रागद्वेषके विकल्प वहाँ टूट जाते हैं सहज आनन्द प्राप्त होता है।

तो बात यह क्या हुई यहाँ ? जिसका हम पूजन करते, ध्यान करते वह है विशुद्ध ज्ञान का परिणमन और यहाँ भी उनका चिन्तन करके 'ज्ञानका ही परिणमन चल रहा है। तो अपना ज्ञान-परिणमन सुधारनेके लिए मन्दिरमे हम आते हैं। देखो मन्दिर आनेका प्रयोजन समझ लो। लक्ष्य, प्रयोजन समझे बिना यह मन्दिरका आना भी आपके लिए बोझ ही कहलायगा, उससे मार्ग न मिल पायगा। तो इसका प्रयोजनन समझ लो। ज्ञानके परिणमनके

सिवाय और कुछ कर सकते नहीं ? जब ज्ञानका परिणमन ढंगसे न हो तो क्लेश होता है, ढगसे हो तो शान्ति मिलती है। वह ढंग क्या है कि हम तोज्ञानमें ज्ञानस्वरूपकोही जानें। किसी भी परपदार्थमे मोह रागद्वेषका लगाव न रखें, शान्ति मिल जाएगी। तो अब इतनेसे ही समझ गए होंगे कि हमारी रक्षा है तो ज्ञानका किस तरह परिणमन हो, उसमे रक्षा है कि ज्ञान ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन करे, याने विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहे इसमें मेरी रक्षा है। ज्ञाता दृष्टा रहना, आनन्द स्वरूपका उपयोग रखना वह एक ऐसा महान दृढ़तम दुर्ग है कि जहाँ कषाय बैरियोका प्रवेश नहीं हो सकता। तो मेरी रक्षा कहाँ हुई, मरे ज्ञानका ज्ञानरूप ये ही परिणमन बने, बस यही मेरी रक्षा है। जगतमें देख लो एक ओरसे दूसरी ओर तक। जो भो दु:खी है वह मोह रागद्वेष रूप जीवन की वजहसे दुःखी है और दु.खी भी प्रायः सब हैं। कोई कहे कि हम दुःखी नहीं होते, इस दूसरेका विकल्प हम लगा लेते हैं, तो अलग लगा क्या ? कोई किसीपर कितनी करुणा करे, कितना भी कोई नाते रिश्तेदार समझाये, कितने ही मैत्री सम्बन्ध बढ़ाये, पर यह कभी नहीं किया जा सकता कि भाई तुम्हारा परिणमन मैं कर देता हूँ। सबका अपना-अपना परिणमन है और वह परिणमन ज्ञान द्वारा प्रकट हो रहा। सो ज्ञानका परिणमन है। अब यह ज्ञानका परिणमन ज्ञानरूपमे ही रहे, ज्ञाता दृष्टा रहे, ज्ञानभाव मेरा स्वरूप वही ज्ञानमें बसे तो इस जीवको कोई कष्ट नहीं हो सकता। तो रक्षा अपनी इसमें है कि ज्ञान ज्ञानरूपमे रहा करे।

*"अपनी सुरक्षाका चिन्ह क्या है ?" चतुर्थ जिज्ञासाका समाधान*—अब चौथी बात सुनो, मेरा ज्ञान ज्ञानरूप मे ही बर्त रहा है और अब मैं सुरक्षित हो गया हूँ। मेरेको अब किसी प्रकारका कष्ट नहीं है। इसकी निशानी क्या है ? कैसे समझें कि मेरी रक्षा हो गई ? उसकी निशानी है "निर्विकल्प अलौकिक परमसन्तोषका अनुभवन।" मेरेको ज्ञान जगा है, मेरे ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाया है। इसकी पहिचान क्या है ? खुद ही जान पायेंगे, दूसरा न जान सकेगा। इसकी पहिचान है परमसतोषका अनुभव। वह संतोष कैसा है ? निर्विकल्प और अलौकिक। देखिये—भोजन करते समय जो सुख मिलता है वह सुख विकृत दशा है या अविकृत दशा है। विकृत दशा है। जो जो काम हम करते चले जा रहे हैं उन कामोमे हमको लाभ कुछ नहीं है। अपनी रक्षा है अपनेको सतोष मिलेगा तो निजस्वरूपका भान करें और उसमें ही मग्न होनेका पौरुष बनायें। जब तक ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया रहता है तब तक जीवको अलौकिक संतोष होता है। तो इस ही सतोषके अनुभवमे सामर्थ्य है कि वह भव-भवके कर्मोको दूर करता है।

*चार जिज्ञासाओंके समाधानमे ज्ञानामृतपानकी योजना*—यहाँ अपने को समझनेके

लिए चार बातें कही गई हैं कि मैज्ञानमात्र हूँ। उनका अनुभव बने कैसे ? मेरेमें मात्रज्ञान का ही परिणमन होता है, मरेमे किसी बाहरी चीजको आफत नहीं लगी। ज्ञानमे ज्ञानरूपसे ही परिणमन होता है। ज्ञानका परिणमन ही मुझमे सम्भव है—दूसरी यह बात समझे। तीसरी बात क्या समझें कि मेरी रक्षा किसमें है ? लाखों करोड़ोंका वैभव जोड़ लें, तो क्या इसमें मेरी रक्षा है ? अच्छी पार्टी समागम जुट जाय तो क्या इसमें मेरी रक्षा है ? मेरी रक्षा है मेरे ज्ञानमें ज्ञानदेवता समाया रहे। ज्ञानका विशुद्ध सहजस्वरूप क्या है ? ज्ञान ज्ञानमे बर्तता रहे, इस भावमे मेरी रक्षा है, और उसकी निशानी है निर्विकल्प सन्तोषका लाभ। तो इसका अधिकाधिक प्रयोग करते रहना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूं। मै ज्ञानको ही कर सकता हूँ और ज्ञानको ही भोग सकता हूँ, ऐसी अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि हो तो यह कहलाता है ज्ञानामृतका पान करना, जिससे कि यह जीव अमर हो जाता है। सब लोग कहते हैं और चाहते हैं कि मै अमर हो जाऊँ, पर अमर होनेकी विधि यह है कि जो मेरा स्वरूप है उसका भान हो, यह मै हूँ ऐसा परिचय हो, संतोष हो तो समझो कि हम ज्ञानपरिणतिमे आगे बढ़ते चले जा रहे है। सो ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमते रहने में अपनी अमरता है।

( २ )

मुझमे खोटेसे खोटा यही सम्भव है कि अज्ञानरूप (विकल्परूप) से परिणम लूँ, यो ज्ञानका अज्ञानरूपसे परिणम जाना हो मेरा विघात है, जिसकी निशानी है इन्द्रियविषय या नामवरी मे चित्तका रमना।

विषय कषायके विकल्पो मे आत्मप्रभुका विघात—यहाँ यह विचार चल रहा है कि मुझमे खोटीसे खोटी बात किसी भी प्रकारसे हमको क्या बना सकती है? देखो जब कोई धैर्य की ओर बढ़ता है तो अधिकसे अधिक मेरेपर क्या विपत्ति आ सकती है, क्या परिणमन हो सकता है ? उसकी यह जीव कल्पना करता है और उसे मानकर उसे तुच्छ जानकर धैर्य लाता है। तो यहाँ विचारें कि मेरेमें खोटीसे खोटी बात क्या सम्भव है ? खोटीसे खोटी यह बात सम्भव है कि मै विकल्परूप परिणमता हूँ। मेरेमे खोट, कषायें आयी हैं, आप सब अपने-अपनेमे देखें कि मेरेमे खोट कितनी कि मैं अज्ञानरूप परिणम रहा हूँ। जितने विकल्प है वे सब अज्ञान कहलाते हैं। तो इस ज्ञानका ऐसा यह सब कुछ परिणमन अज्ञान हो रहा है, बस यही मेरी हत्या है, मेरा विघात है सो जानें तो सही। देखो आज हैं इस भवमे और आर्तध्यान व रौद्रध्यानमे समय गुजार दें तो भला बतलावो इस भवके लिए भी मैने क्या पाया ? तो अपने आपपर दया करके अपनी ऐसी परिस्थिति बनायें कि जहाँ ऐसी उमग बने कि मै अज्ञानरूप, विकल्परूप न परिणमूंगा। मै तो जैसा शाश्वत जिस स्वरूप हूँ उस रूपसे

ही मैं रहूँगा । देखो सब सकट दूर हो जाते हैं । तो ज्ञानका अज्ञानरूप परिणमा लेना बस यही मेरा विघात है । हा, जैसे पहली विधि बतायी थी कि मेरी रक्षा किसमे है और उसकी निशानी क्या है ? तो यहां एक यह बात खोज निकालें कि मेरी बरबादी किसमे है ? और उस बरबादीकी निशानी क्या है ? मेरी बरबादी है अज्ञानरूप होनेमे । परको अपनाया, राग बनाया, यही बरबादी है । देखो मोह करना कितना सरल लग रहा है लोगोको ? कुछ अटक ही नहीं लगती । झट मोह करते हैं, वहां कुछ बीचमे ध्यान भी नही है । कितना सरल जंच रहा है मोह, कितना सस्ता लग रहा है राग करना, पर यह याद करना चाहिये कि मोह और राग करते समयमे हम अपने आत्माकी अनन्त हिंसा कर रहे हैं । कहां तो ज्ञानस्वरूप भगवान यह आत्मा आनन्दनिधान, यह आत्मतत्त्व और इसको न जानकर बाह्य पदार्थोंमे रागद्वेष मोह करके हम अपना कितना विघात कर रहे हैं ? नहीं माननेको तैयार होता यह मोही प्राणी । जैसे किसी छोटी बच्चीसे कहा कि तू तो लडका है तो वह झट कह उठती—हट मै क्यो लडका होऊँ ? और किसी लड़केसे कहो कि तू तो लडकी है तो वह झट कह उठता—हट, मै क्यो लड़की होऊँ ? तो जिस पर्यायमे है, उस पर्यायके खिलाफ अपनेको माननेमे वह तैयार नहीं होता । यह जीव मोहमे रगा है, रागमे रगा है तो यह माननेको तैयार नहीं होता कि मोहसे ही मेरी बरबादी है, रागसे ही मेरे लिए कष्ट है । राग और मोह छोडे तो कष्ठ से छुटकारा होवे । जैसे कोई बच्चा खानेकी चीज लिए है और उसपर दो-चार बच्चे उस चीजको छुड़ानेके लिए उसपर हावी हो रहे हैं तो वह बच्चा चिल्लाता है, रोता है, दु.खी होता है । पर वह बच्चा अगर अपनी मुट्ठी खोलकर उस चीजको बाहर फेंक दे तो उसके उस विषयक सारे कष्ट तुरन्त दूर हो जायें । फिर उसका वे उद्दण्ड बच्चे क्या कर सकेंगे ? फिर कुछ प्रसंग ही नहीं । तो यह जीव अपने अज्ञान भावसे मोह बसाये है, राग बसाये है, उसका कष्ट भोग रहा है और भीतरसे वह कष्टकी जडको छोडना नहीं चाहता । सो दुःखी कौन हो रहा ? यह खुद ही दु खी हो रहा । यदि सकटोसे छुटकारा पाना है तो अपना अज्ञानरूप परिणमन मत करो । जो बात जैसी है, खुद जैसे हैं, यह लोक जैसा है वैसा ही समझ लें । अगर नहीं समझ सकते तो इसमे विघात है, बरबादी है ।

आत्मविघात की निशानी—जीवकी बरबादीकी मूल निशानी यह है कि इसका चित्त किसी इन्द्रिय वषयमें जा रहा है या अपनी नामवरीके सोचनेमें जा रहा है । दो निशानी बरबादीकी बतला रहे हैं । भीतरमे बरबादी हो रही है, मै अज्ञानरूप परिणम रहा हूँ, इसकी निशानी क्या है ? इन्द्रिय विषयोमे चित्त लगाना । स्पर्शनका विषय सुहाये, खाने-पीमे रसीली चीजें सुहायें, सुगंधित तेल फुलेल लगायें, अच्छे-अच्छे रूप देखना सुहाये । अरे अच्छा-अच्छा

कुछ नहीं है, कल्पना में जैसा आ गया सो अच्छा। अच्छे शब्द सुहायें, यह निशानी है इस बात की कि निरंतर बरबादी की बात चल रही है, अथवा नामवरी में चित्त जाय, मेरा ऐसा यश फैले, मेरी एसी कीर्ति हो, मेरे नाम पर धब्बा न लग जाए, मेरा खूब प्रकट गुण प्रकाश फैले, कुछ भी बात रखें, लोग मेरा नाम लेते रहें, मेरी बात सबके चित्त में जम जाये, यदि ऐसी धारणा है तो वहां कष्ट है। यह तो बरबादी की निशानी है। सो भाई कष्टों से छुटकारा पाना है तो सम्यग्ज्ञान बनाओ और उस ज्ञान के द्वारा अपना उपयोग निज सहज ज्ञान प्रकाश मे रखो, कोई भी कष्ट हम में नहीं है।

( ३ )

अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्य स्वभाव के आश्रय में ही सम्यक्त्व का आविर्भाव है, पर या परभाव के आश्रय से तो अनर्थक विकल्प का ही प्रादुर्भाव है, अतः आत्म स्वभाव के आश्रय में ही आत्मा का कल्याण है।

सम्यक्त्व के आविर्भाव मे आश्रेय तत्त्व—सम्यक्त्व का आविर्भाव कैसे होता है यह बात बहुत ध्यानसे, प्रमुखतासे समझनी चाहिये। कुछ भी भाव उत्पन्न होनेके लिये किसी न किसीका आश्रय होता ही है। यह उपयोग, कही न कही लगता ही है। तो जब उपयोग अपना व्यापार निरंतर करता ही रहता है, तो हमेंइस व्यापारमें ही यह समाधान पाना है कि उपयोगका कोनसा व्यापार सम्यक्त्वकी उपत्ति कराताहै? साथ ही यह भी जान लिया जायेगा कि उपयोगका कैसा व्यापार विकल्प उत्पन्न करता है, सम्यग्दर्शनका क्या स्वरूपहै? निर्विकल्प, अखंड एक सहज चैतन्यस्वरूपआत्मतत्त्वमें 'यहमैहूं' इस प्रकार की आस्था होना इससेविपरीतआशयका दूरहो जानायह बात पायी जाती है सम्यक्त्वमें। तब सम्यक्त्व एक निर्विकल्पतत्त्वहै। तो निर्विकल्पतत्त्वका आविर्भाव विकल्प से नही हो सकता। इतना तो सीधा गणित जैसा उत्तर है। निर्विकल्पभावका आविर्भाव निर्विकल्प तत्त्वके आश्रयसे ही सम्भवहै। तो यहा इतनी बात तो आ ही गई कि सम्यक्त्वका आविर्भाव निर्विकल्प भावके आश्रयसेहोगा। अबवह निर्विकल्पभाव क्या है? अत्यन्तनिर्विकल्प भाव याने विकल्प हो विकल्पमिटे, ऐसीपरिणतिकीभी बात नहींकह रहे, किन्तु जो स्वतः अखन्ड है, निर्विकल्प है उससहज भावके आश्रयसे सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है। सम्यक्त्व है अपने आपकी परिणति। अपने आपकी कोई भी परिणति किसी परके आधारमे नहीं बनती। हा, इतनी बातअवश्य हैकि यदिविकाररूप परिणति है तो वह किसी परका आश्रय करके बनता है यदिव्यक्तविकारका प्रसग हो। औरव्यक्तविकारका प्रसंग नहीं तो मात्र वास्तविक निमित्त के सन्निधानमेंइसजीवमेअव्यक्त विकारहोताहै। सो विकार तो अवश्य नैमित्तिक है, पर

वह भी इस जीवकी भूमिकामें ही होता है। फिर यहां तो सम्यक्त्व की बात कह रहे हैं। समीचीनता, स्वच्छ आशय, विपरीत आशयसे दूर होना—यह होता है निज निर्विकल्प सहज चैतन्यस्वभावके आश्रयसे। मेरा निजस्वरूप क्या है? चैतन्यमात्र। सहज चैतन्यस्वरूप यह है मेरा स्वरूप। मेरे आश्रयसे ही सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है।

सहज चैतन्यस्वभावकी अनादिनिधनता—यह सहज चैतन्यभाव कबसे आया है जीव में? जबसे जीव है तबसे ही यह सहजभाव है। जीव कबसे है? कोई भी सतपदार्थ पहले न हो और बाद मे हो, ऐसा कभी नही होता। जो है वह अनादिसे है। तो यह अपने आत्मा का चैतन्यस्वभाव भी अनादि है। इसकी आदि नहीं है। इस समयसे चैतन्यस्वभाव बना ऐसी यहा कुछ भी वार्ता नहीं है और जब यह चैतन्यस्वभाव अनादि है तो यह अनन्त भी है। जो सत् है, जिसकी आदि नहीं उसका अन्त नहीं। जिसकी आदि नहीं उसका अन्त कभी हो ही नहीं सकता। भले ही कुछ प्रश्न उठें कि देखो अज्ञानभावकी आदि तो नहीं, अनादि से अज्ञानभाव चला आ रहा है। उसका अन्त कैसे हो गया? मिथ्यात्व व कषाय कब से है? इसकी भी आदि नहीं। अनादि काल से जीव के साथ मिथ्यात्व और कषायभाव लगे चले आ रहे हैं, किन्तु उनका अन्त तो हो जाता है। तो ऐसी आशंका उठे तो उसका समाधान यो पाइये कि कोई भी अज्ञानभाव अनादिसे नहीं होता। मिथ्यात्वभाव, कषायभाव अनादि से नहीं होता। उसकी परम्परा अनादिसे है। जैसे वर्तमानमे जो क्रोधभाव जगा तो जो क्रोध भाव जगा क्या वह अनादि से है? आज जगा, किसी बाहरी पदार्थका विचार करके जगा, उसका जो रूपक है, उसकी जो मुद्रा है वह तो अभी हुई है, इसी प्रकार अन्य-अन्य कषायें भी अनादिसे नहीं हैं, लेकिन इनकी परम्परा अनादि है। कषायें अनादि से चली आ रही हैं। इसके बाद दूसरी कषाय, उसके बाद अन्य कषाय, इसी प्रकार मिथ्यात्वभाव भी अनादि परम्परासे चला आ रहा है, न कि जो मिथ्यात्वपर्याय है वह पर्याय अनादि से है, क्योंकि मिथ्यात्वपर्याय तो प्रत्येक क्षण नवीन-नवीन होती चली जा रही है, क्योंकि उस मिथ्यात्वके आशय मे प्रभाव भी नया नया, नये-नये समयमे बनता चला जा रहा है। तो कोई भी पर्याय अनादिसे नहीं होती। हां पर्यायोकी संतति अनादिसे है। यो यहा निज चैतन्यस्वभावकी बात कही जा रही है यह चैतन्यस्वभाव अनादिसे है, सहजभाव है, एकस्वरूप है, अखण्ड है, ध्रौव्यांश वाली बात कही जा रही है। यह चैतन्यभाव अनादि है, और ऐसा अविचल निरखकर एक सहज भावका जब आदि नहीं है तो उसका अन्त भी कभी नहीं हो सकता। सारांश यह समझिये कि किसी भी सत् पदार्थका आदि नहीं है तो उसका अन्त भी नहीं है। सत् अनादि अनन्त होता, तो सहजस्वरूप भी अनादि अनन्त होता।

सहज चैतन्यस्वभावकी अहेतुकता—जो अनादि अनन्त है उसका कोई कारण नहीं, वह तो स्वय अपने आपसे है। जिन बातोंमें कारण होता है उनको आदि है और अन्त है, जितनी कषायें मिथ्यात्व मोह आदिक विकार हैं वे सहेतुक हैं अर्थात् कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवद्रव्यमे उस योग्य उपादानमे किसी समय हुए हैं। यद्यपि ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो ऋजुसूत्रनय चूंकि एक समयकी पर्यायको ही निरखता है, दूसरा कुछ देखता ही नहीं है, इसके मायने यह नही हैं कि दूसरा कुछ है ही नहीं। द्रव्यहैं, पूर्वकी पर्यायेंहैं, उत्तर की पर्यायें हैं, सब कुछ होनेपर भी ऋजुसूत्रनयका विषय तो एक समयकी पर्याय है। तो जब ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें तका जा रहा है तो पर्याय अहेतुक कही जाती है, क्योंकि पूर्व उत्तर का कुछ भी इस नयकी निगाहमें नहीं है, लेकिन क्या अहेतुक है, इतना ही सत्य है ? इसका एकान्त करे तो वह असत्य दर्शन हो जाता है। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे पर्याय अहेतुक है, लेकिन द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जिस द्रव्यमे पर्याय हुई है वह द्रव्य पहले भी है, बादमें भी है। और द्रव्यमे पर्याय निरखो जो कि द्रव्यार्थिकनयके भेदरूप व्यवहारनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि पूर्व पर्यायसंयुक्त द्रव्य वर्तमान पर्यायका उपादान कारण है और जो विकारवाली पर्याय है उसमे कोई परउपाधिका ससर्ग निमित्त है तो परिणमन तो सहेतुक है, पर सहजस्वभाव सहेतुक नहीं, वह अनादि अनन्त है तथा अहेतुक है, ऐसे अनादि अनन्त अहेतुक सहजचैतन्य-स्वभावका जो भव्य प्राणी आश्रय करते हैं उनके सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है।

परपदार्थ या परभावके आश्रय से विकल्पका प्रादुर्भाव—अब इसको विपरीत बात समझिये—जो पुरुष इस सहज चैतन्यस्वभाव आश्रय नहीं करता है तो किसका आश्रय कर रहा होगा ? आश्रय तो जरूर है, वहां या तो परपदार्थ का आश्रय है या परभावका आश्रय है। परपदार्थका आश्रय तो कहलाता है व्यवहारमे, परभावका आश्रय होता है निश्चयसे। यह निश्चय है अशुद्धनिश्चयनय। जो जीव किसी परपदार्थका आश्रय कर रहा याने मकान, धन धान्य, स्त्री-पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थका आश्रय कर रहा है उस पुरुषके सम्यक्त्वका आवि-र्भाव नहीं होता, किन्तु विकल्पका ही आविर्भाव होता है। यहां एक बात और समझनी है कि जब-जब विकल्पका आविर्भाव है तब तब सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका सम्बंध नहीं है। सम्य-क्त्वकी उत्पत्ति अखण्ड निर्विकल्प ज्ञानस्वभावकी अनुभूतिपूर्वक होती है। पश्चात् भले ही अनुभव न रहे और सम्यक्त्व बना रहे, ऐसा हो सकता है, लेकिन प्रथम ही प्रथम जब सम्य-क्त्वका आविर्भाव होता तो अखण्ड निर्विकल्प सहज ज्ञानस्वभाव, सहज चैतन्यस्वभावका आश्रय करता हुआ यह जीव निर्विकल्प होतेमे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति पाता है। किसी भी पर-पदार्थ का आश्रय किया जाय तो वहां विकल्प ही जगता है। जैसे लोग बाह्य पदार्थका ध्यान

रखकर जो कुछ वृत्ति करते हैं, विकल्पकी ही वृत्ति करते हैं—इससे यह बात शिक्षाकी मिलती है कि हम आपको अगर आत्माका हित चाहिए तो परपदार्थ और परभाव का आश्रय करना उचित नहीं है। यहा थोडी इतनी बात समझ लो कि भगवान वीतराग देव, परमात्मदेव यद्यपि ये परपदार्थ हैं, व्यक्ति दूसरा है, लेकिन वह तो स्वच्छ है । जैसा स्वभाव है वैसा ही विकास है, इसलिए परमात्मप्रभुके सहज विकास का जो उपयोग करते हैं, उनकी भक्ति करते हैं तो परपदार्थके नातेसे नहीं करते, किन्तु अपने ही सहजस्वभावका वह दर्पण है, इस नातेसे करते हैं । इसलिए भगवद्भक्तिमे यह बात न कहना कि यह नोकर्म है या यह परव्यक्ति होने से भक्ति हेय है । परव्यक्तिके नातेसे प्रभुताकी भक्ति नहीं की जाती, किन्तु जो उस स्वरूपको समझता है वही तो स्वरूपकी भक्ति करेगा । सो भले ही प्रभु दूसरा जीव है, फिर भी जैसे यहां लोग अपने मित्र, पुत्र रिश्तेदार का आश्रय करते हैं क्या समझकर कि यह मेरा रिश्तेदार है, यह मेरा पुत्र है, तो यहा कुछ परपदार्थ ही तो ध्यानमे लाए गए । इस तरह परपदार्थोंके ढगसे प्रभुका आश्रय नहीं किया जाता । प्रभुका आश्रय होता है तो अपने ही स्वरूपका दर्पण समझकर किया जाता है। तो जिसको आत्महित चाहिए उसका कर्तव्य है कि वह किसी पर-का या परभाव का आश्रय न करे, एक अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड सहज ज्ञानभाव चैतन्य-स्वभावका आश्रय करे।

स्वहितके अर्थीका तात्कालिक उद्यम—भैया ! अपने आप कभी अपनेमे निरखिये—मेरा हित किसी पर या परभावके आश्रय मे नहीं है। जगतमें मित्र परिवार रिश्तेदार लोकके वे कहलाते हैं जो किसी कषायभावमे सहयोग देते हैं। जो कषायसे निवृत्त होनेमे सहयोग पहुँचा सकता है वह अलौकिक आत्मा होता है। लौकिक जनो का प्रसंग तो एक मिथ्यात्व मोह कषायभावकी उत्पत्ति और वृद्धिमे ही सहयोग देता है, सो वह सब सम्बन्ध बरबादीका कारण है और मोह कषायभावसे हटने की प्रेरणा जिससे मिले वह पुरुष अलौकिक है। उनको ही साधु सत ज्ञानी शब्दसे पुकारा गया है । तो हमे आश्रय किसका करना ? निश्चयसे तो अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड एक सहज स्वभावका आश्रय करना है और व्यवहारमे इस चैतन्यस्वभावके अनुरूप जहां विकास हो चुका है या जो जो पुरुष इस विकासमें लग रहे हैं उन पुरुषो की भक्ति उपासना सत्सग करना है।

( ४ )

कृपालु अभूतार्थनय भूतार्थनयके निकट पहुचाकर अपनी बलि दे देता, कृपालु भूतार्थ-नय अखण्डस्वानुभवके निकठ पहुचाकर अपनी बलि दे देता, कृपालु स्वानुभव आनन्दधाममे

परमविश्राम देकर कृतार्थ कर देता।

स्वानुभवके लिये भूतार्थनयका साक्षात् व अभूतार्थनयका परम्परया सहयोग—देखिये अपने आपके कल्याणकी बात स्वानुभवसे प्रकट होती है। हमारा अन्तिम पौरुष स्वानुभव है। जहाँ स्वानुभव जगता है वहाँ संकट नही ठहरते। भव-भवके बाधे हुए कर्म निर्जीर्ण होते, मोक्षका मार्ग स्पष्ट इसके होता है। परखो—स्वानुभवका अर्थ क्या? निज सहज चैतन्य-स्वभावरूप स्वका अनुभव होना और बहुत सीधे सरल शब्दो मे यो समझ लीजिए कि जैसे हम नाना पदार्थोंका ज्ञान किया करते है, बाहरमे रहने वाले पदार्थो का खम्भा, दरी, चौकी, भींत आदिकका जो ज्ञान किया जाता है तो इसका ज्ञान न होकर, इसका ज्ञान न कर एक ज्ञानस्वभावका ही ज्ञान बना रहे, ऐसा ज्ञान अगर कुछ क्षण बना रहता है तो वही कहलाती हैं स्वानुभवकी दशा। जिस ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया हुआ है अर्थात् जो ज्ञानव्यापार निज सहज ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान कर रहा हैं वह स्थिति कहलाती है स्वानुभवकी स्थिति। अब आप समझिये कि ऐसी परम अमृतमय स्वानुभवकी स्थिति क्या विकल्प द्वारा बनेगी? विकल्प द्वारा तो न बनेगी। मगर स्वानुभवसे पहले क्या निर्विकल्प दशा रहती? दोनो बातें समझनी हैं। स्वानुभव विकल्प द्वारा नहीं होता और स्वानुभव विकल्पके बाद होता है। तो स्वानुभवमें पहिले निर्विकल्प दशा नही। सो इतना तो मानना ही होगा, फिर भी स्वानुभवसे पहले कोई विकल्प रहता तो है ही, इस बातको मना नहीं कर सकते हैं। अब उस विकल्पमें सोचना है कि वह विकल्प अगर विकल्प बढ़ाने वाला विकल्प है तो उसके बाद स्वानुभव नहीं होता और वह विकल्प विकल्पको समाप्त करने वाला विकल्प है तो उस विकल्पके बाद स्वानुभव होता है। ऐसा कौनसा विकल्प है जो विकल्पको समाप्त करनेकी पद्धति रखता है इस ही विकल्पको कहते हैं भूतार्थनय।

भूतार्थनय व स्वानुभवकी निकटता—इस प्रसगमे ये दो नय हैं—अभूतार्थनय और भूतार्थनय। भूतार्थनय भी विकल्परूप है और अभूतार्थनय भी विकल्परूप है, मगर भूतार्थनय तो विकल्प समाप्त हो इस पद्धतिसे विकल्प करता है, यह पद्धति अभूतार्थनयमे नही। अधिक से अधिक अभूतार्थनयका कला-कौशल है तो यह कि वह भूतार्थकी ओर पहुचा दे, इस तरह की पद्धति रहती है। तो भूतार्थनयका विषय है अखण्ड अवक्तव्य एक सहजभाव। देखिये भूतार्थ और स्वानुभव—इन दोनो का क्षेत्र निकट-निकट है, पर सीमा जरूर पडी है भीतर। जैसे कोई दो खेत हो, है वे पास पास, मगर वे दो खेत कब कहलाते? जब कही बीच में थोड़ी बहुत भी सीमा हो। तो भूतार्थनय विकल्प है, स्वानुभव अविकल्प स्थिति है। मगर भूतार्थ-नयके निकट है स्वानुभव। भूतार्थनयसे जाना गया एक अखण्ड निज सहज ज्ञानस्वभाव

जब तक इस एकके परखनेका विकल्प है तब तक तो है भूतार्थनय की स्थिति और जहाँ इस एकका भी विकल्प नहीं रहता है, जहाँ ज्ञानमे निज सहज ज्ञानभाव एकदम अवगाहित हो गया वहाँ है स्वानुभवकी स्थिति। यो समझिये कि जैसे किसी इष्ट क्षेत्रमे पानी भरना है तो उसके पास एक छोटी मेड़ लगा दी जाती है। मेड़पर वह पानी पूरा रुका हुआ है। वह पानी रुका तो है, पर उस इष्ट क्षेत्रके निकट। जैसे ही वह सीमा हटे, उन दो क्षेत्रोमे भेद डालने वाली सीमा जैसे ही समाप्त हुई कि वह सारा जल इष्ट क्षेत्र मे अवगाहित हो जाता है। ऐसे ही हमारा अभीष्ट है स्वानुभव। उस स्वानुभवमे यह सहज ज्ञानभाव अवगाहित हुआ है। तो उसके निकट अभी एक रूप विकल्पकी सीमामे भूतार्थनय के आश्रयमे वह सहजभाव छिपा हुआ है और भूतार्थनयसे इस सहजज्ञानभाव की परख है, ज्ञप्ति है, बस एक यह एकरूपताकी सीमा बनी है और जहाँ एकका भी विकल्प न रहा इस प्रकारसे ज्ञानमे सहज ज्ञानस्वभावका अवगाहन हुआ, बस वही है स्वानुभवकी स्थिति।

भूतार्थनयकी अनुपम कृपा—देखिये अब नयोकी कृपायें परखते जाइये। अभूतार्थनय भी कृपाशील है, भूतर्थनय भी कृपाशील है और स्वानुभव तो कृपाशील है ही। इस आत्मा का उद्धार उपयोग एक स्वानुभवसे होनेमे भूतार्थनयकी कृपा तो परखिये—इस भूतार्थनयकी कैसी अनुपम कृपा है कि इस भूतार्थनय अखण्ड स्वके अनुभवके निकट पहुचा दिया। और अखण्ड स्वके अनुभवके निकट पहुचाकर अपना विनाश कर लिया। कोई दूसरेका उपकार मरकर भी करे तो उसको लोग कहते हैं कि बडा निरपेक्ष उपकारी है। अपना भी विनाश कर लिया, पर किया दूसरे का उपकार। तो भूतार्थनय जिसकी दृष्टिमें जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये ९ तत्त्व भूतार्थनयसे जाने गए हुए हैं। तो ये सम्यक्त्वके कारण बताये गए हैं, स्वय सम्यक्तवरूप नहीं हैं। यद्यपि भूतार्थनय परिचय सम्यक्त्वके आविर्भाव के निकटकी अवस्था है और यह है भूतार्थनयकी स्थिति। तो भूतार्थनयकी अनुपम कृपा देखिये कि इस नयने इस उपासकको अखण्ड स्वके अनुभव के निकट पहुचाया और अपने आपका विनाश कर लिया। स्वानुभवके समय भूतार्थनयकी दृष्टि नहीं रहती। भूतार्थनयसे भी अतीत है स्वानुभव। देखो स्वानुभव तो अनुपम कृपाशील है ही। भूतार्थनय की भी कैसी विलक्षण कृपा है?

अभूतार्थनय की अनुपम कृपा—अब थोडा अभूतार्थनयकी कृपा भी परखिये। अभूतार्थनय असत्य नहीं कहलाता वह एक उद्दण्डता है कि किसी प्रकारका अभूतार्थनय असत्य हो तो सारे अभूतार्थको असत्य कह दे, यह एक अज्ञान की महिमा है। अभूतार्थनय तो ऐसा अनुपम कृपाशील है कि इसकी कृपा बिना तो यह भूतार्थमें नहीं पहुच सकता और भूतार्थमे

न पहुँच सके आत्मा तो स्वानुभवमें भी नहीं पहुँचा जा सकता। अभूतार्थनयका अर्थ क्या है? अखण्ड एक सहज स्वभावका परिचय करानेके लिये उससे भेदपूर्वक जो भी वर्णन किया जाता है वह अभूतार्थ है। जो स्वय निरपेक्ष न हो ऐसा अर्थ है अभूतार्थका। अभूतार्थ नयके बिना न कोई पढ़ सकता, न बांच सकता, न समझ सकता, न सुन सकता, कुछ भी बात नहीं चल सकती। अभूतार्थनय अर्थात् भेदप्रतिपादक, गुणप्रतिपादक, पर्यायप्रतिपादक, अभूतार्थनय, इन्होने ७ तत्त्व और ९ पदार्थोंका ज्ञान कराया।

अब इन तत्त्वोंका ज्ञान करके हम भूतार्थ पद्धतिका सहारा लेते है तो हम और आगे बढ़ते हैं। आपको अगर पहले दो तीन कक्षाओमे किसी पटवारीने पढ़ारा या छोटे मास्टरने पढ़ाया और आप आगे बढ़ बढ़कर कालेजसे एम. ए पास हो हुए तो क्या आपको इन सबके प्रति कहना चाहिए कि अरे स्कूल फिस्कूल सब बेकार। उनसे क्या होता है? सीधे कालेजमे जावो, बढ़िया तत्त्व तो यहाँ होता है ऐसा सबसे कहो तो वह सबका उपकार है या बरबाद करने वाला वचन है। ऐसे हो आप समझिये कि अगर हम अभूतार्थका आश्रय करके, उसका उपयोग करके ७ तत्त्व ९ पदार्थकी बात सीख गए और उसके बाद आगे बढ़ कर भूतार्थसे वहाँ एकत्व समझा गया तो क्या हम दुनिया भरको यह कहे कि अभूतार्थके निकट बिल्कुल मत जावो, वह भारी झूठ है, धोखा है, ऐसा कहनेमें हम क्या सबपर कृपा कर रहे हैं या सबका विघात कर रहे हैं? सब अपनी-अपनी पदवीके अनुसार बात है। सर्वप्रथम तो अभूतार्थनयसे हमको पथ मिलता है और उसकी कृपा देखिये कि जब यह अभूतार्थ भूतार्थ में पहुँचा देता है तो वह स्वय अपना विनाश कर लेता है। तो अभूतार्थसे भूतार्थमें आयें, भूतार्थ से स्वानुभवमे आयें, यह है पद्धति एक स्वानुभवके पानेकी।

( ५ )

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता कभी हो ही नहीं सकता अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके पर्यायरूप परिणमता नही, इस सम्यक् बोधमे अहंकार और कायरता दोनोंका परिहार है।

अहङ्कार व कायरताकी परेशानी दूर करनेके उपायकी जिज्ञासा—जीवोको अहकार और कायरता ये दो प्रकारके भाव सताते रहते हैं। अहंकारसे शान्ति नहीं और कायरतामे शान्ति नही। अहंकारी पुरुष यद्यपि कुछ देखनेमें कर्मठसा नजर आता है किन्तु वहाँ शान्ति का लेश नहीं, कायर पुरुष कायर ही दिख रहा है, सर्व अपराध, अन्याय, अत्याचारोको सह लेता है, किन्तु उसके अन्तरमें रोषकी अग्नि प्रज्वलित रहा करती है। तो संसारी जीवो को अहकार और कायरता-इन दो भावोंने सता रखा है। ये दो भाव कैसे मिटें? कौनसा बोध मिले कि अहंकार और कायरता दोनों भाव समाप्त हो जायें? जरा इसकी खोज तो

करो। भले ही कुछ उपाय समझमें आयेंगे—शरीरका बल बढ़ा लो, अपनी पार्टी बढ़ा लें, और-और प्रकारके साम, दाम, दड, भेद रच लें, कायरता मिट जायगी। भले ही ऐसा कोई प्रयोग करें, लेकिन इसमे कायरता मलिनता नष्टनहीं होती। और जिसे समझ रखा कि कायरता मिट गई, कुछ कुछ कर्मठ बन गया वहाँ वास्तवमे कुछ भी कर्मठता नहीं है, थोडी देरको एक काल्पनिक शूरता ला दी: लेकिन फिर वही कायरता आ जाती है।

जैसे घरमें रहने वाले लोग जब किसी खुशीका समाचार सुनते हैं, धन वैभव बढाने या कुटुम्ब परिवारमे कुछ तरक्की हो, कुछ भी बात सोचते हैं तो जरा वहा कुछ कर्मठसा और वीर धीरसा नजर आता है, लेकिन कुछ ही कालमें जब इष्टवियोग हुआ या अन्य कुछ प्रतिकूलतायें आयीं तो यह प्राणी कायर बन जाता है। फिर लौकिक उपायोमे कोई भी उपाय ऐसा नहीं है कि जो इस जीवकी कायरता मिटा सके और इसका अहकार बहुत कठिन है। जब कुछ पुरुष मिलकर किसीकी बहुत बड़ी तारीफ करने लगते हैं तो वह नम्र बन जाता और अहकार न हो, ऐसी वाणी बोलता, लेकिन क्या वहाँ यह बात सत्य है कि अहकार न रहा हो? वह एक परिस्थिति है। किसीको चाहिए तो छाछ और देवे कोई दूध तो वह तो बड़ी शान्ति, समता गम्भीरता सब कुछ दिखायगा और चाहता हो दूध और छाछ दे तो पता पड़ जायगा कि इसमे कितनी धीरता है, गम्भीरता है? तो लौकिक बाहरी वार्तासे कुछ निर्णय नहीं बन पाता, इसके लिए तो तात्विक बोध चाहिए तब अहकार और कायरता ये दोनों समाप्त हो सकते हैं।

परका अपनेमे अकर्तृत्व व खुदका परमे अकर्तृत्व सुविदित होना अहङ्कार व कायरताकी परेशानी मिटनेका उपाय—वह बोध क्या है जिसको पाकर अहङ्कार व कायरता मिट जाती है? कई प्रकारोमे बोध मिलेगा, पर एक यह प्रकारदेखिये जहाँ वस्तुवोका सही स्वरूप जाना कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत् है, किसी भी पदार्थकी सत्ता किसी अन्य पदार्थकी कृपापर नहीं हुई। जो है सो अपने आप है, और जो है सो अपनेमे उत्पाद व्यय कर रहा है। तो इनसे यह ही निष्कर्ष तो मिला कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं होता। इसके मायने यह है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यके गुणका उत्पाद नहीं करता। और स्पष्ट समझना चाहें तो समझिये कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको पर्यायरूपसे नहीं परिणमाता। जो परिणमेगा तो अपने स्वरूपसे परिणमेगा। जैसे कुम्हारने घड़ा बनाया, लोकव्यवहारमे ऐसा कहा जाता है वहा कुम्हारने अपने हाथका खूब व्यापार किया और उस व्यापारकी प्रेरणासे उस व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टी भी पसरी, बढ़ी, घडा बना।

देखो देखनेमें कैसी प्रेरणा लग रही है कि उस मिट्टीको कुम्हार दबा रहा है, घसीट

रहा है। जैमे हाथ चलाता वैसी मिट्टी बढ़ रही है। इसपर भी मिट्टी घड़ेरूप परिणमी तो क्या कुम्हारकी परिणति लेकर परिणमी ? मिट्टी तो अपनी परिणतिसे घड़ारूप परिणमी। भले ही निमित्त सग बिना ऐसा नहीं परिणम सका, कुछ भी परिस्थिति हो, फिर भी परिणमा तो वह खुद खुदमे ही। प्रत्येक द्रव्य अपने आपकी पर्याय पसे परिणमते हैं। कोई किसीका उत्पाद नहीं करता, कर्ता नहीं होता, अन्यकी पर्याय रूप से नहीं परिणमता, यह है एक बोध जिससे प्रेरणा क्या मिलती है कि कोई द्रव्य किसी दूसरेका कर्ता नही होता है। तो मै क्या किसी द्रव्यका कुछ कर दूँगा ? कुछ नही कर सकता। मैं अपनेमें अपना काम करता हूँ, किसी बाहरी पदार्थकी परिणतिसे नहीं करता हूँ। देखो निमित्तनैमित्तिक योग है, फिर भी देखते हैं एक द्रव्यकी ओर नजर देकर तो जब कोई वस्तु किसी दूसरेका परिणमन करता नहीं तब यह बोध जग जानेपर अहकार आयगा ही कैसे ?

अहकारकी निष्पत्ति और विपत्ति— अहंकार आता है तब, जब यह कल्पना रहा करती है कि मै इस पदार्थको यो करता हूँ, यों कर दूँगा, सो जब परपदार्थके विषयमे करनेकी दम भरता है, यह जीव विकल्प करता है तो इसको अहंकार होता है—मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा कर रहा हूँ, मै ऐसा कर दूँगा, इस नरकके विकल्पमे इस जीवके अहकार भाव जगता है और जैसे-जैसे अहकार होता है वैसे-वैसे अहकारके फलमे क्लेश ही मिलता है, शान्ति नही मिलती, क्योकि अहकार विकारी भाव है, विषम भाव है। विकारी भावमें निराकुलता कहाँसे आये ? समस्त विकार आकुलतारूप ही होते हैं। इतना भी तो अन्तर नहीं पड़ता कि राग करनेमे दुःख होता। यो कहो कि राग ही खुद दुःख है, इतना अन्तर नहीं कि राग करो तो उससे दु ख होता। अरे यह राग हो दुःखरूपताको लिए हुए है। पहले समयमें राग करें, अगले क्षणमें दुःख हो ऐसा नहीं होता। जब ही अतरगमे राग भाव आता है उसी समय इस जीवको क्लेश होता रहता है। जब अहङ्कार भाव आया तो इस जीवको कष्ट ही होता है। अपने ज्ञानस्वभावसे हट गया, किन्हीं बाह्य असार विकल्पो मे लग गया और उसका अहकार बन गया। बड़ो-बड़ोका भी अहंकार न टिक सका। रावण जैसे अहंकारी भी इस धरती पर न टिक सके, बड़े-बडे धीर वीर पुरुषोको भी आखिर इस भवसे जाना पड़ा। तो हम आप किस बातका अहकार करते हैं ?

देखिये शिक्षा लेनी है तो जहाँ चाहे ले सकते हैं। सड़कसे जब गुजरते हैं और बहुतसे सूअर मिलते हैं, किसी का पेट मलसे भिड़ा, किसीका मुख, किसीके कान, तो उन्हें देखकर एक अहकार तो मिट जाता है, किस बातका अहकार कि ऐसी पर्याय यदि मिल गई तो फिर क्या हाल होगा ? आज हम आप मनुष्य हैं तो जैसा चाहे विकल्प बनाते हैं।

न होते मनुष्य, ऐसी स्थितियोमें होते तो वहाँ अहंकारकी क्या बात थी ? जगतके जीवोंकी दशाओंका परिचय मिले तो उससे बहुत शिक्षा मिलती है।

चारो अनुयोगोसे आत्महितकी शिक्षाके प्रसगमे प्रथमानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—आचार्यों सतोने जो चार अनुपयोगोमें ग्रन्थोका निर्माण किया तो यो ही फोकट बात न समझिये। उनसे बड़ा बल है, कहीं ऐसा एक एकान्त न बनायें कि कोई एक यही अनुयोग या द्रव्यानुयोग, बस यही-यही देखो, यही पढो, यही सुनो। अरे उसके शब्द रट गए तो कहो ठठेरेके कबूतर जैसे बन गये। उसके शब्दोसे भीतरके परिवर्तन नहीं हो पाये, कषाय जैसीकी तैसी जग रही और कहो कषाय दबी रहती है तो जब कषाय उगलती है तो तेज उगलती है। तो एक पक्ष ही तो मत पकडो। अरे सभी अनुयोगोका आदर करे। सभी प्रथमानुयोगके ग्रन्थ पढ़नेसे, चरित्र पढ़नेसे एक उत्साह जगता है। हम आप लोग धर्मपालनके प्रसगमे उत्साह क्यो नहीं कर रहेकि हम चारो प्रकारके अनुपयोगोंका उपयोग नहीं करते। जब कोई चरित्र पढते मान लो श्रीरामका चरित्र पढ़ते हैं और उनकी निरखते हैं, अन्तमे सब कोई कैसे-कैसे अलग हुए, कैसे निर्वाण पाया, तो वहाँ अपनी बुद्धि ठिकाने आती है कि अरे हम उद्दण्डता न करें, अन्याय न करें, अपने आत्माकी सावधानरूप रखें, ऐसी एक शिक्षा मिलती है। अरे इस जीवनमे न मिला लाखोका धन तो उससे इस जीवका बिगाड क्या ? थोड़े ही मे गुजारा कर लेना है। जो गृहस्थ धर्मका पालन करता है वह बड़ी शान्ति समृद्धिमे बना हुआ है।

करणानुयोगके अध्ययनकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—करणानुयोगकी जब अध्ययन करते हैं तो करणानुयोगीकी बहुत बड़ी विशेषता है। प्रभाव डालनेके लिए याने दुनियाका कितना बड़ा क्षेत्र है, लोक कितना बड़ा है यहाँ सर्वत्र उत्पन्न हुए, यह कितनासा प्रेम क्षेत्र हैं, यह किसने सिखाया ? करणानुयोगने। काल अनादि अनन्त है और कैसे-कैसे कालकी रचनायें बनती हैं, इतना काल मोह रागमे गंवाया, यह किसने सिखाया ? करणानुयोगने। जीवकी दशायें कैसी-कैसी विचित्र होती हैं, एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक नरकादिक गतियोमे कैसे-कैसे जीव होते हैं, यह बात किसने सिखायी ? करणानुयोगने। अब जरा उनका प्रभाव देखिये —जब ज्ञान आता है कि यह सारा लोक क्षेत्र बहुत बड़ा है। जैसे अभी आजके विज्ञानसे भी समझिये तो कहाँ अमेरिका, कहाँ रूस, कहा क्या, और कितना बड़ा हिन्दुस्तान और आगमसे समझें तो ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे आजकी यह परिचित दुनिया लोकके आगे समुद्रके बिन्दुके बराबर है। इतने सारे लोकमे हम कहाँ-कहाँ नहीं पैदा हुए और कहाँ कहाँ नहीं पैदा हो सकते हैं ! एक इस थोड़ेसे क्षेत्रका ही मोह करनेसे इस जीवको क्या मिलता है ? जिस जगह पैदा हुए कुछ थोडीसी जगह, जिसके अदरमे हुए कुछ धन-सम्पदाका

क्षेत्र मिले तो उससे क्या पूरा पडता है ? यह तो एक पूर्व पुण्यकी परिस्थिति है जो प्राप्त हुई है। इसका कोई भरोसा है क्या कि यह सदा साथ रहेगा ?

लोकका परिज्ञान करनेसे वैराग्यमें, ज्ञानमें कितनी वृद्धि होती है ? अच्छा कालका आप परिचय बनाओ। कितना बड़ा काल है ? अनादि अनन्त, याने बड़ा भी न कहो, बड़ेकी भी कुछ सीमा होती है कि इतना बड़ा । मगर यह तो अनन्त है, अनन्तको हम बड़ा नहीं कह सकते। जिसकी सीमा नही, जिसका अन्त नहीं वह तो अनन्त है । तो अनादिकालसे कितना समय हमने गुजार डाला और आगे हमारा कितना समय गुजरेगा ? इन सारे समयोके बीच अगर ५०–६० वर्षकी यह जिन्दगी पायी है तो यह तो समुद्रके बिन्दुके बराबर भी नही बैठता। इतनेसे समयके लिए नाना विकल्प कषायें मचाकर अपने आजके भवको बरबाद कर देना, निष्फल गंवा देना, यह तो उचित नही है । कालका जब परिचय होता है तो इस जीव को बहुत शिक्षा प्राप्त होती है। जीवोकी दशाओका परिचय देखो। जीवस्थान मार्गणा आदिक विधियोके अनुसार एकमें दूसरेको घटाकर इस जीवकी दशाओंका परिचय पाते हैं। कैसी-कैसी जीव दशायें हैं ? आज हम मनुष्य हैं, कभी पेड़-पौधे भी थे, निगोद भी थे । तो यह बात निश्चित है कि हम आज मनुष्य न होते, पेड़-पौधा होते, कीड़ा-मकोड़ा होते तो आज ये कष्ट काहेको भोगने पड़ते ? वहाँ तो उन तुच्छ भवो जैसे कष्ट भोगते। यहाँ हैं तो यहाँ मनुष्यभवमें नाना विकल्प बना-बनाकर कष्ट भोगे जा रहे हैं तो जीवकी दशाओं का परिचय होनेसे ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि होती है ।

चरणानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—अच्छा चरणानुयोगकी बात देखो—वह सबक सिखा रहा है कि हे भव्य प्राणी, जो तेरेमें विकार व्यक्त होते हैं, जिन विकारोंमें तू झुंझला जाता है, संतप्त हो जाता है । जानता है ना कि ये व्यक्त विकार बनते किस तरह है ? जगतके इन दृश्यमान पदार्थोंमें उपयोग जोड़ते हैं तो ये विकार प्रकट होते हैं। तो तू इनमें उपयोग मत लगा। यही तो चरणानुयोग की शिक्षा है कि तू उपचरित निमित्तमें अपना उपयोग मत जोड। उपयोग न जुड़े इन बहिरग कारणोमें, इसके लिए त्यागकी विधि बतायी गई हैं। यद्यपि किसी बाह्य वस्तुका त्याग करनेपर भी किसीके उसका विकल्प रह सकता है, मगर गधाको मिश्री मीठी नहीं लगती तो इसके मायने यह तो नही कि मिश्री मीठी ही नहीं होती। यदि किसी अज्ञानी को त्यागकी बात नही जचती है तो इसका अर्थ यह न होगा कि त्याग निष्फल होता है और त्यागका कोई अर्थ नहीं है । पूजामें पढ़ते ही हैं कि "जो ससार विषे सुख होता तीर्थङ्कर क्यो त्यागे ?" सयमकी आराधनाकी तीर्थङ्करोने, इन बाह्य वस्तुओ का त्याग किया, तो विधि तो यही है कि बाहरी आश्रयभूत पदार्थोका त्याग करें, कुछ न कुछ लाभ है ही। सम्यग्ज्ञान सहित त्याग है तो मोक्षमार्गका लाभ है। सम्यक्त्वरहित त्याग है तो

तो भी सद्गतिका तो लाभ है । तो चरणानुयोग यहाँ सिखाता है कि तुम्हारा व्यक्त विकार इन बाहरी पदार्थोंके आश्रयसे होता है, इसमे उपयोग जोडनेसे होता है तो तुम इनमे उपयोग मत जोड़ो और सामने रहे जाय और उपयोग न जोड़ें, यह कठिनाई लगती है ना, तो हम उनका त्याग करें ।

द्रव्यानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन— द्रव्यानुयोगके दो विषय हैं—अध्यात्म और न्याय । न्याय भी द्रव्यानुयोगकी बात कहता है, न्यायसे श्रद्धा पुष्ट होती है । जहाँ युक्तियोंसे वस्तुका स्वरूप समझा वहाँ उसकी समझ बडी दृढ हो जाती है । केवल आगमके आधारसे वस्तुस्वरूपको माना जाय तो वहाँ पुष्टता नहीं जचती । यद्यपि आगममे शङ्का न करनी चाहिए । पर यो ही ऊपरी वचनमात्र श्रद्धा भी न करनी चाहिए, यह बात उसके बनती । कि जिसने प्रयोजनभूत तत्त्वोको अनुभवसे परख लिया कि यह वास्तविक तत्त्व है, सही स्वरूपमे है, उस ही को सर्व आगमके प्रति आस्था होती है, फिर भी अगर युक्तिबलसे वस्तुका स्वरूप समझ लिया जाय तो उसकी श्रद्धा और दृढ हो जाती है । तो द्रव्यानुयोगका भेद जो दार्शनिक शास्त्र है उसका परिचय इस जीवकी श्रद्धाकी दृढ़ताके लिए है और अध्यात्मशास्त्रसे अपने आपके उपयोग द्वारा अपने आपमे परीक्षा करे, परख बनावे । वह तो बहुत ही एक पक्का निर्णय देता कि वस्तुस्वरूप ऐसा ही है । देखो सुनी बात सही होती कि झूठ ? सही कम होती झूठ ज्यादह होती और सुनी बातसे देखी हुई बात सच होती कि नहीं । सच होती, मगर कभी कभी देखी हुई बात भी झूठ होती है । किन्तु अनुभवमे आयी हुई बात सही है, उसे कोई नहीं डिगा सकता ।

अनुभूत विषयमे श्रुत और दृष्टिसे भी अधिक पुष्टता— जैसे सुनी हुई बात तो झूठ होती है, यह सबकी समझमे है । बात कुछ हो, सुनाई कुछ गई, उसने दूसरेको सुनाया तो कुछ और बढ़ाकर सुनाया, उसने सुनाया तो और बढ़ाकर सुनाया, ऐसे ही अलग-अलग कानोंमें बात गई तो वह झूठ झूठ बढती चली जाती है । सुनी हुई बातका कोई विश्वास भी नहीं मानता । कहते हैं ना अरे तुम्हारी सुनी हुई बात है कि देखी हुई बात है ? तब वह कहता है कि भाई देखी हुई तो नहीं है, सुनी जरूर है । तो उसे सुनकर ही वह अप्रमाण बता देता है । अच्छा यह बताओ— देखी हुई बात क्या सभी सच होती हैं या झूठ भी निकलती हैं ।

जरा एक दो कथानकोसे देखो । देखी हुई बात कैसे झूठ ? कोई पुरुष अपना एक तीन वर्षका बालक छोड़कर बाहर धन कमानेके लिए चला गया । और १३—१४ साल बादमें आया और आकर घरमें घुसा और देखा तो वह माँ तो अपने बेटेके साथ सो रही थी और वह पुरुष यह समझ रहा था कि यह तो किसी परपुरुषके साथ सो रही है । देखनेमे

आया ऐसा, मगर वहाँ देखो विकारका कोई लेश नही उस माँ के और सुनो गुजरात प्रान्तका एक क़िस्सा है। एक राजाने किसी गरीबका उपकार किया तो गरीब तो बड़ा उपकार मानते है, वे घरके सारे उसका बड़ा उपकार मानते । अब राजाके पापका उदय आया, सो उसका राज्य छिन गया, तो गरीब बनकर वह इसी धुनमे घूम रहा था कि मै कैसे अपना राज्य वापिस लूं ? तो उसने एक सेना जोड़ी, कुछ बल लगाया, कुछ लड़ाई ठानी, लेकिन वह विजय न पा सका। और जाड़ेके दिन होनेसे उसको ठंड लग गई। ठडसे त्रस्त हुआ राजा जैसे मानो निमोनिया हो गया, बहुत परेशान हुआ, तो उस गरीबके घरके पाससे गुजरा। उस समय पुरुष तो न था पर उसकी स्त्री घरमें थी। तो उस गरीब स्त्रीके पास कोई विशेष साधन तो था नही ठडसे बचानेका सो उस गरीब् स्त्रीने कहा कि यहाँ ठडसे बचानेका और कोई उपाय तो है नहीं, पर हाँ हमारे शरीरकी गर्मी तुममे पहुँच जाय तो इस तरह भी तुम्हारी सर्दीका रोग दूर किया जा सकता है। तो उस समय बीचमें तलवार लगाकर वह स्त्री और राजा दोनो एक साथ सो गए। अब उस स्त्रीका पुरुष आता है और देखता है तो उसको देखकर उसे बड़ी शङ्का हो जाती है। उसे देखी हुई बात सच तो लग रही है, लेकिन थोड़ी ही देरमे उसने परखा कि यहाँ तो विकारका रंच भी काम नही। यह बेचारा तो मर ही रहा है और आड़मे तलवार लगा ली। तो ऐसी कितनी ही बातें देखनेको मिलेंगी जो दिखती कुछ है और वहाँ बात कुछ है। अच्छा तो सुनी बात भी झूठ हो सकती, देखी बात भी झूठ हो सकती, पर अनुभवमें आयी हुई बातको देखो—कोई एक पुरुषके दो स्त्रियाँ थीं, छोटी स्त्रीके तो बालक था और बड़ीके बालक न था तो उसे ईर्ष्या हुई और अदालत कर दी कि यह बच्चा तो मेरा है। अदालतमें युक्तिसे भी उस बड़ी स्त्रीने बताया कि देखो पतिका जो धन है उसमें स्त्रीका भी हक होता ना ? और सभी लोग कहते है कि यह बालक इस पतिका है, तो जो पतिका धन है उसमें स्त्रीका भी हक है। यह मेरा बालक है। तो राजाने उसके न्यायकी तारीख दे दी। इतनेमे ही उसने उसका न्याय सोच लिया। और पहलेसे ही सिपाहियोको समझा दिया। अब वे दोनों स्त्रियाँ आयी, लड़का भी साथ था, तो बड़ी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है और छोटी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है। तो वहाँ राजाने यह निर्णय दिया कि देखो लड़का पतिका है, पतिके धनपर स्त्रीका बराबर हक होता है, इस लड़केके दो टुकड़े बराबर बराबर कर दो और एक एक टुकड़ा दोनो स्त्रियोंको दे दो। तो सिपाही लोग नंगी तलवार लेकर उस लडके के दो टुकड़े करने के लिए तैयार हुए कि छोटी स्त्री बोल उठी—महाराज यह मेरा लड़का नही है, यह इसीका है, इसीको दे दो और उधर बड़ी स्त्री खुश हो रही थी—अच्छा न्याय हो रहा। तो अनुभवने बता दिया कि

जो स्त्री मना कर रही उसका है यह बालक, बड़ी स्त्रीका नहीं है । तो अनुयोगोंकी चर्चावोमे हम सर्वत्र लाभ पाते हैं । हमे आर्षपर, आगमपर आस्था होनी चाहिए और सब तरहसे हम अभ्यास बनायें तो हम अपने ज्ञान और वैराग्यका संतुलन ठीक रख सकते हैं ।

वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयमे अहकार व कायरता दोनोका विनाश— **यहाँ चर्चा चल रही है कि जगतके प्राणी अहकार और कायरता —इन दोनो बातोसे परेशान हैं । कोई उपाय है क्या ऐसा कि ये दोनो बातें समाप्त हो जायें । उस उपायमे बताया जा रहा है कि हम वस्तु के सही स्वरूपको जान लें, अहकार खतम हो जायगा । जितने लोग दिख रहे हैं ये कोई वास्तविक चीज हैं क्या ? जो दिखनेमे आ रहे वे केवल जीव नहीं हैं, वे न केवल पुद्गल हैं, न न केवल जीव हैं, न केवल कर्म हैं, किन्तु जीव, कर्म और शरीर—इन तीनोका यह पिंडोला है । जैसे कि बिस्तरमे दरी, गदेला, रजाई रहती हैं, ऐसे ही ये सब भोले-भाले मनुष्य भी बिस्तर बने बैठे हुए हैं । इनमे कोई सही पदार्थ है क्या कि ये जीव हो या शरीर हो या कर्म । इन तीनका पिण्डोला है, ये मायारूप हैं । इनको निरखकर या ऐसा अपना स्वरूप समझकर कि मै यह हूँ, अहंकार बन जाता है ।**

मै धनी हूँ, गुणी हूँ, ज्ञानी हूँ, साधु हूँ, अमुक पक्षका हूं, अमुक सम्प्रदायका हूं, ऐसी भीतरमे वासना जगी तो अहंकार हो गया । और यह समझमे आया कि यह तो मै कुछ नहीं हूँ । शरीरमे शरीर है, कर्ममे कर्म है, मुझमे मै हूँ । ऐसा निराला चैतन्यस्वरूप मात्र, इसमे दूसरा कोई वास्ता ही नहीं रखा, और यह मै चैतन्यस्वरूप मात्र किसी परसे कुछ वास्ता ही नहीं रख सकता । तो मै बाहरमे कुछ कर ही नही सकता, यह ज्ञान जगता है तो उसके अहकार न बन सकेगा । तो जैसे अहकार मिटानेका उपाय है वस्तुस्वातन्त्र्यका परिचय, ऐसे ही कायरता मिटानेका उपाय भी है वस्तुस्वातन्त्र्यका परिचय । भले ही निमित्तसन्निधानमे विकार परिणाम होते, मगर इन विकारपरिणमनोरूप परिणमने वाला तो यह मै हू, दूसरा नहीं है । और सामान्यतया जब यह बोध हो जाता है कि मै किसीका कुछ नहीं कर सकता तो दूसरे भी मेरेमे कुछ नही कर पाते । बात तो दोनो ही जगह है । अन्य-अन्य पदार्थ अपनेमें अपना परिणमन करते हैं । जब कोई दूसरा मेरे मे कुछ कर ही नहीं पाता तो अब यह कायरता क्यो जगेगी, कायरता उस परिचयमें होती है जहाँ यह बात समझ रहा हो कोई कि यह मेरा बिगाड कर देगा, यह मेरेको विपत्तिमे डाल देगा, किन्तु ऐसा है ही नहीं । कोई दूसरा मुझे विपत्तिमे नहीं डाल देता, मै ही खुद क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिके परिणामोमे रहता हूँ, इसकी आस्था रखता हूँ, खुद अपने आप दुःखी होता रहता हूँ, मेरेको कोई दूसरा दुःखी नहीं कर सकता । तो

जब दूसरेके द्वारा मेरा कुछ नहीं किया जा सकता है, यह बोध होता है, तो वहाँ कायरता नहीं टिक सकती।

जगतके सब जीव इन दो अवगुणोसे परेशान हैं—अहंकार भाव होना और कायरताका भाव होना। जो वस्तुस्वरूपको सही समझता है, क्षमा वही पुरुष कर सकता है। कायर पुरुष क्षमा भी नहीं कर सकता। अहंकारी पुरुषके तो मोहविष चढ़ा हुआ है ना। उसको तो यह दम है कि मै इस सारे विश्वका तोड़-मरोड़ कर सकता हू। मेरेमे ऐसी माया है कि मै सारे विश्वको तोड़-मरोड़ कर देता हूं। जो इतना अहकार रखता हो वह दूसरे जीवोंके प्रति क्षमा का भाव कहाँसे ला सकता है? इसी तरहसे जो कायर बन गया हो——मै क्या कर सकता हू दूसरे करते हैं सब कुछ, मेरा भी वही करता है सब कुछ, मै किसी लायक नहीं हूं, ऐसा जिसने बोध बनाया हो उसकी कायरता कैसे मिट सकती है? तो देखो यह परिचय कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कुछ करता नही है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुणमें उत्पाद कर नहीं सकता, और कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यको पर्यायरूप परिणम नही सकता। ऐसा जिसको परिचय हुआ है वही पुरुष अहकार और कायरता——इन दोनों अवगुणोंको दूर कर सकता है।

( ६ )

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भोक्ता कभी हो ही नहीं सकता अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके पर्यायको कभी भी अनुभवता नही, इस सम्यक् बोधमें मिथ्या संतोष न रहकर सत्य संतोष होता है।

परका मुझमे अभोक्तृत्व व खुदका परमे अभोक्तृत्वके परिचयसे सत्य सतोषका लाभ—प्रत्येक जीव चाहता है कि मेरेको वास्तविक सन्तोष मिले। जितना भी ये जीव परिश्रम करते हैं सतोषके लिए करते हैं। संतोषमें इसके शान्तिकी समझ है। सो तो ठीक है, संतोष होना चाहिए, पर वास्तविक संतोष है क्या? इसपर तो विचार करो। संतोष आता कहाँसे? इस पर भी तो कुछ ध्यान दो। क्या किसी बाहरी पदार्थसे मुझमें सतोष आ सकता है? किसी भी अन्य पदार्थसे मेरेमें न द्रव्य, न गुण, न पर्याय, न किसी प्रकारका भाव प्रभाव कुछ भी नहीं आता है। मै ही स्वय इन बाहरी बातोंका आश्रय करके इनपर दृष्टि देकर अपने आपमें कल्पनायें मचाता हू और कल्पनामें सतोष सुख दु ख पाया करता हू। तो इतना तो निश्चित है कि जो मेरेमें आता है वह मेरेसे ही आता है, किसी बाह्य वस्तुसे नहीं आता। और यह भी निश्चित है कि मै ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमय हूँ, ज्ञानकी वृत्ति जगे यह ही मेरा काम है, ज्ञानकी वृत्ति जगे यह ही मेरा अनुभव है। सतोषका सम्बन्ध अनुभवसे है। जिस प्रकारका अनुभव बनेगा उसके अनुरूप संतोष और असंतोष प्रकट होगा। शान्ति किसी बाहरी वस्तुसे नहीं

संतोष भी बाहरी वस्तुसे नहीं, किन्तु अपने आपके अनुभवके आधारपर संतोष और असंतोष है। ज्ञान सच्चा बनायें, मै क्या अनुभव कर सकता हूं ? मै किसी बाहरी पदार्थका अनुभव नहीं कर सकता ।

बाह्य तो बाह्य ही है, पर ही है, उनसे मेरा सबंध नहीं, फिर अनुभव जैसी घनिष्टता उसमें आ ही कैसे सकती है ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भोक्ता नहीं, मै भी किसी अन्य पदार्थका भोक्ता नही, दूसरा भी कोई मेरा भोक्ता नही । मेरा अनुभव मेरेसे मेरी पर्यायमे पर्यायका होता है । मै अन्य किसीकी पर्यायको नही अनुभव सकता । मैं अपनी ही पर्यायको अनुभव सकता हूँ । एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यकी पर्यायका भवन ही नहीं है फिर अनुभवन कैसे हो ? भवन और अनुभवन कोई अलग बात नहीं हैं । जो पर्यायका होना है उसे कहते हैं भवन और उस पर्यायके अनुसार ही सुख-दुःख आदिक कुछ भी होता है उसे कहते हैं अनुभवन । तो मैं किसी द्रव्यमे अपना भवन नहीं कर सकता, दूसरे द्रव्यका मुझमे कुछ होता नहीं । इसलिए कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको भोग नहीं सकता, जब ऐसा बोध जगता है तो इस बोधमे जीवको सत्य संतोष मिलता है ।

*मात्र खुदके ज्ञानस्वरूपको भोगनेकी श्रद्धामे सत्य संतोषके मार्गकी उपलब्धि*— मैं किसी दूसरे पदार्थको भोग ही नहीं सकता । मै ज्ञानको भोगता, अज्ञानको भोगता । जब अज्ञानभाव जगता तब विषयकषायके परिणाम बनते हैं, तो यह जीव उन विषयकषायके अनुकूल अपनेमे सुख-दुःख प्राप्त करता है । और सुखका भोगना, यह भी मेरे लिए सत्य संतोषकी बात नहीं । विषयोका भोगना, इसमे तो संतोष नजर आता ही नहीं, सुख-दुःख दोनोंसे परे केवल अपने सहज आनन्दका अनुभव जगे तो इस अनुभवमें संतोष प्राप्त होता है । लोकव्यवहारमें लोग सोचते हैं कि मैंने भोजन भोगा, कपड़े भोगे, और और विषय भोगे, लेकिन जो विषयभूत पदार्थ हैं जब उनका मेरेमे भवन ही नहीं, परिणमन ही नहीं तो मैं उनको भोग कैसे सकता ? हाँ उनका आश्रय पाकर, विषय बनाकर अपनी कषायके अनुकूल जो कल्पना जगती है मै उस कल्पनाको भोगता हूं । तो जब मै किसी बाह्य पदार्थको भोगता ही नहीं, मात्र कल्पनाओको ही भोग सकता हूँ तो अपनी कल्पना ऐसी बनायें ना, विचार ऐसा बनायें कि जो अपने सहजस्वभावके दर्शनमें बाधा न दे । यही तो एक जीवपर विडम्बना है कि ऐसी खोटी कल्पना विचार बन जाता है कि जिन विचारोमें भटककर यह जीव अपने स्वभावके दर्शनका स्वयं बाधक बन जाता है । स्वभावका दर्शन यही है एक अलौकिक लाभ । अपने-अपने स्वभावका दर्शन नहीं होता तब जीवमे व्याकुलता रहती है और अनेक पदार्थोंका विषय बना-बनाकर यह अपनेमे संतोष बनाये रहता है । तो चाहिए जीवस्वभावका दर्शन । यह बात यो साध्य है कि जब हम यह निश्चय कर लें कि मैं किसी पदार्थको नही भोगता, केवल अपने

आत्माके स्वरूपको ही भोगता रहता हूं तो इस जीवको उसमें स्वभावदर्शनकी रुचि उत्पन्न होती है, और जहाँ स्वभावका दर्शन है वहाँ इस जीवको सत्य सतोष प्राप्त हो जाता है।

( ७ )

प्रत्येक द्रव्य अपने आपकी परिणतिसे अपने आपमें अपने आपका कर्ता है अर्थात् स्वय ही स्वयंमें स्वयंकी परिणतिसे स्वयके पर्यायरूप परिणता है, इस सम्यक् बोधमें अनधिकृत्य अधिकारकी दुर्वासना समाप्त हो जाती है।

अनधिकृत्य अधिकार जमानेके आशयकी विडम्बना—इस जीवको एक संकट और लगा हुआ है कि जिसमें अपना अधिकार नही है उसमे अपना अधिकार समझता है। यह एक बहुत बड़ी विडम्बनाका कारण बन गया। किसी भी बाहरी पदार्थमें मै कुछ परिणमन कर दूं, इस सम्बन्ध में मेरा क्या अधिकार है ? सर्व पदार्थ स्वतत्र सत् है, अपना-अपना उत्पाद व्यय लिए हुए हैं। सबके अपने-अपने भाव हैं, सबका अपना-अपना परिणमन है, मेरा तो किसी बालकपर भी अधिकार नही, मै जैसा चाहूं वैसा चले ऐसा कभी हो नहीं सकता, क्योकि वह स्वतन्त्र पदार्थ है। यह तो परस्परका मन मिलेका सौदा है। पुत्रने समझा कि मै आज्ञा मानता रहूं पिताकी तो मेरेको बड़ा सुख मिलेगा, आराम मिलेगा, इसलिए पुत्र पिताकी कोई बात मान लेता है। पिता सोचता है कि यह पुत्र ठीक रहे, चले, इसको देखकर मेरेको बड़ा सुख मिलेगा और यह मुझे कभी सुख-शान्ति देगा, कुछ भी कल्पनायें बनाता है, उन कल्पनाओंके आधारपर पुत्रसे प्रीति करता है और कभी-कभी परस्परकी स्वार्थपूर्तियों के प्रसंगमें कोई समझ बैठता है कि मेरा तो इसपर अधिकार है और अधिकार वास्तवमें है जरा भी नहीं, और मानता है अधिकार। बस सबसे बड़ी विडम्बनाका मूल कारण यह हुआ, तो यह अनधिकृत पदार्थमें अधिकार माननेकी खोटी वासना जब तक समाप्त नहीं होती तब तक यह जीव समता शान्तिके मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। तो चाहिए यह कि यह बात समझमें आ जाय कि मेरा किसी भी परपदार्थमें कुछ भी परिणमन कर देनेका अधिकार नहीं है।

अनधिकृत्य परपरिणमनपर निजका अनधिकार समझनेपर अनेक सकटोसे छुटकारा—किसी भी पदार्थका परिणमन करनेका मेरा अधिकार क्यों नहीं है, यों कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपका कर्ता है, मै किसीको करता नहीं हूँ। भले हो कुछ योग मिल जाय ऐसा पुण्य योग कहो, किसी भी प्रसगकी बात समझ लीजिए। मैने कहा और आपने माना, एक योग जुड़ गया, तो मैंने कहा इसलिए आपने माना, यह कभी सम्भव नहीं। आप मानते हैं अपने आपमे अपना विचार बनाकर अपनी सुख साताके लिए और मै करता हूं तो अपनी कल्पनाके अनुकूल

अपनेमें अपनी कुछ बात समझ कर करता हूँ। एकका दूसरेके प्रति कुछ भी कर्तृत्वका सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक पदार्थ स्वय ही अपने आप अपनेमें अपना परिणाम करता है।

देखो विषय पर्यायोमे निमित्तनैमित्तिक भावको मेटा नहीं जा सकता, लेकिन निमित्त-नैमित्तिक भाव होनेपर भी पदार्थ तो अपनेमें अपना ही परिणाम करता है। इससे और अधिक विकट उदाहरण क्या पायेंगे कि तबला बजाने वाला तबलेपर कितनी जल्दी अगुली मटकाता है और उसके अनुकूल उसमे से आवाज निकलती है, लेकिन अगुलियाँ मटक गईं, अंगुलियोका सम्पर्क हो गया तो बात तो है वह अलग और उसमे जो आवाज निकलती है वह है एक अलग चीज। तो जो उस तबलेमे आवाज निकली सो वह भाषावर्गणाकी स्वतत्र पर्याय है। यह पर्याय बन रही है तो अपनी परिणतिको लिए। उस शिल्पकी प्रतीक्षा नही करता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और उस शिल्पीके हाथ ठोके बिना आवाज भी नहीं निकलती, इतना होने पर भी आवाज अपनेमे स्वतत्र है। आवाजकी परिणति होनेके लिए किसी दूसरे द्रव्यकी अपेक्षा नहीं बन रही। याने दो द्रव्योंकी मिलकर एक परिणति नहीं होती। वहाँ केवल एक स्कंध ही अपनी परिणतिको बनाता रहता है।

तो आप देखो परमार्थ दृष्टिसे तो किसीका किसी दूसरे पर कुछ अधिकार भी है क्या? कोई द्रव्य किसीको करता नहीं। कोई द्रव्य किसीमें गुणका उत्पाद करता नही। स्वय ही स्वयकी पर्यायरूप परिणमता है। ऐसी सर्वपदार्थोकी बात अनादिसे अनन्तकाल तक बनी हुई है। जब ऐसा यह सारा जगत है, किसीका किसी से मेल नहीं तब ऐसी परिस्थितिमे हम अनधिकृत्यपर अधिकार जमायें यह अज्ञानता है। और भीतरमे ऐसी हठ होनेका फल व्याकुलता है। इसलिए सर्व जगतके पदार्थोका सही स्वरूप जानें, सर्वकी स्वतत्रताको परखें और अपनी स्वतंत्रताकी आस्था बनाकर अपने आप अपनेको निरखकर अपना ही विशुद्ध परिणमन बनाते हुए अपनेको सकटोसे मुक्त करें।

( ८ )

प्रत्येक द्रव्य अपने आपके अनुभवनसे अपने आपमें अपने आपका भोक्ता है अर्थात् स्वय ही स्वयंमें स्वयंकी संभूतिसे स्वयके पर्यायको अनुभवता है, इस सम्यक् बोधमे अनधिकृत्य रमणकी विडम्बना मिटकर सत्य सतृप्ति होती है।

परके भोक्तापनकी बुद्धिमे मिथ्यासतोपका सताप—जगतमे जीवोंको एक विडम्बना यह लगी है कि वे मिथ्या सन्तोषमे अपने आपको गर्क बनाये रहते हैं। जहाँ वास्तविकता नहीं विपरीत परिणमन है, विपरीत कल्पनायें हैं और उसमे वे अपना आराम समझते हैं, यह हमारी विपरीत सतोषमे चित्त लगानेकी बात कैसे मिटे? रोज-रोज विषयसाधन

बनाते है, खाते हैं, खाते समय अच्छा लगता है। कल्पनायें जगती हैं, मानते हैं कि हम सुखी हो रहे, दुःख हैं मुझमे, व्याकुलता है मुझमे, इसकी परख उन्हे नहीं बन पाती, इस भोगोपभोगके प्रसग में यह ज्ञान नही हो पाता कि हममे अशान्ति बसी है। अशान्तिको शान्ति समझ ली तो फिर अशांतिसे कैसे दूर हो सकते ? दु.खको जो सुख समझ ले वह दुःखसे कल्पित सुखसे कैसे विरक्त हो सकता है ? फल यह होता है कि उन अज्ञानकी चेष्टाओमें लगे रहते है और अपना जीवन खो देते है। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायके अनुभवमें पड़ा हुआ है। खुदको ही भोगने वाला है, खुद ही स्वयं की पर्याय अनुभवता है, खुद ही में निजके भवनका अनुभवन होता है। तो मेरेमे किसी दूसरेकी बात तो नहीं आ सकती, विषयका अनुभवन तो नहीं बन सकता। मै अपनेमें अपनी कल्पनाको ही तो अनुभव कर सकता हूं, सो कल्पनायें मेरा स्वरूप नहीं है। ये कर्मकृत उपद्रव हैं, इनमें तृप्त होना यह जीवके लिए भलाईकी बात नहीं है।

प्रभुवत् अपना स्वरूप जानकर, निहारकर अन्तः प्रसन्न होनेकी भावना—आनन्द पावो। जैसा प्रभुका स्वरूप है ऐसे ही स्वरूपको बनाकर आनन्द पावो। यह स्वरूप बनाया नहीं जाता, किन्तु अपनी स्वरूपदृष्टि करते-करते और स्वरूपदृष्टि जैसे दृढ़ हो उसके अनुरूप अपना व्यवहार बनाकर अपने स्वरूपमें मग्न हो, वहाँ वह शुद्ध पर्याय प्रकट होती है। प्रभुदर्शन में यह ही तो निरखना चाहिए कि हे प्रभो ! मेरा कहीं भी कुछ भी आनन्द नहीं, कुछ भी सतोष नहीं, कही भी शान्ति नहीं। शान्ति तो है जैसा आपका स्वरूप है इस स्वरूपमें शान्ति है। यह स्वरूप मेरेको कैसे प्रकट हो, यह ही बात एक समझने की है, अपनेमें अनुभवनेकी हैं, अपनेको ऐसा स्वतत्र अनुभवना हो तो ऐसा ही स्वभाव है मेरेमें तो सर्व बाह्य भावोसे पर्यायोंसे दृष्टि हटाकर एक अपने आपके स्वभावमे दृष्टि लगायें। मै सबसे निराला अविकार शुद्ध तत्त्व हूं। तो जब अपने आपके स्वरूपमें दृष्टि जगती है तो इस जीवको सत्य सतोष प्राप्त होता है और अब तक जो यह क्षोभ संताप करता आया है उसकी विडम्बना सब समाप्त हो जाती है। देखो सम्यग्ज्ञानमें ही कल्याणका मार्ग मिलेगा, अज्ञानमें कल्याणका मार्ग नहीं मिल सकता। इस जीवके साथ एक ज्ञान तो सदा रहता ही है पर ऐसी एक अशुद्ध परिस्थति है कि अनेक अवगुण भी इसपर लदे हुए चले जा रहे हैं। क्रोध, घमंड, छल, कपट, ईर्ष्या, तृष्णा, आशा, प्रतीक्षा आदिक अनेक अवगुण इस जीवपर लदे हुए हैं। देखो गुण तो है एक ज्ञान और अवगुण लद गए अनेक, लेकिन ज्ञानमें ऐसा बल है कि यह ज्ञान अपनेको सभाल ले तो ये अनेक अवगुण होकर भी इस ज्ञानकी दृष्टिमें क्षणमात्रमें ध्वस्त हो सकते हैं, पर जिसको कुटेव ऐसी पड़ी हो कि अज्ञानसे हो प्रीति जगे, ज्ञानमें रुचि न जगे, उस जीवको

संतोष अथवा शान्तिका मार्ग कैसे मिल सकता है ? अपना स्वरूप देखो, अपने अन्दरमे अपनी सारी विधि समाई हुई है। हम अपनी विधिसे अपने आपपर अपने बलसे अपनेको सुखी और सतुष्ट बना सकते हैं। दूसरेकी आशासे, दूसरेकी प्रतीक्षासे, दूसरेकी कृपासे हम संतोष नहीं पा सकते। हमे संतोष मिलेगा तो अपनी कृपासे मिलेगा। मेरा वही तो स्वरूप है जैसा प्रभुका स्वरूप है। जाति तो एक है। बिरादरीकी पंगत हो और उसमे गरीब भी आया हो, धनिक भी आया हो तो पंगतकी दृष्टिसे तो दोनोकी समानता है। बिरादरी तो एक है, ऐसे ही प्रभु और मैं जातिमें तो एक ही हूँ, वह भी चेतन हैं, मैं भी चेतन हूँ। जो स्वरूप उनका है सो स्वरूप मेरा है। कुछ अन्तर पड़ गया गरीबी अमीरीका। प्रभु तो अमीर हैं और यहाँ हम जगतके सब जीव गरीब हैं। उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तशक्ति प्रकट हुई है। मेरेमें यह सब निधि दबी पड़ी हुई है। वह अपने स्वच्छ स्वरूपका अनुभव किया करता है। और जगतके ये प्राणी अपने मोह कषायका अनुभव किया करते हैं। ऊपरी वृत्तिमें अन्तर है, पर अन्तः स्वरूप तो एक समान है। हम प्रभुके स्वरूपको देखकर अपने स्वभावका भान करें और अपनेको प्रभुके स्वरूपके निकट ही ले जायें। मेरेको तो यह अविकार स्वभाव निरखना है, अन्य बातसे, अन्य घटनासे मेरेको कुछ प्रयोजन नहीं। अपनेमे अपनेको देखो और अपनेको सुखी अनुभव करो।

सहजस्वरूपके अवगमसे परमसतोषका लाभ——यहाँ ये चार बातें समझनी हैं—२ विधिरूप और २ निषेधरूप। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका ही कर्ता है। मैं अपनेको ही करता हूँ। कोई पदार्थ किसी दूसरेको नहीं करता, मैं किसी दूसरेको नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ अपने आपको ही भोगता है, मैं अपने आपको ही भोगता हूँ। कोई किसी दूसरे पदार्थको नहीं भोगता, मै किसी दूसरेको नहीं भोगता। इन तथ्योके समझनेसे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मै स्वय अपने स्वरूपमात्र हू, अपने स्वभावमें तन्मय हूँ। यह ही स्वभाव मेरेको दिखे, इस ही मे मेरा अनुभव जगे, इस ही में मेरा वास्तविक कल्याण है। अगर कल्याण चाहिए तो एक ही निर्णय है कि बाहरी पदार्थोंका आश्रय तजकर एक अपने आपके स्वरूपका आश्रय लें, अपनेको अनुभव करें कि मै ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूं। यह ज्ञान मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरा अभेद भाव है, ज्ञान ही सर्वस्व है। ज्ञानमे इस स्वरूपमे किसी दूसरी चीजका प्रवेश नहीं होता। हाँ यह ज्ञान ही बिगड़ जाय। कल्पना करने लगे तो अपनी कल्पनासे यह जीव अपनेमें आकुलता पाता है, पर मेरे ज्ञानमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं, इस कारण मुझपर किसीका भार नहीं। अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखो और अपनेको भाररहित अनुभव करो। मेरेको करनेको कुछ पड़ा ही नहीं बाहरमें और अन्दरमें कुछ करनेके लिए कोई जरूरत भी

नही। वस्तु है उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। तो स्वभावसे ही अपनेमें उत्पाद करता रहेगा, तो स्वय सहज जैसा जो कुछ मेरेमें उत्पाद हो सो होता रहे, मेरेको बाहरमें करनेका कुछ नहीं पड़ा है। कष्ट मेरेमें है ही नही, मेरा स्वरूप तो आनन्द है। जो मेरेमें मेरे कारण मेरे ही सत्त्वसे परके सम्बन्ध बिना हुआ करे सो मेरी निधि है। मेरेमें सहज आनन्द है, वह आनन्द मेरेमें मेरेसे ही प्रकट होता है। मेरेमें कष्टका कही काम नहीं। जब कष्ट ही नही मेरे स्वरूपमे तो असंतोष किस बातका हो ? असतोष होता है परका ख्याल बनानेसे। अरे परसे मेरेको कभी कुछ मिल हो नहीं सकता, तो उसका ख्याल बना बनाकर में अपना जीवन कष्ट ही कष्टमें क्यो गुजारूँ ? मैं परसे रहित हूँ, कष्टसे रहित हूँ, स्वय सहज आनन्दमय हूं, ऐसा स्वरूपका दर्शन रहा करे तो इस जीवको परमसंतोषका लाभ होता है।

( ६ )

प्रत्येक द्रव्य अपने आपका ही स्वामी है, स्वय ही स्वयके स्वभावरूप है, किसी भी एक वस्तुका अन्य समस्त परवस्तुओमे अत्यन्त अभाव है, स्वतन्त्रताके सम्यक् बोधमें ममता मिट कर क्षमता प्रकट होती है।

सर्व आकुलता व विडम्बनाका मूल ममताभाव— जीवकी आकुलताकी निष्पत्तिमें एक ममताका बहुत बड़ा सहयोग है। ममता मायने ममकार, जो मेरा नहीं है उसको मानना कि यह मेरा है, ऐसे भावको कहते हैं ममकार। मेरा क्या-क्या नहीं है ? ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त, मेरे चैतन्यस्वरूपके अतिरिक्त समस्त तत्व, समस्त भाव, सर्व परभाव उनमें से कुछ भी मेरा नहीं है, फिर उनको समझें कि मेरा है, बस यहींसे विपत्ति प्रारम्भ हो जाती है। लोकव्यवहारमे भी देख लो। जब तक किसी पदार्थके बारेमे मेरा है ऐसा विकल्प नही होता तब तक आनन्द है, शान्ति है, चैन है और जब यह भाव बन जाता है कि यह मेरा है बस तभीसे अशान्ति होती है। कई जगह ऐसी घटनायें होती हैं कि जिसके केवल एक ही बच्चा या बच्ची हो और कदाचित् उसका वियोग हो जाय तो यह कहते सुना गया कि इससे तो न होता तो अच्छा था, उसका ख्याल न आता, वेदना न होती। हुआ और चला गया। उसकी वेदना है। तो जब तक नही था तब तक आकुलता तो न थी, सुख चैनसे रहते थे और जहाँ हुआ कि आकुलता हुई बस वहीसे शान्ति छूट जाती है। जैसे कहते है सगाई, तो सगाई मायने स्वकीयता, स्वकाई मायने अपना हो गया— यह इस प्रकारकी कल्पना आनेका नाम है सगाई। देखो एक गुरुजीके पास शिष्य आता था पढने, एक दिन वह नहीं आया तो गुरु जी ने पूछा—बेटा तुम कहाँ रहे ? कल नही पढ़ने आये थे ? तो शिष्यने कहा महाराज मेरी सगाई हो रही थी। तो गुरुजी बोले—अब तुम अपने गाँवसे गए। कैसे ? सगाई होनेके

बाद बस दिमागमें ससुरालका गाँव ही घूमता रहता है और जिस गाँवमें रहते उसका कुछ भान नहीं। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया, फिर गुरुजी ने पूछा—बेटा तुम पढ़ने क्यों नहीं आये थे। तो शिष्यने कहा—महाराज—मेरी शादी हो रही थी, तो गुरुजी ने कहा अब तो तुम अपने घरसे भी गए।'' कैसे ? बस ससुरालके घर वाले ही सब कुछ दिखाई पड़ते, साला, साली, सास-ससुर वगैरा। वहाँ फिर अपने घरके लोगोको भूल जाते। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया। क्यों नहीं आये थे ? ' महाराज विदा कराने गये थे तो कहा—अब तुम अपने माता पितासे भी गए। जब स्त्री घर आयी तो माता पिताकी कौन परवाह करता ? एक स्त्री ही उसके चित्तमें बसी रहा करती है। तो देखिये विडम्बना सगाईसे शुरू हुई और बिदा तक हुई। यहाँ बिदाका अर्थ समझो शान्तिकी बिदाई बिदाई नाम वियोगका है। तो मालूम होता है कि शान्तिकी बिदाईका नाम है बिदा। बिदा हो गई मायने शान्तिकी बिदाई हो गई अशान्तिकी मिलाई हो गई। तो सर्व आपत्तियों को जड ममताभाव है।

दु:ख मेटनेके उद्यमियोको ज्ञानार्जनके उपायको करनेका सदेश—लोग दुःखी होते हैं और दुःखको मेटनेका बहुत पौरुष करते हैं। अरे जहाँ हम अनेक पौरुष करते हों दुःख मिटाने के लिए वहाँ जरा भीतरमें एक ज्ञानका पौरुष भी तो बनावें कि जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, शान्ति मिल जायगी। अभी जिसको जितना धन-वैभव मिला है वह उसमें खुश थोड़े ही है। कोई अपनेको सुखी नहीं समझता, और इससे मान लो एक कष्ट ही मिलता है। जितना धन आज मिला है उसका १६वां हिस्सा ही मानलो मिला होता तो क्या उससे गुजारा न चलता ? चलता ही है, देख लो अपनेसे कम धनिकोको और मान लो आज जितना धन है उससे १६ गुना अधिक धन हो जाय तो क्या सुखी हो जावोगे ? अरे आपसे १६ गुना अधिक धन जिनके पास है उन्हे देखलो सुखी हैं कि नहीं ? वे भी तो दुःखी नजर आते। तो वे दुःखी क्यो हैं ? यों कि अपनेसे अधिक धनिकोपर उनकी दृष्टि रहती है। उससे अधिक धन प्राप्त होनेकी निरन्तर आशा बनाये रहते हैं यही कारण है कि उन्हें सन्तोष नहीं हो पाता। तो सर्वक्लेशोंकी खान ममताभाव है। क्लेश दूर करना चाहते हो तो ममताविनाशक ज्ञानार्जनके उपायको मत भूलो। ऐसा ज्ञान बनाओ जिससे ममता दूर हो। तभी आकुलता दूर होगी अन्यथा आकुलता दूर नहीं हो सकती। देखते भी तो हैं—जैसे कोई पहले खोमचा ही फेरता था या किसी छोटी दुकानपर नौकरी ही करता था, समय गुजरा, बड़ा धनिक हो गया, लख-पति करोड़पति हो गया। इतना होनेपर भी वह चैन नहीं मानता। हायरी ममता डाइन, तूने इस जगतके प्राणीको कुचल डाला, मार डाला, चबा डाला। और दुःख किस बातका है ?

इस लोकके इस गाँवके किसी जगहके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तकके आदमियोंको देख लो, कोई साधुसंत ही बिरला ऐसा है जो सुखी मिलेगा, बाकी सबने दुःख ही दुःख पाये।

कल्पनाजन्य ममतासे क्लेशकी निष्पत्ति—जब दुःख आता है तब तो सोच लेते है कि अब मै किसी विडम्बनामें न पड़ूंगा और जैसे ही दुःख कम हुआ कि फिर वही विडम्बना शुरू हो जाती है। एक आदमी नारियलके फल तोड़नेके लिए नारियलके पेड़पर चढ़ तो गया और नारियलके फल भी तोड़ लिये, अब जब उतरनेको हुआ निगाह नीचे किया तो काँप गया, डर गया हाय अब गिर गया तो क्या होगा ? तो वहाँ वह विचार करता है कि यदि मै राजी खुशीसे नीचे उतर गया तो १०० ब्राह्मणोको भोजन कराऊँगा। खैर कुछ नीचे खिसका, मानो करीब आधी दूर आ गया तो फिर सोचा कि १०० को तो नहीं, पर ५० को जरूर खिलाऊँगा, कुछ और नीचे उतरा तो फिर सोचा कि ५० को तो नहीं, पर २५ को जरूर खिलाऊँगा। इस तरहसे वह ज्यों ज्यो नीचे उतरता गया त्यों त्यों कम करता गया। और जब बिल्कुल ही नीचे जमीनपर उतर आया तो सोचा—अरे क्यो ब्राह्मणोंको खिलाऊँ। उतरा तो मै हूँ, मै तो अब एक भी ब्राह्मणको न खिलाऊँगा तो हर एक विडम्बनामें आप यही बात पायेंगे। समस्त परेशानियोका कारण ममतापरिणाम है। देखो जीवन तो बिताये जा रहे हो धनके उपार्जनमे, सुखमें, मौजमें, मगर यह न समझो कि हमारा जीवन सही चल रहा है। कभी भी कोई कष्ट आ धमके, कुछ भी बात आपपर गुजर जाय तो आप दुःखी हो जाते हैं। मानो आपने आज सुबह कोई चीज खरीद ली और शामको ऐसा सुनने मे आया कि उसका भाव सवाया या डयोढ़ा बढ़ गया तो वहाँ आप यह ख्याल बनाते कि इसमे तो हमे १० हजार रुपयेका लाभ हुआ है, बस वहाँ आप उस प्रकारके ख्यालसे ही सुख मानते और मान लो यह खबर मिल जाय कि उस चीजका भाव गिरकर कम रह गया तो वहाँ आप ऐसा ख्याल बनाकर दुःखी होते कि अरे इसमें तो दस हजारका टोटा पड़ गया। यो सुख दुःखकी बात आपके ख्यालके आधारपर चलती रहती है। यहाँ सुख दुःख माननेका कोई निश्चित आधार (साधन) तो नहीं है। न जाने ऊँट किस करवट बैठ जाय, न जाने कौनसी बात विचारमे आ जाय और यह जीव क्लेश मान बैठे। तो उन सब क्लेशोका कारण है ममतापरिणाम। क्लेशोंसे बचना है तो इस ममतासे दूर पहले होना चाहिए।

ममता विनाशका उपाय सबकी निजनिजस्वामिताका परिचय—अच्छा अब जरा वह उपाय बताओ कि जिससे ममता दूर हो जाय। कैसे ममता दूर हो ? चीजको बिगाड़ दो, चीजको छोड़ दो, दूर देशमें पहुच जावो, कही उपयोग बदल लो, अनेक उपाय करलो तो भले ही कुछ थोड़ी ममता दबसी जाय या न भी दबे, किन्तु ये उपाय ममता दूर करनेके नहीं हैं,

बाद बस दिमागमें ससुरालका गाँव ही घूमता रहता है और जिस गाँवमे रहते उसका कुछ भान नहीं। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया, फिर गुरुजो ने पूछा--बेटा तुम पढ़ने क्यों नहीं आये थे। तो शिष्यने कहा--महाराज-मेरी शादी हो रही थी, तो गुरुजी ने कहा अब तो तुम अपने घरसे भी गए।" कैसे ? बस ससुरालके घर वाले ही सब कुछ दिखाई पड़ते, साला, साली, सास-ससुर वगैरा। वहाँ फिर अपने घरके लोगोको भूल जाते। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया। क्यो नहीं आये थे ? ' महाराज विदा कराने गये थे तो कहा—अब तुम अपने माता पितासे भी गए। जब स्त्री घर आयी तो माता पिताकी कौन परवाह करता ? एक स्त्री ही उसके चित्तमें बसी रहा करती है। तो देखिये विडम्बना सगाईसे शुरू हुई और बिदा तक हुई। यहाँ बिदाका अर्थ समझो शान्तिकी विदाई बिदाई नाम वियोगका है। तो मालूम होता है कि शान्तिकी बिदाईका नाम है बिदा। बिदा हो गई मायने शान्तिकी बिदाई हो गई अशान्तिकी मिलाई हो गई। तो सर्व आपत्तियो की जड ममताभाव है।

दु ख मेटनेके उद्यमियोको ज्ञानार्जनके उपायको करनेका सदेश—लोग दुःखी होते हैं और दु.खको मेटनेका बहुत पौरुष करते हैं। अरे जहाँ हम अनेक पौरुष करते हों दुःख मिटाने के लिए वहाँ जरा भीतरमें एक ज्ञानका पौरुष भी तो बनावें कि जगतमे मेरा कहीं कुछ नहीं है, शान्ति मिल जायगी। अभी जिसको जितना धन-वैभव मिला है वह उसमे खुश थोड़े ही है। कोई अपनेको सुखी नहीं समझता, और इससे मान लो एक कष्ट ही मिलता है। जितना धन आज मिला है उसका १६वा हिस्सा ही मानलो मिला होता तो क्या उससे गुजारा न चलता ? चलता ही है, देख लो अपनेसे कम धनिकोको और मान लो आज जितना धन है उससे १६ गुना अधिक धन हो जाय तो क्या सुखी हो जावोगे ? अरे आपसे १६ गुना अधिक धन जिनके पास है उन्हे देखलो सुखी हैं कि नहीं ? वे भी तो दुःखी नजर आते। तो वे दुःखी क्यो हैं ? यो कि अपनेसे अधिक धनिकोपर उनकी दृष्टि रहती है। उससे अधिक धन प्राप्त होनेकी निरन्तर आशा बनाये रहते हैं यही कारण है कि उन्हे सन्तोष नहीं हो पाता। तो सर्वक्लेशोंकी खान ममताभाव है। क्लेश दूर करना चाहते हो तो ममताविनाशक ज्ञानार्जनके उपायको मत भूलो। ऐसा ज्ञान बनाओ जिससे ममता दूर हो। तभी आकुलता दूर होगी अन्यथा आकुलता दूर नहीं हो सकती। देखते भी तो है—जैसे कोई पहले खोमचा ही फेरता था या किसी छोटी दुकानपर नौकरी ही करता था, समय गुजरा, बड़ा धनिक हो गया, लख-पति करोड़पति हो गया। इतना होनेपर भी वह चैन नही मानता। हायरी ममता डाइन, तूने इस जगतके प्राणीको कुचल डाला, मार डाला, चबा डाला। और दुःख किस बातका है ?

अणु, परमाणु सब एक दूसरेसे जुदे जुदे है किसीका कोई मालिक है ही नहीं। धर्म किसे कहते, योग किसे कहते ? बस ऐसा सम्यग्ज्ञानमें ही उपयोग बना रहे, जो बात जिस तरह मिल सकती है उसे उस तरह पाना चाहिए। तो हाँ बनाओ ममताविनाशक ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका स्वामी है। खुद ही खुदके भावरूप है। एक पदार्थका अन्य समस्त पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल अभाव है। न एक दूसरे रूप कभी हुआ, न अब है और न कभी हो सकेगा। भले ही विकार परिणमनोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर कोई भी पदार्थ किसी पदार्थकी पर्यायरूप नहीं परिणमता। एकका दूसरेमें अभाव है। एकमें दूसरेका अभाव है। सर्व अपना-अपना स्वरूप लिए हुए अपनी सत्ता से रहते हैं। यों सर्व पदार्थ स्वय हैं, स्वतंत्र है, ऐसा जब समीचीन बोध बनता है तो उनको ममता ठहर नहीं सकती। ममता मिटी कि सारे संकट दूर हो जाते हैं।

( १० )

अपना ज्ञान किसी भी अनात्म पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके वाह्यमें उपयुक्त हो तब कष्ट होना प्राकृतिक ही बात है, क्योंकि आत्मकुलकी बान छोड़कर यह सब अकृत्य, हा तो किया जा रहा है।

अपना उपयुक्त कर्तव्य—यह भावना जिज्ञासा बनती है जब कभी भी कि अपनेको क्या करना चाहिए, अब क्या करें ? यह बात मनमें आती है कि क्या करना उपयुक्त है ? तो इसका सक्षिप्त उत्तर यह हो सकता है कि अपने कुलके अनुरूप काम करना उपयुक्त है। अपने बडप्पनके अनुरूप जिस वंशमें उत्पन्न हुए उसके अनुकूल अपने को काम करना है। लौकिक विधिमे सब कुछ समझमे आ रहा होगा। जब कोई महापुरुष, कुलका बड़ा कोई पुरुष, बड़े घरका आदमी जब कोई हल्का काम करने पर उतारू होता है तो लोग समझाते हैं कि अरे भाई तुम क्या कर रहे हो ? अपने पुरखोंको तो तको। अपने कुलको तो देखो। यही बात जरा अपने दिमागमें लावो कि हे आत्मन् ! बतला तेरा कुल क्या है ? कुलके मायने सतान्। जिसको सततिमे बराबर प्रवर्तन हो उसका नाम है कुल। तो मै किस संततिमें रहता हूँ ? मै रहता हूँ अपने चैतन्यकी सततिमें। मैं था कही वही चैतन्य, मै हूँ यहां वही चैतन्य, मैं होऊँगा आगे यही चैतन्य। मेरा कुल है चैतन्य। जैसे लोग कहते है कि यह कुलका दोपक है, यह वश चलाने वाला है, तो मेरा कुल है चैतन्य। उस कुलका दीपक कौन ? यह मै स्वय। जैसा अपनेमें सहज भावरूप हूँ वह हूँ मै दीपक इस चैतन्यकुलका। इस चैतन्यवश की पवित्रता बनाओ। मायने मै रागद्वेष मोह तजकर मात्र ज्ञाता दृष्टा रूपसे रहूँ तो यह ही है मेरी पवित्रता। जहां यह पवित्रता हुई वहाँ चैतन्य कुल भी पवित्र बन गया। तो क्या

तो फिर क्या उपाय है ममता दूर करनेका ? अरे ममतासे उल्टा चलें तो ममता दूर हो जायगी। ममतामे क्या बात है कि यह मेरा है, तो अब क्या आशय बना लें कि यह मेरा नहीं है बस ममता दूर हो जायगी। यह मेरा नहीं है —यह आशय कैसे बने ? तो यह मेरा नहीं है यह आशय बनेगा यह मेरा नहीं है ऐसी समझके द्वारा। वह समझ कैसे आयगी ? बस अपनेको व ममताके विषयभूतको भिन्न-भिन्न जान लें, मै जुदा हूँ, ये जुदे हैं, बस ऐसा भाव बन जायगा कि ये मेरे नहीं हैं। देखो किसीके भरोसे मत बैठो कि कोई दूसरा मुझे सुखी शान्त कर देगा ? खुदका ही ज्ञान बल बढाना पड़ेगा तब शान्त हो सकेंगे। वह बल क्या है ? यही ज्ञानबल जरा समस्त पदार्थोंको जिसका जैसा स्वरूप है उसी स्वरूपमे जरा समझ तो लो प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र है। सबकी सत्ता उसकी उसमे ही है। किसीका कोई दूसरा मालिक नहीं है। ससार है, बधन है। योग जुडता है, बच्चे हैं, बच्ची हैं, स्त्री है। लोग समझते हैं कि ये मेरे हैं, इन पर मेरा अधिकार है और वास्तविकता यह है कि कुछ भी मेरा नहीं है। किसी पर मेरा अधिकार नहीं। तो ऐसा जब सही बोध हो तो ममता जगेगी कैसे ? तो यह ही सम्यक् बोध करना, प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है। कोई किसी का स्वामी नहीं है। स्वामी शब्द स्वसे ही तो बना। जो जिसका स्व है, जो जिसका निज स्वरूप है वह उसका स्वामी है। कोई पदार्थ किसी अन्यका स्वामी नहीं है।

एकका अन्य समस्तमे अत्यन्ताभावके परिचयसे—अब जहां-जहां ममता जगती हो उस-उस पदार्थके बारेमे अपनी तर्कणा बना लें कि यह मेरा कैसे लग सकता है ? कुछ भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कुछ भी नही लगता, प्रत्येक पदार्थ खुद ही खुदके भावरूप है, स्वरूप रूप है, स्वभावरूप है। कोई किसीके स्वरूपसे नहीं है। यह तो वस्तुका स्वरूप ही है। यह बात तो किसीने बनायी नहीं, हां बतायी है। प्रभुने, बतायी है ज्ञानियोने। बनता कुछ नहीं है। जो पदार्थ है सो है, वह नष्ट नहीं होता। जो नहीं हैं सो नहीं है। हालाकि इन शब्दोमे नहीं बता सकते कि जो नहीं है सो कुछ नहीं है बताओ जरा। अरे बताओगे तो वह है ही बन गया। सत्का विनाश नहीं, असत्का उत्पाद नहीं। भगवद्गीतामे भी लिखा है कि सत्का कभी विनाश नहीं होता। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' जो है उसका विनाश नहीं, जो नहीं है उसका उत्पाद नहीं। तो अब बतलावो कौन किसका है ? किसी पदार्थका कोई दूसरा मालिक नहीं, खुद ही खुदके स्वरूपका मालिक है। जब ऐसी बात है तब फिर जगतमे कोई कुछ मेरा कैसे हो सकता ? जब नहीं हो सकता तो फिर ममता कहाँ ठहरे ? ममताका पिता है अज्ञान। अज्ञानसे ममता जगती है। जहाँ सही ज्ञान हो गया वहाँ ममता का क्या काम ? तो पहला ज्ञान यह बनायें कि प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक जीव, प्रत्येक

अणु, परमाणु सब एक दूसरेसे जुदे जुदे है किसीका कोई मालिक है ही नहीं। धर्म किसे कहते, योग किसे कहते ? बस ऐसा सम्यग्ज्ञानमें ही उपयोग बना रहे, जो बात जिस तरह मिल सकती है उसे उस तरह पाना चाहिए। तो हाँ बनाओ ममताविनाशक ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका स्वामी है। खुद ही खुदके भावरूप है। एक पदार्थका अन्य समस्त पदार्थोमें अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल अभाव है। न एक दूसरे रूप कभी हुआ, न अब है और न कभी हो सकेगा। भले ही विकार परिणमनोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर कोई भी पदार्थ किसी पदार्थकी पर्यायरूप नहीं परिणमता। एकका दूसरेमें अभाव है। एकमे दूसरेका अभाव है। सर्व अपना-अपना स्वरूप लिए हुए अपनी सत्ता से रहते हैं। यों सर्व पदार्थ स्वय हैं, स्वतंत्र है, ऐसा जब समीचीन बोध बनता है तो उनको ममता ठहर नहीं सकती। ममता मिटी कि सारे संकट दूर हो जाते हैं।

( १० )

अपना ज्ञान किसी भी अनात्म पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके बाह्यमें उपयुक्त हो तब कष्ट होना प्राकृतिक ही बात है, क्योकि आत्मकुलकी बान छोड़कर यह सब अकृत्य, हा तो किया जा रहा है।

अपना उपयुक्त कर्तव्य——यह भावना जिज्ञासा बनती है जब कभी भी कि अपनेको क्या करना चाहिए, अब क्या करें ? यह बात मनमे आती है कि क्या करना उपयुक्त है ? तो इसका संक्षिप्त उत्तर यह हो सकता है कि अपने कुलके अनुरूप काम करना उपयुक्त है। अपने बड़प्पनके अनुरूप जिस वंशमे उत्पन्न हुए उसके अनुकूल अपने को काम करना है। लौकिक विधिमें सब कुछ समझमे आ रहा होगा। जब कोई महापुरुष, कुलका बड़ा कोई पुरुष, बड़े घरका आदमी जब कोई हल्का काम करने पर उतारू होता है तो लोग समझाते है कि अरे भाई तुम क्या कर रहे हो ? अपने पुरखोंको तो तको। अपने कुलको तो देखो। यही बात जरा अपने दिमागमें लावो कि हे आत्मन् ! बतला तेरा कुल क्या है ? कुलके मायने सतान। जिसको सततिमें बराबर प्रवर्तन हो उसका नाम है कुल। तो मै किस संततिमें रहता हूँ ? मै रहता हूँ अपने चैतन्यकी सततिमें। मैं था कही वही चैतन्य, मै हूँ यहां वही चैतन्य, मै होऊँगा आगे यही चैतन्य। मेरा कुल है चैतन्य। जैसे लोग कहते है कि यह कुलका दीपक है, यह वश चलाने वाला है, तो मेरा कुल है चैतन्य। उस कुलका दीपक कौन ? यह मै स्वय। जैसा अपनेमें सहज भावरूप हूँ वह हूँ मै दीपक इस चैतन्यकुलका। इस चैतन्यवश की पवित्रता बनाओ। मायने मै रागद्वेष मोह तजकर मात्र ज्ञाता दृष्टा रूपसे रहूँ तो यह ही है मेरी पवित्रता। जहां यह पवित्रता हुई वहाँ चैतन्य कुल भी पवित्र बन गया। तो क्या

करना ? अपने कुलके अनुरूप काम करना । मेरा कुल है चैतन्यस्वरूप । मेरा अनुरूप काम है ज्ञाता द्रष्टा रहना, जाननहार रहना, देखनहार रहना ।

मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेमे प्रसन्नता—जैसे कि कोई अजायबघरमे चीज देखने जाता है तो वह केवल जानने वाला रहता है । किसी चीजको छूता नहीं हैं । छुवे, पकड रखे किसी चीजको तो वहीं गिरफ्तार हो जाता है । तो ऐसे ही जगतमे जितने जो कुछ पदार्थ हैं उन समस्त पदार्थोंको केवल जानते रहें, देखते रहें, उनमे से किसीको छुवें नहीं, न राग करें, न द्वेष करें, न मोह करें । बस जानते देखते रहे । भला अपने-अपने अनुभवसे सोचो तो जरा। आपको अपना बच्चा तो बहुत प्रिय लगता, और पडौसके गैरके और अन्य लोग उतना प्रिय नहीं जचते, तो यह अन्तर जो आपके हृदयमें बना है । बतलावो यह मलीमसताका आशय है कि नहीं ? जब अपने एक शुद्ध धर्ममार्गमे चलते है ऐसी जब आपमे इच्छा जगे उस समय आप परख लें कि जब घरके बच्चे भी भिन्न जीव है, बाहरके बच्चे भी भिन्न जीव हैं, भिन्नतामें सब समान हैं । जैसे भिन्न गैर लड़के वैसे ही भिन्न घरके लडके, पर देखो परिस्थिति है ऐसी कि अपने घरके बच्चोका पालन करना चाहिए । घरके बच्चोकी चिन्ता भी रखनी पड़ेगी । यह तो गृहस्थीकी व्यवस्था है कि प्रत्येक गृहस्थ अपने घरके बच्चोको सबको सुरक्षित रखे तो व्यवस्था ठीक रहेगी । यह बात तो अलग है, मगर उसके आगे जो कदम बढ़ायेगा उसको अपना मानना, उसमे चित्त लगा रहना, यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा जो भीतरमे आशय जग गया, इसकी तो जरूरत नहीं गृहस्थोमे । ये क्यो अधिक काम किए जा रहे हैं, कहीं भी जरूरत नही । सत्य श्रद्धान बनावें, मेरा मात्र मै ही हूं, मेरा जगतमे अन्य कुछ नहीं। श्रद्धा सही रहेगी, कल्याण होगा । जहां कि कोई विडम्बना हो, घटना हो, चिन्ता हो, खोटी स्थिति हो, किसीकी परवाह मत करो, मेरेमे कुछ खोटापन नहीं, सब बाहर बाहरकी बातें है, उनसे मेरा क्या सम्बन्ध ? अपने भीतरके स्वरूपको देखो और अपनेमे अपने स्वभावकी उपासना करके प्रसन्न हो जावो, निर्मल हो जावो । सारे सकट दूर हो जायेंगे ।

अपने चैतन्यकुलकी बान न छोडनेमे ही शान्तिपथका लाभ—तो देखो कब विडम्बना बनती है, जब अपना ज्ञान किसी अनात्म पदार्थमे लग गया । जो मेरा कुछ नहीं हैं उससे उपयोग जुड़ गया है, उसमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि रख रहा, यह मेरा अच्छा, यह मेरा बुरा, इस इष्ट अनिष्ट बुद्धिने कैसी दुविधा डाल दी कि जैसे मकड़ी जालमे फसी रहती है ऐसे ही यह पुरुष इष्ट अनिष्ट बुद्धि रखने वाला पुरुष अपने आपकी कल्पनामे ही अपना जाल पूरता है और अपने ही उस जालमे घिरा रहता है । जाल पूरने कोई दूसरा नहीं आता । खुद ही जाल पूरता है और खुद ही जालमे घिरा रहता है, तब यह जीव जब ऐसी योग्यता रखता है तो

कषायसे प्रेरित होकर अनेक बाह्य पदार्थोंमें अपना दिल फसाये रहता है। उस समय कष्ट होता है तो प्राकृतिक बात है। जब हमारा उपयोग हमारे ही ज्ञानसमुद्रसे अलग हो गया तो वह तो तडफेगा ही। जैसे कोई मछली अपने निवास जलसे अलग हट गयी तो वह तो तड़फेगी ही, और तड़फ तडफकर मरण कर जायगी। तो जो कष्ट होता है वह क्यो होता है ? यों कि हमने इन बाहरी पदार्थोंमे अपना उपयोग फंसा लिया। क्या किया वहाँ ? हम अपने आत्मकुलकी बान छोड़ बैठे। मेरा कुल चैतन्यस्वरूप है। मेरी वान है ज्ञातादृष्टा रहना, पर अपने कुलकी बान छोड़कर हम अकृत्यमे जा फसे। अकृत्य क्या है ? जो मेरेको करने योग्य नहीं सो अकृत्य है। जो मेरे द्वारा किया ही नहीं जा सकता और उसमें करनेका विकल्प बनाया वही है अकृत्य, जो कभी मेरा नहीं हुआ, न है, न होगा, उसमें यह बुद्धि बनी कि यह मेरा है, बस यही कहलाता है अकृत्य। तो अपने कुलकी बात छोड़कर हम अकृत्यमें पहुचे तो यह मेरा चूँकि कुल विरुद्ध आचरण है, सो हममें कष्ट होना प्राकृतिक बात है। यदि ऐसे कष्ट न चाहिएँ तो अपने चैतन्यकुलकी बान मत छोड़ें। जो हमारे पुरखोंने किया—पुरखा कौन ? ज्ञानी संत, आचार्य, भगवान, जो कुछ उन्होने किया उस ही रास्ते पर हमको चलना है तो हम अपनेमें शान्तिका पथ प्राप्त कर सकते हैं।

( ११ )

अपना ज्ञान बाह्य पदार्थको भिन्न, असार, विनश्वर, अशरण जानकर, ज्ञानस्वभावको स्वयं सार, ध्रुव व शरण जान बाह्य पदार्थोंसे हटाकर ज्ञानको ज्ञानरूपको परिणमानेमें उद्यत हो, तब शान्ति होना स्वाभाविक है।

कषायके लगावमे क्लेशका संताप—यह प्राणी अनादिकालसे कषायोसे परेशान होकर अशान्त होता चला आया। इसकी अशान्तिका कारण कषायका अनुराग है। यह कषायको छोड़ना नही चाहता, सो कषायकी ज्वालामें संतप्त रहता है। कौन सी कषाय ऐसी है जो शान्तिमें सहयोग दे ? जब क्रोध उमड़ता है तो क्रोधमे यह जीव अपने गुणोंको भस्म कर डालता है, परका भी अपकार कर डालता है, क्रोधमें इसे शान्ति नही। जब घमंडभाव आता है तब क्या इसे शान्ति है ? अज्ञान छाया है। जगतके इन जीवोंसे मै कुछ अधिक जंचूं, कुछ विशेष कहलाऊँ, ऐसा विचार कर जगतके समस्त इस अतस्तत्त्वका भान कर रहा है। जब छल कपटकी बात चित्तमे आती है तो कितनी हो तो उलझनें आया करती हैं। उन उलझनो मे धर्मका प्रवेश नहीं है। नोकर्म तृष्णाभाव, इनसे यह जीव कायर बन जाता है। तो जितनी अशांति जीवको मिल रही है वह सब कषायके अनुराग का फल है। यदि शान्ति चाहिए तो कषायकी प्रीति छोड़नी होगी। और वह बात कब बन सकेगी, जब यह अपनेको समझें कि कषाय मेरी गाँठकी चीज नहीं है, कषाय तो आगंतुक है, कर्मविपाकका प्रतिबिम्ब है। मैं

तो इस प्रतिबिम्बसे रहित, इस छाया मायासे विविक्त केवलज्ञानस्वरूप हूँ, यो सही अपना सहजस्वरूप जानकर ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमननेमे ही उद्यमी रहे, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही विषय रहे तो इस जीवको शान्ति प्राप्त हो सकती है। यह खुद है, ज्ञानस्वरूप है। उसे अनन्त पदार्थोंसे इसका क्या मतलब पड़ा है ? क्या सम्बन्ध है ? सब अपने अपने स्वरूपमे हैं। किसी पदार्थका किसी अन्यपदार्थके साथ कुछ सबधहो नहीं सकता, तब यह क्यो अनेकपदार्थों का विकल्प कर, ख्याल कर कषायोसे अनुराग बढ़ाकर अपने आपका विघात कर रहा है ?

ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन होनेमे ही शान्तिकी सभवता— शान्ति चाहिए, तृप्ति चाहिए तो उसका उपाय यह है कि यह ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमने लगे। काम तो यहाँ एक ही हो रहा है। यह ज्ञान परिणमन करता चला जा रहा है। अब यह ज्ञान जब कषायरूप को अपनाता हुआ परिणमन करता है जो कर्मविपाकका प्रतिफलन है, कर्मविपाक है। इस की चेतनामे आया है। उसको अपनाता हुआ, उस रूपसे अपनेको मानता हुआ ज्ञानका परिणमन करता है तब इस जीवको अशान्ति मिलती है और जब उन परभावोको छोड़कर जो मेरे निजकी गाँठकी चीज नही, कर्मकी छाया माया प्रतिफलन है उसे तजकर जब सहज विशुद्ध ज्ञानस्वभावरूपसे अपनेको परिणमता है, यह ज्ञान ज्ञानरूपसे अपना प्रवर्तन करता है तो इस जीवको शान्ति मिलती है, ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि मेरे उपयोगसे बाह्य पदार्थ हट जायें। बाह्य पदार्थ हट जायें, इसके लिए उपाय क्या है ? उपाय यह है कि यह जीव बाह्य पदार्थोंमे लग हीक्यो रहा था यों तो जरा समझो? बाह्यपदार्थमे लग रहा था अपने आनन्दके लिए। जो जीव जिसमे अपना आनन्द समझता है वह जीव उस प्रवृत्तिमे लग बैठता। तो बाह्यपदार्थोंके सम्पर्कमे इस मोही जीव ने आनन्द माना था, तो जब वह आनन्द झूठा जचे, वास्तविक आनन्दका अनुभव बने तब ही तो बाह्यपदार्थोसे हटा जा सकता है। नीरस रोटियोको कौन छोडेगा ? जिसको सरस भोजन मिले वही नीरस रोटियोको छोड़ सकेगा। बाह्यपदार्थोंको छोड़ेगा कौन ? जिसको अपने अन्तरमे आनन्दका, चैतन्यरसका स्वाद आया हो वही तो बाह्यपदार्थोंको छोड़ेगा। तो बाह्यपदार्थोसे छुटकारा पानेके लिए कर्तव्य क्या है कि अपने ज्ञानस्वभावको निरखें कि यह मै ज्ञानस्वभाव स्वय सारभूत हूँ, शरण हूं, ध्रुव हूँ, पवित्र हूँ, निराकुल हूं। जब सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र निज अतस्तत्त्वका परिचय हो तो वहाँ आनन्द जगता है और बाह्यपदार्थोंसे निवृत्ति मिलती है।

बाह्यकी असारता व स्वरूपकी सारताके परिचयसे विकास—अच्छा, बात यहाँ यह समझना है हितके उपायमे कि थोड़ा बाह्य पदार्थोंको असार समझनेका भी ज्ञान हो, कुछ अपने आपमें अपने सारपनेका भी ज्ञान हो तब ही तो काम बनेगा। जहाँ कोई एक निर्णय

नहीं बन पाता कि पहले अपना सार स्वरूप जानें तब बाहरी असार स्वरूप छुटकारा मिले या बाहरी असारस्वरूपको ही जान लें तो अन्तरंगका सार समझमें आयगा ? अरे जैसे यहाँ किसी इष्टके लाभके लिये जो उपाय बनता है सो किया जाता है ना, ऐसे ही आत्मीय आनन्दलाभके लिए भी दोनो बातोको करना है। बाहरी पदार्थोंको असार समझना है और अपने आपके स्वभावको सार समझना है तो जब यह जीव, अपना ज्ञान ऐसा जानने लगे कि ये बाह्य पदार्थ भिन्न हैं, असार है, विनाशीक हैं, अशरण हैं तो साथ ही यह भी बोध होता है कि मै ही स्वयके लिये शरण हूं, मेरा स्वरूप ही मेरे लिसे सार है, मै सदा रहने वाला अविनाशी तत्व हूं। तो जहाँ बाह्य पदार्थोंकी असारता और निज अंतस्तत्त्वकी सारताकाबोध होता हैवहाँबाह्यपदार्थो सेहटकर यह ज्ञान अपने स्वरूप में लगता है। जहाँ ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाये वहाँ इस जीवको शान्ति मिलती है, तृप्ति होती है। अपनेको शान्त रखने का उपाय मोह, क्रोध मान, माया, लोभका परित्याग है। और सर्व विकारोंसे रहित जिसका विकार स्वरूप ही नही है, ऐसे ही ज्ञानस्वभावका ज्ञान में लाना, बस वही उपायहै आत्महितकेलाभका, सबबातका अनुभव बता रहा होगा जबसे ख्याल है इस भवमें बचपनसे और आज इतनी उम्र हो गई इतने समय तक यह जीव कभी सुखमे मग्न रहा, कभी दुःखमें इसने संताप माना। तो जब सुखमें मग्न रहा उस समय भी कुबुद्धि थो, जब दुःखका ताप माना तब भी इसमें कुबुद्धि ही काम कर रही थी इसने कुबुद्धिको त्यागा नहीं, वह सुख किस कामका जिसमें मग्न होनेपर उससे कई गुना दुःख का अवसर मिलता है। किसका सुख ऐसा है ससारमें जो सुख सदाकाल रहे। सुख के बाद नियमसे दुःख आता है, सासारिक सुखोकी यही बात है। एक सहज आनन्द, एक शाश्वत सुख ही एक ऐसा पवित्र तत्त्व है कि जिसका अपलाप नही होता, जिसका विनाश नहीं होता, जिसकी धारा निरन्तर चल रही है, किन्तु ससारके सुख कोई भी तो ऐसे नहीं जो सदा रह सकते हों और जोवको निराकुल बना सकते हो। तो क्या किया अब तक ? कभी सुखमे मग्न रहे, कभी दुःखमें सताप मानते रहे।

सहजस्वभावकी प्रतीतिकी दुर्लभता—अहो इस जीवने सुख-दुःखसे रहित कोई तीसरी अवस्था नहीं पाई कि जहाँ न सुखका प्रसग हो और न दुःखका। यह बात इस जीव को मिल कैसे सकती है ? इसका उपाय है एक सहजचैतन्यस्वभावकी। आराधना इसीको बोलते है बोधिदुर्लभ। सब कुछ इस जीवने पाया। धन कन कंचन राज सुख आदिक सर्व लौकिक वैभव इस जीवने पाया, किन्तु कर्मविपाकजन्य इन विकारभावोंसे विविक्त अपनेआपके स्वरूप से ही जो एक सहजस्वभाव है उस स्वभावरूपमें अपनी प्रतीति नहीं कर सका यह जीव।

कितनी बड़ी विपत्तिमें यह जीव ग्रस्त है ? निरन्तर यह परभावरूप ही अपनेको अनुभव रहा ऐसा ही अनुभवता चला आया है। यह परानुभव मिटे और स्वरूपका अनुभव बने, ऐसी स्थिति इस जीवको चाहिये और कुछ न चाहिए। तीनो लोकका सारा ढर भी आपके आगे आये तो उसको छोड़कर ही जाना पड़ेगा। इस वैभवके विकल्पोसे क्या लाभ मिलेगा ? दुनियामे कोई यश फैल गया, दुनियाके लोग मानने लगे कि यह भी कोई चीज हैं, यह भी कुछ हैं। तो यह तो विकल्प महाविपत्ति है। जान गए कुछ लोग तो कौनसा लाभ हुआ ? जो जान गया क्या वह हमारा मालिक है, प्रभु है ? जो जान गए क्या वे सदा यहा बसने वाले हैं ? वे भी विनाशीक हैं, मिटने वाले हैं। पर्याय है ना, और कितने लोग जान गए ? ससारके जीव तो अनन्तानन्त हैं, उनके आगे क्या है ? बिन्दु बराबर भी नहीं और सब जाने तब तो कुछ यशका गौरव भी मनावो, पर ऐसा कभी हो नहीं सकता है। तो किस बातका गर्व ? कहां अविवेक लगाया है ? संसारके किन पदार्थोमे आनन्द बसा है ? कुछ भी नहीं। सब विकार, सब बैभव उनसे हटकर मै अपने आपके इससहज चैतन्यस्वरूप अतस्तत्त्व का अनुभव करूँ बस शान्ति यहां मिलेगी। कभी दुःखसे घबड़ा गया तो सांसारिक सुख अच्छे लग। मिल गए कुछ सुख तो उससे पूरा नहीं पड़ने का। पूरा पड़ेगा तो जो सहज आनन्दस्वरूप है ऐसे अतस्तत्त्वकी उपासनासे पूरा पड़ेगा।

( १२ )

नरभव, बुद्धि, सुविधा, सत्सङ्ग, बोध, आरोग्य आदि समागम पाकर निरपेक्ष सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अपनेको प्रतीत कर लेनेमे चतुराई है, अन्यथा तो वही विडम्बना रहेगी, जो अब तक अनादिसे चली आई है।

अनादिकालीन आत्म-इतिहासमे अशुद्धताकी सततिका विस्तार—अपने आपका पूर्व इतिहास तो देखो—जब हम आज ऐसे मनुष्य हैं—क्रोध, मान, माया लोभके भरे हैं, नाना विकल्प सतापोसे दुःखी हैं, ऐसी स्थिति आज हमारी है। तो क्या यह अभी हो गई ? इस की तो परम्परा है। इसकी तो अनादिसे धारा चली आयी है। जन्म समयमे भी अशुद्धता थी, गर्भमे भी अशुद्धता थी और उससे पहले जो भव मुझको मिला उसमे भी अशुद्धता थी। और उससे पहले भव होते ही तो थे। कितने होते रहते थे उनकी गिनती नहीं, उनकी आदि नहीं। अनादि, अनादिसे ये सब अशुद्धतायें, विडम्बनायें इस जीवपर चलती चली आ रही हैं। यह विडम्बना पसंद है क्या ? जैसे भगवान अकेले, केवल असहाय स्वसहाय निजस्वरूप मे ही मग्न हैं ऐसा होना पसंद है कि नहीं ? पसद है। यह तो तब कहा जाय कि जब उसके अनुरूप अपना कुछ ध्यान हो। एकदम तो चल रहा पीछेसे कदम। तो चल रहा मिथ्यात्व

कषायका और वहाँ ऐसा स्वप्न देखें कि मेरेको शान्ति मिले तो कैसे मिले ? हम आपकी विडम्बना अनादिकालसे चली आ रही है । इस विडम्बनाको दूर करना है कि नही ? या जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीमे मोह ममता करके इस जीवनको गुजारना है ? अपनी बात सोचो तो जरा । मै शरोरसे निराला आत्मा हूं, मुझ आत्माको सब द्वन्दोसे हटकर शान्त होना है या नहीं ? अगर सबसे निराला होना चाहते है और ऐसा होनेका उद्यम करते हैं तो सच्ची चतुराई यहाँ है । जगतके बाह्यपदार्थोको किसी चतुराईके बलसे इकट्ठा कर लें, सचय करलें तो उसमें कोई चतुराई नही । चतुराई है तो अपने आपको कषायके झझटोसे निकालकर शुद्ध अंतस्तत्वकी अनुभूति कर लें, उसमे चतुराई है । इसीका नाम है अपनेको स्वभावमात्र प्रतीति मे लेना । मै नारकी नहीं, तिर्यंच नहीं, मनुष्य नहीं, देव नहीं, इन्द्रिय वाला नही । यह सब किस बलपर कहा जा सकता ? जहाँ इससे विविक्त केवल एक चैतन्यस्वरूप ही आत्मतत्त्व को पा लें जो निरपेक्ष सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मस्वभावमय आत्मामें प्रतीति कर सकता है बस वही पुरुष कुशल है, वही पुरुष चतुर है । अपना स्वरूप पा लेना तो इस जीवमे सहज है । जो पदार्थ है वह स्वयं अपने आप है, सत है, स्वभावमात्र है । है ना । तो उसका स्वरूप भी है । जो है सो है, निरपेक्ष है । ऐसा ही मै हूँ । सहज हूँ, निरपेक्ष हूँ, स्वभावमात्र हूं, ऐसी अपने आपकी प्रतीति हो तो सच्ची चतुराई तो इसीमे है । इसके लिए आज अवसर मिला है ।

दुर्लभ मानवजीवनमे निराकुलताका उपाय बना लेनेमे वास्तविक बुद्धिमानी—इस भवमें हमको कितनी सुविधायें मिली हैं ? देखो पहली सुविधा तो यह है कि हम मनुष्य हुए । जगतके अनेक जीवोपर दृष्टि डालकर निर्णय तो करें । ये गधे, सूअर, कुत्ते, बिल्ली, चूहे ऐसी पर्यायोंमें होते तो क्या हो नही सकते थे ? क्या हुए नही होंगे ? ऐसी पर्यायमे हुए होते तो बताओ उस ही पर्यायके अनुरूप रहते ना ? आज यहाँ सुख-दुःख मान रहे हैं इसकी तो बुद्धि नहीं रहती ना ? तो आज यह बुद्धि कोई मेरी चीज नहीं । इससे मै अगर अन्य भवोमें होता तो उन भवोमें क्या कर गुजरता ? चूहे होते तो बस खाना और छिपना—ये दो ही व्यापार हैं, ये दो ही कलायें हैं । खा रहे और जरा भी आहट आयी कि छिप गए । यों खाना और छिपना, इसके अतिरिक्त चूहेका क्या काम ? ऐसे ही सबकी बात सोचो । यदि हम आप कीड़ा पतिंगा होते तो क्या व्यापार रहता, क्या कुछ बुद्धि रहती ? प्रकाश मिला तो उड़ने लगे दीपकपर कीड़े पड़ने लगे । उनकी कुछ ऐसी ही वृत्ति है । जैसे यहाँ मनुष्योको कामादिक विषयोमे प्रवृत्ति होती है, उसकी ही धुन रहती हैं, ऐसे ही इन कीट-पतिंगोको अग्निकी ज्वालापर गिरनेका ही विषय रहता है । तो कितने ही बार कीट-पतिंगोकी भाँ ,

हम आप क्या नहीं मरे होंगे । अरे अनेक ऐसे कुमरण हुए । तो जगत की अनेक पर्यायोंपर दृष्टि डालकर देखें तो देखो अपने निराकुल रहनेके लिये कितनी शिक्षा मिलती है ? जहाँ जो रहे वही तृष्णा, वही उपयोग । तो हमको सुख-शान्ति मिल कैसे सकती ? देखो हम आप आज मनुष्य है तो कितना झंझटोंमे दूर हैं ? एकेन्द्रिय होते, स्थावर होते, जगलोमे वृक्ष बनकर खड़े रहते तो क्या किसीसे बात कर सकते ? क्या किसीसे कुछ सम्पर्क बना सकते ? उनके अग कैसे ? अग हैं नहीं । विढंगा, शाखा, प्रशाखा, पत्ते, डाली आदि, कैसी विडम्बना है इस शरीरकी ? कैसी विडबना है इस जीवकी ? क्या ऐसा हुए नहीं हैं ? तो यह ही सोच लो कि आज मैं मनुष्य न होता और होता कोई स्थावर कीट पतिंगा आदिक तो हमारे लिए क्या था ? अधकार था । और यहाँका कुछ भी वातावरण न था जो मनुष्यभवमें मिला है । कितना ही प्रतिबोध हो, कितनी ही समझ बने । समझाते-समझाते भी यह जीव अपने आपके सुबोधमे नहीं आ पाता, और बस वही कुबुद्धि, वही ममता, वही अहकार की वासना इस जीवके बनी रहती है । कितना कष्ट है इस जीवपर ? तो देखो पहली सुविधा कि हम आपने मनुष्यभव पाया है ।

श्रेष्ठ मन, सुविधा, सत्सग, आरोग्य जैसी दुर्लभ स्थिति पानेका सदुपयोग आत्मोद्धार मे प्रवर्तन—मनुष्य कहते किसे हैं ? जिसके मन श्रेष्ठ हो उसका नाम है मनुष्य । मनसे मनुष्य बना । मनुष्यके मनसे श्रेष्ठ किसीका मन नहीं होता । भले ही लोग कहते हैं कि देवोका मन भी बहुत श्रेष्ठ है, बड़े-बड़े धर्मप्रसग मिलते हैं, तीर्थंकरके समवशरणमे देव जाते हैं, ढाई द्वीपके अन्दर जहाँ तीर्थङ्कर हो, धर्मात्मा जन हों उनके पास पहुँच जाते, क्षणभरका काम है । वहाँ धर्मका लाभ लेते हैं, इतना सब कुछ होनेपर भी देवोके मनमे सयम झेलनेकी शक्ति नहीं है, वे सयम नहीं पाल सकते, श्रुतकेवलीपन उनको प्राप्त नहीं होता, कैसा हो कितना ही मन हो । तो यह मनुष्य तो श्रेष्ठ मन वाला है, अब इस मनका उपयोग खोटे मार्गमे क्यो किया जाय, सन्मार्गमे क्यो न किया जाय ? पाया है नरभव, हुए हैं मनुष्य । तो एक यह सबसे बड़ी भारी सुविधा इस जीवको मिली है । अच्छे मनुष्य भी होते और बुद्धिहीन होते । जैसे अनेक छोटे लोग, बुद्धिहीन जन, भिक्षुकजन आदि ऐसे मनुष्य होकर कुछ लाभ ले पाते क्या ? तो देखो हम आपको कितनी बडी सुविधा प्राप्त हुई है इस मनुष्यभवमे कि मनुष्य हैं और तिस पर भी हम बुद्धिसम्पन्न हैं । बुद्धिसे हम बहुतसे निर्णय कर लेते हैं । तो ऐसा अवसर आज हम आपको प्राप्त हुआ है । इस सुविधासे हम लाभ तो लें, उत्तम देश मिला, जहाँ अहिंसा धर्म का प्रचार चलता है, उत्तम कुल मिला जिसके पुरखे धर्मवासनामे रत रहा करते थे और अधिक नहीं तो अपने पूर्वज माता-पिताके चरित्रको देख लो । लगते थे ना धर्ममे । सरल बुद्धि

थी ना ? जो धर्म-परम्परामें चल रहे थे और, और जो गुरुजन मिले है उनकी बात देख लो। एक विशुद्ध धर्मध्यानके लिए जिनकी उमंग थी। पुराने पुरखे तीर्थंकर आदिकको देख लो। तो हम आपको कुल अच्छा मिला, सुविधा भी अच्छी मिली। कोई भूखों नही मर रहे है। कुछ न कुछ रोजिगार है, व्यापार है, जीवन ठीक ठीक चलता है, सुविधायें सब मिली हैं और सत्संग भी मिला है। ज्ञानी विरक्त साधु संतोका जब चाहे समागम भी मिलता है और ज्ञान भी विशेष है। जानते है, समझते हैं, युक्तियाँ लगाते हैं और ये हमारे सब कुछ है और फिर इतनेपर भी अगर रुग्ण रहे, चल फिर न सके तो भी तो एक असुविधाकी बात है। तो देखो आरोग्य भी मिला है। वैसे तो कोई भी मनुष्य पूर्ण निरोग नहीं है। शरीरमें जितने रोम हैं उतनेसे भी अधिक रोग हुआ करते हैं। कोई पुरुष निरोग नहीं है, फिर भी जिसमें जीवन चले, काम चले, पौरुष चले, बाधा न आये, ऐसा आरोग्य भी सबको मिला हुआ है। इतनी सब सुविधायें मिली हैं। इनको पाकर भी यदि हम आत्महितका वास्तविक काम नहीं करते हैं तो यह हमारी चतुराई नही, किन्तु मूर्खता है, मूढ़ता है याने ऐसी व्यामोह बुद्धि छा गई है कि हम अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सकते।

सुखकी विडम्बनाका भी मोह छोड़कर ज्ञानाराधनामे लगनेका कर्तव्य—सुखको न ललचावें। सुखमें भी विडम्बना है। दुःखसे भी न घबड़ावें। दुःख तो आत्मापर आता ही नहीं है। यह तो बाहरी घटनाओमे कल्पनायें बना बनाकर अपने पर दुःखका पहाड़ लाद लेता है। न तो सुख है, न दुःख है। मेरा तो एक सहज आत्मस्वरूप है। वही शरण है। उसकी ही उपासनामे समा जाय। बस ऐसा कर लिया तो सही है और न कर सके तो वही विडम्बना चलती रहेगी जो अनादिकालसे धारा प्रवाह चली आयी है। और जिसमे अब तक भी हम सतप्त रहे, विडम्बनामें रहे, जिससे इस जीवका भला नहीं है। यदि यह विडम्बना समाप्त करना है तो आत्माके धर्मस्वरूपकी दृष्टि करें, धर्मपालन करें। धर्मपालन बिना अपना कोई शरण नहीं है। धर्म ही वास्तविक अपना सहाई है।

( १३ )

मेरेमे मेरे निमित्तसे विकार होता नही, मात्र कर्मविपाकका प्रतिफलन चेत्य होता, अनिवारित चेत्यचेतक सम्बन्धपर मेरा क्या वश, मेरी क्या करतूत ? मै तो नोकर्मका आश्रय न कर कर्मविपाकका सम्पर्क तजककर सहज प्रसन्न रहूंगा।

परसगप्रसगमे हुई मलीमसताका समीक्षण—हम सब अपने आपके आत्माके अन्दर क्या होता है, इस पर कुछ चिन्तन करें, परख करें। मेरे आत्मामें दो प्रकारकी परिणतियाँ ही हो सकती है—एक तो मलीमसता की परिणति और दूसरी प्रसन्नताकी परिणति। कभी

हम मलिन होते हैं और कभी हम प्रसन्न होते हैं। जब जब मलिन हैं तब तब हम अप्रसन्न हैं, दुःखी हैं और जब मलिनता नहीं है तो हम प्रसन्न हैं, शान्त हैं। तो वह प्रसन्नता कैसे मिले, यह समझनेके लिए पहले यह समझें कि यह मलीनता मुझमे कैसे होती है ? अपने स्वरूपको निरखो तो यह एक चेतनामात्र है। ऐसा अमूर्त पदार्थ कि जो चेतना रससे भरपूर है, जैसे आकाश है अमूर्त है और वह अवगाहनमें हेतु होता है। एक अजीव पदार्थ है। तो जैसे अमूर्त भी कोई पदार्थ होता है, अमूर्तपना होकर भी अस्तित्व होता है, ऐसे ही जैसे धर्म, अधर्म, आकाश काल, द्रव्य हैं उसी प्रकार अमूर्त यह आत्मद्रव्य है। इसमें चैतन्यरससे भरपूरता है। ऐसा एक विलक्षण पदार्थ जो निरन्तर चेतते रहनेका काम करता है उस पदार्थमे यह विकार मलीनता आयी कैसे है ? तो एक साधारण नियम है कि किसी भी पदार्थमे मलिनता विषमता आयी तो उस विषमतामे यह खुद निमित्त नहीं हो पाता। कोई भी पदार्थ खुदकी मलीनतामे खुद निमित्त नही हुआ करता। यदि खुदके विकारमे खुद ही निमित्त हो तब तो लुटिया डूब गई। कभी विकार हट ही नहीं सकता। फिर तो मोक्षमार्गकी चर्चा ही क्या की जायगी ? मुक्ति कभी सम्भव ही नहीं, चेतन हो, अचेतन हो, कोई भी पदार्थ उसमे यदि विकार होता है तो वहाँ परसग ही निमित्त है, स्वयं निमित्त नहीं है। इस बातको बडे-बड़े अध्यात्मशास्त्री श्री आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र सूरि, जिनसेनाचार्य आदि सब एक स्वरसे बतला रहे हैं कि किसी भी पदार्थमें विकार होता तो उसमे खुद निमित्त नहीं, किन्तु परसग ही निमित्त है।

परसगमे ही उपादानमे विकारकी सभवता—अब यहाँ कोई यह देखे कि जिसमें विकार हुआ है तो है तो उसका ही परिणमन। उसमे यदि विकाररूप परिणमनेकी योग्यता न हो तो कैसे विकार हो जाय ? यह भी एक तथ्य है, पर इसका कोई ऐसा एकान्त करले कि जितने विकार होते हैं उसमे कारण केवल अपनी योग्यता ही है। परनिमित्तका सगरूप कारण कुछ नहीं है। तो यह बताये कोई कि सदा ही योग्यता क्यो नहीं निभली ? यदि मात्र अपनी योग्यतासे ही विकार हुआ, हुआ योग्यतासे ही, मगर मात्रका अर्थ है कि परनिमित्त सन्निधानकी कुछ बात ही नहीं है। वह आवश्यक ही नहीं। हो तो क्या, न हो तो क्या ? और यदि मात्र योग्यतासे ही विकार बने तो यह योग्यता सदा क्यो न चले ? सदा क्यो नहीं विकार होते ? तो योग्यतामे भी तो यह प्रश्न होता कि योग्यता सदा क्यो नहीं ऐसे विकार की रहती ? कोई कहे—वाह ऐसी ही योग्यता है तब तब तो यह कोरा एक हठवाद है। कार्य-कारणको जिस प्रकार आगममे कहा, दार्शनिक शास्त्र कहते हैं उन युक्तियोसे सोचना तो पड़ेगा। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि निमित्तसन्निधानमे विकार हुआ तब भी विकार निमित्त

की परिणतिसे नहीं हुआ। जिसमें विकार हुआ उसकी परिणतिसे ही हुआ। पर खुद खुदके विकारमें निमित्त नहीं हो सकता। तो मेरेमे जो विकार जगा वह मेरे निमित्तसे नही जगा। है मेरेमे वह झलक पर उस झलकका मात्र मै ही कारण हूं, निमित्त हूँ, दूसरा कोई निमित्त नहीं, यदि ऐमा होवे तो यह प्रसग आयगा कि सदा विकार हो, सदा योग्यता रहे ऐसी। परन्तु विकार मेरे निमित्तसे नही होता। उसमे निमित्त क्या है ? पूर्वमें बाँधे हुए कर्मका विपाक।

निमित्तनैमित्तिक भावकी वस्तुस्वातत्र्य होनेपर ही सभवता--यहीं देख लो--लालटेन जल रही, और इतने पदार्थ प्रकाशित हो रहे तो पदार्थ जो प्रकाशित हो रहे हैं तो वे खुद अपनी अन्धकार-अवस्थाको तजकर अपनी ही प्रकाशपर्यायसे प्रकाशित हो रहे हैं देखो यह भी तो प्रत्यक्ष है। युक्तिजन्य है कि प्रकाशक दीपकका सन्निधान न हो तो यह निश्चित नहीं होता। अनेक बार देख लो--युक्तिसे। अब एक द्रव्यकी दृष्टि रखकर यही बात कहे कि जब प्रकाश होना होता तब प्रकाशित होते, जब नहीं होना होता तो नहीं होते। तो ऐसी केवल एकान्ततः एक उपादानकी दृष्टिसेही कथन करें तो वह आगमसम्मततो न हो जायगा। यह नैमित्तिक भाव हैं, यह औपाधिक भाव है, अन्यथा जगतकी व्यवस्था नहीं रह सकती और फिर देखो निमित्तनैमित्तिक भावका रोज तो सदुपयोग करते ही हैं, नही तो भूखे बैठे रहते। जिस-जिस विधिसे जो बात बनती वह उसी विधिसे बनती। रोज चूल्हा जलता, सिगड़ी जलती, रोटी सिकती, सारा समान बनता, यह बात तो आप रोज-रोज करते, पर तथ्यकी बात है तो दोनो। पदार्थमे अपनी परिणितसे, अपनी योग्यतासे विकार बना यह भी तथ्य है और परसगका निमित्त पाकर बना, यह भी तथ्य है। अब दोनो तथ्योंमे से एक ही तथ्यका कोई एकान्त करे तो उससे कोई ठीक राह नही मिलती। जैसे कोई एकान्त करता कि बस्तुकी योग्यतासे ही विकार जगते हैं और कोई ऐसा एकान्त करे कि ये निमित्तसे ही विकार जगते हैं तो दोनोका अपलाप मिथ्या है। वहाँ यह समझना चाहिए कि अनुकूल निमित्तके सन्निधानमे पदार्थ अपनी योग्यतासे विकाररूप परिणम गया है। तो यहाँ प्रकृत में वह बात समझनी है कि मेरेमे जो कषायें जगी, विकार जगा, उसमे निमित्त मैं नही। यह तो कर्मविपाकका निमित्त पाकर हुआ।

कर्मविपाकका सन्निधान होनेपर उपयोगमे उसके प्रतिफलनकी अनिवारितता--अब यहाँ ही समझनी है बहुत कुछ बात। पूर्वबद्ध कर्म जब उदयागत हुए तो उनमे उनके विपाककालमे और चूंकि यह आत्मा बधनमे पडा हुआ है तो कर्मविपाक याने कर्मका अनुभाग जो खिला सो इसके उपयोगभूमिमें उसकी झाँकी अवश्य हुई, यहाँ तक बुद्धिपूर्वक कुछ काम नहीं

होता है । उपयोग जुड़नेकी बात नहीं है यहाँ तक । जैसे अजीव अजीवमे निमित्त नहीं है, इसी ढग का कर्मविपाक और कर्मविपाकका प्रतिफलन इसमे ऐसा ही निमित्तयोग है । उपयोगी जुड़नेकी बात यहाँ नहीं है। अब देखिये उस कर्मविपाकके प्रतिफलन होते ही ज्ञानका तिरस्कार हुआ भीतरमे यह जीव भड़का या इस जीवमे एक प्रकारकी भडभड़ाहट (घबड़ाहट) हुई या कुछ विलक्षण काम करने का उद्यम बनता है तो यहाँ जब कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ और उससे ज्ञानस्वभावमें तिरस्कार हुआ तो इसमे भडभड़ाहट हुई और उस समय इसको वही सूझा । ये ससारके जो नोकर्म हैं, आश्रयभूत पदार्थ हैं, उपचरित निमित्त हैं, इनमे उपयोग जोड़ूँ, उससे मेरेको शान्ति मिलेगी । ऐसी इसमे एक परिणति हुई, तो इन बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोडा, उपयोग जोड़ा तो बुद्धिपूर्वक काम हुआ और उपयोग न जोड़े तो वहाँ कर्मविपाकका प्रतिफलन तो अनिवारित है और चेत्यचेतक सम्बन्ध होनेसे इतनी बात झलकी होती ही है, पर प्रतिफलन मात्र ही रहे तो इससे मेरेको सकट नहीं होता । वह अव्यक्त विकार रहा । सकट तो व्यक्त विकारमे पडा है । हालाकि अव्यक्त विकारमे मलिनता है और वही तो सबकी जड़ है, लेकिन, जो फूटा, जिसे कहते हैं बम फूटा, कोई आपत्ति आ गई तो वह हुई है बुद्धिपूर्वक उपयोगके करनेमे इस आश्रयभूत निमित्तमे उपयोगको जोड़नेसे । यहाँ ये बातें समझ लीजिए कि कर्मोदय आया और उसका प्रतिफलन आत्मामे हुआ । यहां तक तो कोई वशकी बात है नही । होता ही है ऐसा, दो द्रव्योका ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है, पर इसके आगे जो हम तिरस्कृत होकर, भड़भड़ाकर बाहरी पदार्थोंमे उपयोग जोड़ते हैं बस यहाँसे हमारी करतूत अपन आपका विघात करने वाली बन जाती है । तब हमे क्या करना ? यह करना है कि इस कर्म विपाकमे प्रतिफलनका जो नोकर्म है ये ससारके समस्त बाहरी उपचरित निमित्त हैं, इनमे मै उपयोग न. जोड़ूँ ।

आत्मकल्याणार्थीका लौकिक जनोसे निरालापन—देखो जिसको आत्मकल्याण चाहिए उसे तो जगसे निराला बनना पड़ता है । उसकी वृत्ति तो लोकसे विपरीत होगी । लौकिक जनोका तो इन बाहरी समागमो की ओर आकर्षण रहता है तो आत्मकल्याणार्थी इन सबको उपेक्षा करके निज सहजस्वभावकी ओर अभिमुख रहनेका प्रयत्न करता है । ज्ञानीकी वृत्ति विपरीत होती है । अज्ञानी पुरुष तो व्यवहार मे जगता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष व्यवहारमे सुप्त रहता है । अज्ञानी पुरुष तो परामर्थमे सोता रहता है, परमार्थकी सुध नहीं रहती है और यह ज्ञानी पुरुष व्यवहारमे सोता रहता है । ज्ञानीकी जगतके प्राणियोसे विपरीत वृत्ति होती है । ज्ञानीकी आन्तरिक विलक्षणता इतनी उमड़ उठी कि इसकी बाह्य क्रियावोमे भी विलक्षणता हो जाती है । मुनिराजका यही तो एक अध्यात्मसाधनाका मुद्रित रूप है लोग तो

बैठकर भोजन करते, और मुनिराज खड़े-खड़े। आप देख लो— मुनियोंकी गृहस्थ जनोसे कैसी उल्टी वृत्ति है ? अब कोई यह न सोचे कि आजकलके लोग तो खड़े-खड़े जूते पहने ही खाने लगे तो ऐसी तर्कणामें मत जावो। एक साधारणतया बात कहते है, और इस तर्कणामे भी जावो तो उनके उद्देश्यमे तो बड़ा फर्क है। जो आजकलके लोग खड़े होकर बड़े मौजसे खाते हैं तो यह तो उनको तफरी है और जो मुनि महाराज खड़े होकर भोजन करते तो उसका उद्देश्य क्या है ? एक तो उनको इतनी फुरसत नही है अपनी आत्मक्रीड़ासे अलग कि वे मौजसे बैठकर अधिक समय लगाकर खायें। दूसरी बात--एक आसनसे खड़े होकर भोजन खानेमें भरपेट भोजन नहीं होता। और उनका ऐसा ही ख्याल है कि भरपेट भोजन करना, यह भली बात नही है। प्रमाद आये, रोग जगे और व्यर्थका विकार बने। अलौकिक वृत्तिकी बात कह रहे हैं। लौकिन जन तो लोगोसे, सयमी जनोसे सम्भाषण कर-करके अपना दिल ही बहलाते हैं, पर मुनिजन असंयमी जनोसे सम्भाषण नही करते। किसी प्रकारका कुछ भी तो संयम हो और प्रयोजनवश ही कभी असयमी जनोसे बात करते हैं, अलौकिकी वृत्ति है ज्ञानकी दृष्टिमे। देखो तो अज्ञानीकी और ज्ञानियोकी अलौलिकी वृत्ति है। अज्ञानी तो विषय-साधनामें आसक्त रहते हैं और ज्ञानी जन इन साधनोसे अतीव विरक्त रहते हैं। अज्ञानीका स्वभावदर्शन में मन ही नहीं होता, और ज्ञानी जन इस स्वभावदृष्टिको छोड़ना पसद नहीं करते। अब ज्ञानीकी, अज्ञानीसे बिल्कुल विलक्षण वृत्ति होती है।

कर्मविपाकके नोकर्ममे उपयोग न जोडने की महिमा—हां तो यह ज्ञानी पुरुष सोच रहा है कि कर्मविपाक हुआ, उसका प्रतिफलन हुआ, यहां तक तो मेरा कुछ वश नहीं, यह तो एक अनिवारित निमित्तनैमित्तिक योग है। जैसे अग्नि पर पत्ता गिरे तो वह जलता है, यह एक अनिवारित योग है। दर्पणके आगे कोई चीज आयी, प्रतिबिम्ब हुआ। तो जैसे लोकमें यह बात देखी जाती है, इसी प्रकार यहाँ यह बात बनी कि कर्मविपाक हुआ और उसका प्रतिफलन हुआ। चेत्यचेतक सम्बन्ध है हो, किन्तु इसके आगे कोई बढ़े याने उस कर्मविपाकके नोकर्ममे जगतके इन बाहरी पथार्थोमे अपना दिल जोड़े, उपयोग जोड़े तो इसको विकार जगता है। तो ज्ञानीका सकल्प है कि मै इन उपचरित निमित्तोमे उपयोग न जोडूंगा और जब उपयोग न जोडूंगा तो होगा क्या कि कर्मविपाकका जो प्रतिबिम्ब है, माया, छाया प्रतिफलन है उसका सम्पर्क छूट जायगा तब मै अपने आप प्रसन्न होऊँगा। प्रसन्नताका अर्थ है निर्मलता। जैसे किसीसे पूछा जाय—कहो भाई प्रसन्नता तो है ना ? तो कहते हैं कि खूब प्रसन्नता है, खूब मौज है, खूब आनन्द है, खूब खाने-पीनेका साधन है, बड़ा ठाट-बाट है। अरे प्रश्नकर्ताने तो यह पूछा है कि आपमें प्रसन्नता याने निर्मलता है कि नहीं ? लेकिन

उत्तर देता है मलिनताका। तो बस फर्क यहीं डालना है कि हम अपने सहज ज्ञानस्वरूपको निरखकर यहाँ ही प्रसन्न रहे और बाहरी पदार्थ इस उपचरित निमित्तमे अपना उपयोग जोड़ें, इसमे हम आपका कल्याण है।

( १४ )

**मेरा प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य एक ही है—ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन होओ, अब कहीं भी विसम्वाद नहीं, मुझको तो सर्व घटनाओमे यही यहा प्रयोजन दिखता है, बस मेरा कर्तव्य तो ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमना ही है, अन्य कुछ नहीं।**

ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन होते रहना ही ज्ञानीका प्रयोजन—यहाँ इतनी बात तो समझनी होगी कि मै रह रहा हूं, मैं हूँ तो मेरा प्रयोजन क्या होना चाहिए ? मेरा प्रयोजन, मेरा लक्ष्य, मेरा उद्देश्य, मेरा प्रोग्राम, मेरेको करना क्या है, ऐसा लक्ष्य हमारा क्या हो कि मेरा ज्ञान मात्र ज्ञानरूपसे परिणमे। मेरे ज्ञानमे अटपट अनेक कल्पनायें न जगें। ये कल्पनायें जो लावारिस हैं, ये उठ उठकर इस जीवको परेशान करती हैं, घोटती रहती है, तो मेरा लक्ष्य होना चाहिए यह कि मेरे ज्ञानका बस ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, ऐसा जब एक सकल्प हो जाय और अपना दृढ निश्चय हो जाय तब फिर अपनेको कहीं विसम्वाद न जचेगा। बाहरमे जो होता है सो हो। मेरेको तो मेरेमे खुश करना है, बाहरमे कुछ करनेको नहीं पड़ा। अब इस ज्ञानी के लिए कहीं भी विसम्वाद नहीं है, सर्वदशाओमे, सर्व क्षेत्रमे, सर्व घटनाओमे केवल एक यही प्रोग्राम, यही लक्ष्य रहता है कि मेरा तो ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, यही यही निरन्तर प्रयोजन इस ज्ञानी पुरुषमे विदित होता है। अज्ञानका अधेरा एक इतनी बड़ी बिडम्बना है कि उसमे यह जीव विडम्बित होता है, मायने पागलसा रहता है। पर्यायमे यह कुछ चाहे तो वहाँ अटपट और विभिन्न अनेक बातें बनती है, बस यही तो पागलपन है और एक अपने द्रव्यस्वरूपको देखें, स्वभावको परखें तो वहा केवल एक ही निर्णय है कि यह मै हूँ और ऐसे भावसे रहना मेरा काम है। एक निर्णय रहे, वहाँ किसी प्रकारकी विडम्बना नहीं है। तो अपना प्रयोजन यही मात्र हो कि मेरेको तो केवल बस यही चाहिए कि मेरा ज्ञान स्वच्छ रहे। ज्ञान केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेका ही परिणमन करे। इसके आगे मुझे कुछ न चाहिए।

एक निज लक्ष्यकी उपयोगिता—भैया ! एक बात चाहो तो सर्वसिद्धि होगी, अनेक बातें चाहो तो उनमें एक भी न मिलेगी। एक कथानक है ऐसा कि एक मनुष्यको देवता सिद्ध हो गया तो प्रसन्न होकर उस देवताने कहा कि तुम जो चाहो एक चीज माग लो। तो उस पुरुषने कहा—अच्छा कल मांगेंगे। वह अपने घर पहुचा और स्त्रीसे कहा कि हमे देवता

सिद्ध हो गया है, बोलो क्या मांग लें ? तो स्त्रीने कहा—एक बेटा मांग लेना, उसके कोई बेटा न था। मांसे पूछा क्या मांगें तो मांने कहा हमारी आँखें मांग लेना, क्योंकि वह स्वय अधी थी। पितासे पूछा क्या माग लें ? तो पिताने कहा धन मांग लेना, क्योंकि उसे धन बहुत प्यारा था। देखिये—पिताको धन ही धन सब कुछ दिखता है। आजकल शादी विवाहमें जो दहेजका इतना विस्तार बढ़ा है वह पिताके कारण बढ़ा है। लड़ ..की दृष्टि धनपर नही होती। तो वह पुरुष सोचने लगा कि मै क्या मांगू ? आखिर सोचते-सोचते उसे एक बात ठीक सूझ गई। जब देवताने कहा—मांगो, तो वह पुरुष बोला कि अच्छा मै तुमसे यह मांगता हूँ कि मेरी मां अपने पोतेको सोनेके कटोरेमें दूध पीता हुआ देख ले। लो इस एक ही बातमें सभी चीजें आ गईं ! खैर, यह तो लौकिक बात है। वास्तविकता यह है कि केवल एक लक्ष्य हो तो अपने आपको सहज चैतन्य स्वभावरूप प्रतीतिमे रखना—मै यह हूँ। सारे सकट मिट जायेंगे, कर्मका प्रक्षय होगा, रत्नत्रयका विकास होगा। जो बात भलेके लिए चाहिएँ वे सब अपने इस श्रद्धाकी दृढतापर होने लगेंगी। तो जीवनमें एक ही प्रोग्राम रहना चाहिए।

बाह्य परिस्थितियोंकी भी उपेक्षा करके ज्ञानकी विशुद्ध वृत्तिके लक्ष्यमे रहनेका अनुरोध—यद्यपि गृहस्थके गृहस्थी है, परिस्थिति है, कुछ सोचना तो पड़ता है, कुछ करना पड़ता हैं, मगर भीतरी प्रोग्राम केवल एक रहे, बस मुझको तो मुक्त होना है। "मुझे न है पर का पतियारा, मुक्तीका प्रोग्राम हमारा।" एक ही बात। मेरा तो प्रोग्राम मोक्ष जानेका है। मनमें यह बात बसी हो कि मेरा प्रोग्राम तो मोक्ष जानेका है तो उससे फिर विसम्वादकी वृत्तियां न जगेंगी। तो लक्ष्य शुद्ध करना एक यह बहुत बडा काम है। जिसका लक्ष्य शुद्ध नही है, वह कितनी ही चेष्टायें करके भी अपने हितको नहीं प्राप्त कर पाता। लक्ष्यविहीन पुरुष इस तरहसे अपनी नाव खेता है कि जैसे कोई नाविक रातको नाव तो खेवे, पर यह ध्यानमें न रखे कि हमे किस ओर जाना है तो बस थोडा इस दिशाको खेया, थोड़ा दूसरी दिशाको खेया, यो चारो दिशाओमे नाव भटकती रही, किसी भी किनारे न पहुच सकी, नाव मझधारमें ही पड़ी रही। ऐसे ही हमे बनना क्या है, चाहना क्या है, रहना किस तरह है, अपने आपमे ज्ञानको किस तरह बर्तना है ? यह जब निर्णय ही नही कर पाया तो फल क्या होता है कि इस विषयसाधनामें भटक-भटककर कल्पना, सुख और दुःख इनमें ही भटकता रहता है और ऐसी ही विडम्बनामे अपना यह जीवन गंवा देता है। तो अपना प्रयोजन शुद्ध बनायें। यह ही काम है इस जिन्दगीमे करनेके लिए कि मेरा ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूपसे परिणमन किया करे। हममें रागद्वेष, लालच, ईर्ष्या, कषाय—ये न आयें और मै अपनी शुद्धबर्तना मे ही रहूँ, जाननहार ही रहूँ तो इसमें ही मेरा हित है और ऐसा ही मै करूँगा, ऐसा दृढ़

सकल्प हो। मै इन नोकर्मोमें, उपचरित निमित्तोमें उपयोग न जोड़ूँगा और इस कर्मविपाकके प्रतिफलनको मै व्यर्थ बनाकर अपने आपमे प्रसन्न होकर मोक्षमार्गमे ही रहूँगा।

( १५ )

दृष्टिमें तो आहीगया कि मुझे इसअन्तःस्वरूपमें ही रहना है, नहीं रह पाता, यह कर्मलीलाका विलास है, होओ घबड़ानेकी बात नही। दृष्टि और कर्मलीला–इन दोके सग्राम मे आखिर दृष्टिकी विजय होगी।

ज्ञानकी स्वरूप मग्न होने के कर्तव्यका दृढ निर्णय—सबको यह बात इष्ट है कि मेरे को शान्ति सुख प्राप्त हो और जितने भी उद्यम किये जाते हैं, वे इसी प्रयोजनसे किये जाते है कि मेरेकोशान्ति मिले। लेकिन यह बात निश्चित है कि हम यदि अपने आधारको, स्वरूपको न देखकर किसी भी बाह्यपदार्थमे कुछ तर्कणा करें, विकल्पकरें, तो वहाँ शान्ति नहीं मिलती और समग्र नोकर्मके उपयोग छोड़कर अपने एक अन्तःस्वरूपमे विश्राम करें तो शान्ति मिलती है। यह बात ध्रुव सत्य है। जो इस उपायको कर लेगा उसका यह जीवन सफल है। और जो अपने इस उपायको न करे, मात्र केवल बाहरी बातोमे, विकल्पमे ही अपना उपयोग भट-कायगा उसको शान्ति भी नहीं अगला भव भी उत्तम न मिल पायगा। तो जरा अपने आपपर दया करके अपने हितकी बात बिचारिये। अपनेको सुनानेकी बात कही जा रही है। अपनी दया किसमे है ? इस वक्त भी शान्ति मिले, इस भवसे मोक्ष तो होता नहीं, क्योंकि संहननहीन है, उसप्रकार इतना बड़ा व्रत, तप, संयम बन नहीं पाता, तो अगला भव तो मिलेगा कोई। वह भव उत्तम मिले जिससे धर्मका वातावरण मिले और अगले भवमे धर्मका वातावरणपाकर अपने स्वरूपकी आराधना दृढ़ बना लूं। यह एक मनमे बात होनी चाहिए। दूसरी बात को मनमे स्थान न दें हां तो जब यह निर्णय करने लगे कि मेरेको अपने स्वरूप मे रहने का ही काम उत्तम है। और इसके लिये भेदविज्ञान वस्तुस्वरूपका खूब मनन करकर इस बात के निर्णय मे आ गए हैं और यह बात दृष्टिमे भी आ गई है कि एक आध बार अनुभव भी बनता है कि मेरा कल्याण तो मेरे अन्तःस्वरूपमें रहनेका ही है। तो इस निर्णयके बाद फिर दूसरी बात चित्तमे नहीं आया करती कि मेरेको लोकमे कुछ और भी काम करना है। बस काम है तो एक ही—मेरेको अपने स्वरूप मे गुप्त होना है।

स्वरूपदृष्टि वलसे स्वरूपमग्नताबाधक कर्मलीलाविलासके समापनकी सभवता—अपनेको अपने स्वरूपमे लीन होना है, ऐसा निर्णय करने पर भी यह जीव अपने स्वरूपमे लीन नहीं हो पाता। अपने अतःस्वरूपमे न उपयुक्त रह सके, इसका कारण क्या है ? यह एक कर्मलीलाका विलास है। कौन ज्ञानी नहीं चाहता कि मैं एकदम तुरन्त अपने स्वरूपमे लीन

रहकर शान्त रहूँ, ऐसा प्रत्येक ज्ञानी चाहता है किन्तु जहाँ तक ज्ञानीके प्रमाद है चौथे, ५वें, छठवें गुणस्थानमें वहाँ यह जीव कहाँ रह पाता स्वरूपमे ? झांकी होती है, तभी स्वानुभव भी होता है, मगर कितनी देरके लिए? क्षण भरके लिए । यह अपने स्वरूपमें तो नही रह पाता, तो इसमे कारण क्या ? भले ही यह कहा जायेगा कि अपनी कमजोरी कारण है, पर ऐसी कमजोरी क्या मेरे स्वरूपकी बात है ? नहीं है । तो कमजोरी ऐसी क्यों आयी ? तो आखिर उत्तर देना होगा कि यह सब कर्मलीलाका विलास है । पहले बाँधे हुए कर्म उदय में आये, उदयागत कर्ममें जो अनुभाग खिला उसका प्रतिफलन हुआ और चूंकि अभी सामर्थ्य नहीं जगी, विकास नहीं जगा तो इसमें विकार बन रहे है, ऐसा यह कर्मलीलाका विलास है, जिसका निमित्त पाकर यह मै जानकर भी अपने अन्तःस्वरूपमें मग्न नहीं हो पाता । फिर भी ज्ञानबल तो मिल गया । सहजस्वरूपमें दृष्टि दें, उमग उस ओर ही सुध करें । कर्म-लीलाविलास दूर हो जायगा निर्णय रखें मेरेको जगतमें कोई दूसरा काम नहीं पड़ा करनेका ।

अपनेपर अपना उत्तरदायित्वकी सम्हालका कर्तव्य—देखो अपनी जिम्मेदारी अपने आत्मापर ही है । किसीका कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं । दूसरे लोग जिसको हम अपना मित्र समझते, बन्धु समझते वे लोग तो एक कषायके बढ़ानेमे और कषायपर कषाय चढ़ानेमें ही उद्यम किया करते हैं । वीतराग भावमें लगानेका उद्यम करने करानेमें कोई निमित्त है तो देव, शास्त्र, गुरु । देव, शास्त्र, गुरुको छोड़कर अन्य जितने भी लौकिक समागम हैं वे समागम इस आत्माके कल्याणरूप नही हैं । हाँ तो ज्ञानीने जाना, अनुभव भी किया कि निज सहज आनंद-स्वरूपमे अपने ज्ञानको जुटा देना, यह ही एक शान्तिका मार्ग है, पर यह मार्ग जानकर भी इस मार्गपर चल नहीं पा रहा और भीतर ही भीतर एक अपनी इस निर्बलतापर घबड़ा रहा है । क्या इसी प्रकार ससारमे रुलता चलेगा या इसी प्रकार इन उपचरित निमित्तोमें उपयोग को भटकाते रहना पडेगा । ज्ञानीको घबराहट है तो यही है । यह है एक मीठी घबराहट आत्मकल्याणके लिए । सो जरा पुनः ज्ञानबलका प्रयोग करो और सोच लो घबराहटकी बात नहीं है । अपना उपयोग अपने सहज अतःस्वरूपमे ले तो इसमे ही कल्याण है । नहीं हो रहा आज यह परमकर्तव्य, तो घबड़ावो मत, क्योकि दृष्टि इसको प्राप्त हो रही । आत्माके स्वरूपकी दृष्टि इसको मिल गई है । अब घबराहटकी बात नही है, क्योकि अब तो दो का तो सघर्ष चल रहा है ना ? दृष्टि और कर्मलीलाका । पहले बाँधे हुए कर्म उदयमें आते हैं, उनका अनुभाग खिलता है, ज्ञानका तिरस्ककार होता है और यह अविकार स्वरूपसे हटकर उपचरित निमित्तमें लगता है, ऐसा सब कुछ होनेपर भी अगर दृष्टिका बल मिल गया है, निज सहज-स्वरूपकी उपासनाका बल प्रकट हो गया है तो विजय इस दृष्टिकी ही होगी आखिर, क्योंकि

दृष्टि है अपने कुल, वंशके अनुरूप और यह विभाव है, कर्मविपाक है, विकार है, यह मेरे कुल के विरुद्ध बात, अन्य बात है। अन्य बातें सबल नहीं होतीं। अपने ही अपनेमे रहने वाला सामर्थ्य सबल हुआ करता है।

स्वरूपदृष्टि द्वारा आत्मविजय पानेका सदेश— दृष्टि और कर्मलीला—इन दो का सग्राम चल रहा है ज्ञानीके। और अज्ञानी जीवके यह सग्राम है ही नहीं। वहाँ तो कर्मलीला का ही साम्राज्य है। उसके शुद्ध दृष्टि जगी ही नही तो वह तो अत्यत विडम्बनामे ही पडा हुआ है, लेकिन जिसने अपनी स्वतत्रता निरखी ऐसा ज्ञानी जीव अपने ज्ञानकी आराधनामे लगता है और पहले बांधे हुए कर्म कर्मोदयमे आते है तो उनकी लीलाका विलास भी चलता है। तब यहाँ द्वन्द्व मच गया आत्मदृष्टिमे और कर्मलीलामे, सो भले ही चल रहा द्वन्द्व, लेकिन जिसने आत्मस्वरूपकी सम्हाल की, तब वह द्वन्द्व भी निर्बल हो जाता है और कभी निकट कालमे ही यह सब कर्मलीला समाप्त हो जायगी। इससे धैर्य धरो, विश्वास रखो, मेरेको निज सहजस्वरूपके अनुभव करने वाली दृष्टि मिली है तो विजय इस दृष्टिमे हो होगी। और दृष्टि विजयके मायने क्या हैं कि ससारके समस्त सकटोसे छुटकारा मिल जायगा। इसके लिए मनन करें कि मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, मेरा निज स्वरूप ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानमे किसी अन्य के स्वरूपका प्रवेश नहीं है। बस यह ही ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाय, इसीके मायने है आत्म-विजय। दृष्टिको सम्हालें और अपने आत्मापर विजय प्राप्त करें और ऐसा पवित्र काम करते हुए इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल बनावें।

( १६ )

नोकर्ममें उपयोग जुड़नेके माध्यमसे ही कर्मफल व्यक्त होती है, अतः नोकर्मके सपर्क से अलग रहना भी एक पुरुषार्थ है, नोकर्मने उपयोग न जुड़े तो कर्म प्रतिफलित मात्र होकर निकल जायगा।

निज सत्य सहजभावके आग्रहसे कर्मपाशका विनाश— अब तकके कुछ ज्ञानपरिचयसे यह समझें कि इस जीवका किसी अज्ञात तत्त्वपर वश नही चलता, उसको करे क्या? जैसे कर्मोदय हुआ है, आत्मामें उसकी झांकी पडी है, इसे कौन मिटाने आयगा? वह तो निमित्त-नैमित्तिक भाव है अनिवारित, किन्तु उस कालमें हम अपने ज्ञानस्वरूपमें न टिककर जगतके इन बाह्य पदार्थोंमे उपयोग लगाते हैं, इससे कठिन क्लेश पाते हैं। तो यहाँ हमारा वश चल सकता है कि मै उन बाह्य पदार्थोंको प्रकट असार मानकर इसमे मैं अपना उपयोग न लगाऊँ, यह बात मै कर सकता हूँ। यह बात आप कर सकते हैं ज्ञानबलपर, सम्यग्ज्ञानके बलपर वस्तुस्वरूपके निर्णयके बलपर। जगतमें जो भी सत् होता है वह अपनेमे पूर्ण स्वतंत्र है।

विकार भी होते तो उसमें अपनी कलासे विकार बना। उपादानमें कला है ऐसी कि वह अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर अपनेमें अपने स्वभावका तिरोभाव कर विभावका आविर्भाव कर लेता है, देखते जावो। सर्व पदार्थ स्वय अपने उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त हैं। उन पदार्थोंमें हम क्या कर सकते हैं ? एक विकल्प बनाते हैं, विचार बनाते हैं। विकल्प और विचार बनाकर हम अपना ही विघात करते हैं। कर्तव्य तो यह है कि मेरेमें एक भी विकल्प मत जगे। देखो सबमें हठ लगी है और सब अपनी-अपनी हठको पसद करते हैं। यह तो बड़ी अच्छी बात है। हम अपना कल्याण तो सोचें कि कहां है ? उसपर हम अपनी हठकर लें। सदा-कालके लिए झझट खत्म हो जायें। मेरा कल्याण है सर्वविकल्पको मिटाकर एक निज सहज चैतन्यस्वभावमे 'यह मैं हूँ', ऐसी हठ करके रह जाय, आग्रह करके रह जाय, इस पर ही डटकर रह जाय, मै तो एक शुद्ध चैतन्य प्रतिभासमात्र हूँ।

सहज सत्याग्रहीका चिन्ह ससारशरीरभोगनिर्विण्णता—हमने निज चित्स्वरूपकी हठकर ली, हम कैसे मानें, इसकी निशानी क्या है ? उसकी निशानी है कि फिर जगतके इन वैभवोमें आशा तृष्णा न जगे, किसी भी प्राणीसे रागद्वेष इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न जगे। हित मिलेगा तो इस समताभावसे मिलेगा। कषायमे हित न मिलेगा। तो देखो जो कषाय व्यक्त होती है वह कैसे व्यक्त होती है ? पूर्वबद्ध कर्मका यदि उदय आया और उस कालमे इस जीवने जगत्के इन बाह्यपदार्थोंमें अपना उपयोग फसाया, तकलीफ होने लगी, यदि सक्लेशसे, कष्टसे, विपत्तिसे बचना चाहते हो तो यह कर्तव्य है कि नोकर्ममें अपना उपयोग मत फसावें, ज्ञातादृष्टा रहे। यह सब अपनी परिणतिसे है, मेरेसे जुदा है। इसमें विकल्प लगायें तो उसमे मेरा हित नही है। इससे हटकर अपने सहजस्वरूपको मै हूँ, ऐसा मानूं तो उसमें हित है। क्योंकि सहजस्वरूपकी प्रतीतिसे अहित सब दूर हो जाता। अहित क्या-क्या है ? राग करना, द्वेष करना, अज्ञान छा जाना, विभिन्न कषायें बनना यह ही तो आत्माका अहित है। अहित निकल गया तो वहाँ अपनी आत्मदृष्टि है, उसमें आत्महित है। क्या करना ? बस सीधी बात है। कमसे कम इतना तो समझ लें कि मेरा मेरेसे बाहर कुछ नहीं है। इतना तो प्रयोग कर लें कि मुझको बाहरके किसी भी पदार्थसे लगाव नहीं रखना है। इतना तो ध्यान बना लें कि मुझको सारे विकल्पोसे हटकर एक निज चैतन्यस्वभावमें मग्न होना है। जिन-जिन जीवोंने मोक्ष पाया उन्होने यह ही तो किया। सर्व बाह्यपदार्थोंसे ममता हटायी और अपने सहजस्वभावकी आराधना की। ऐसा किये बिना मोक्ष नहीं मिलता और जो ऐसा करना चाहेगा। उसके व्रत तप सयम ये सब आयेंगे, क्योकि यह बहुत बड़ा काम है। ज्ञानी जीव सहज ही संसार शरीर भोगोंसे विरक्त रहता है। यही ज्ञानी पुरुषका चिन्ह है।

कषायोंकी बलि करके सहज चिस्स्वरूपकी आराधनाका महान् कार्य—अनादिकालसे इन विकारोका आदर कर करके विकारोको बढ़ाते रहे, इन विकारोको दूर करना है तो यह बहुत बड़ा भारी कार्य है, इस कार्यकी पूर्ति हमे सर्व उपायो से करना है। तो अंतरग उपाय तो है अपनेको सहजज्ञानरूपसे प्रतीति करना। यह हू मै और बाहरमे करना है पापका त्याग, कषायका त्याग। यह ही तो कहलाता है व्रत, यह ही कहलाया सयम। भला पाप करते हुएमें किसी ने सद्गति पायी। पाप क्या सद्गति का कारण है ? पापसे तो दुर्गति होती है। पाप हैं ५—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। हिंसा, बाह्य हिंसा व आन्तरिक हिंसा। दूसरेके प्राणोका घात कर देना, दूसरेका दिल दुःखाना, अपने आपको अन्यायमे लगाना, यह सब हिंसा है। झूठ–जो बात जैसी नहीं है वैसी बोलना, जो बात जैसी है उस प्रकार न बोलना, बात कुछ है और जमायेंगे उल्टी तो यह सब झूठ कहलाता है। अपने आपपर दया करना है। मेरा इस जगतमे दूसरा कोई रक्षक नहीं है। रक्षक तो क्या है ? पापकार्योंमे जुटाकर बरवादीके कारण बनाते हैं लोग। तो परसम्पर्क रक्षक नहीं, किन्तु भक्षक है। मेरेको अपने आप पर आस्था करनी है और अपने आपके ज्ञानके बलपर अपने को जीवनमे सुखी रखना है। जानें अपने उस विशुद्ध स्वरूपको, ऐसा जो उपयोग बनायगा वह पापसे हटेगा। यह ही व्रत बन गया। चोरी पाप—चोरी पाप करके कोई सुखी हुआ क्या ? चोरके निरन्तर शल्य रहती है। चोरी करे तो, डाका डाले तो, चोरी दोनो कहलाती हैं, डकैतीमे भी मालिकके मनको स्वीकारताके बिना द्रव्य दिया गया। तो वही चोरीमे हुआ, वही डकैतीमे हुआ, यह पाप है। चोरी डकैती करने वाले लोग क्या कभी सुखी रहे, क्या कभी धनिक बन सके ? अगर कोई धनिक बनेगा तो स्पष्ट रहकर बन पायगा। कुशील–पराई स्त्री निरखकर चित्तमे विकारभाव आना, परपुषको देखकर चित्तमे विरक्तभाव आना, देखो विडम्बना कहाँ बसी है ? बाह्य सम्पर्कमे नहीं, किन्तु भीतरकी दुर्भावनामें। प्रथम तो कामविकार ही पाप है, चाहे निज स्त्री और पतिके सम्बन्धमे हो, स्वभावसे हटकर विकारभावमे आया सो आत्मविघात है। उस कामविकारके समय यह सहज परमात्मत्त्व प्रभु आखिर ढक हो तो गया। तो कामविकार ही पाप है और फिर वह परस्त्री परपुरुषके बारेमे तो वह तो एक भयकर उत्पात है। क्या कुशील सेवन करते हुए कोई जीव सुखी रह सकेगा ? परिग्रहवाद–तृष्णा बनाना, हजार है तो लाख हो, लाख हुए तो करोड़ हो, करोड़ हुए तो अरब हो, ऐसी लालसा बनाना यह है परिग्रहपाप पापमें कोई सुखीरह सका क्या है ? पापका परित्याग करेगा कोई तो इसीको हो तो व्रत कहते हैं। यह ही तो नियमसयम है। नियमसयम बिना किसीका गुजारा चला क्या ? मानो भोजन करते हैं, ज्यादह खालिया, अब तकलीफ पाते हैं, रोग होता है, दिलमे घबड़ा-

हट होती है। अरे तो भाई, उचित खाओ, ऊनोदर करो और सुखसे रहो। खाता ही जाय कोई, रुके नही, ऐसा हो सकता क्या? रुकना पडता है, यह ही तो हो गया एक संयमका रूप। खानेका त्याग करना ही पड़ता है। तो अपने इन भावोको सयमश्रृगारसे सजा दें। और भीतरमें वस्तुके ज्ञानकी प्रगति बनावें, भीतरमें स्पष्ट प्रकाश पावें। भीतर हो ज्ञान-प्रकाश, बाह्य हो संयमी जीवन, तो बस जीवन सफल हो जायगा ।।

समाधियुक्त जीवन व समाधिसमरणका महत्त्व—भैया! यह आयु तो खत्म होगी किसी दिन आयु मिटेगी। इस आयुको रखनेमें कोई समर्थ नही। किसी भी संसारी जीवकी आयु सदा नहीं रह सकती। तीर्थंकर भगवान भी हों, आयुकर्म तो उनके भी था। उनकी आयुका विनाश हुआ, उसका नाम है निर्वाण, मोक्ष, मगर आयुका क्षय तो हुआ। छोटा हो, बड़ा हो जो भी है वह भवमें आया, जन्ममें आया।जिसने जीवन पाया, निश्चित है कि उस का मरण अवश्य होगा। उस मरणसे बचानेमें कोई समर्थ नहीं है। तो जब मरना पड़ेगा ही तो मानो १० वर्ष और जीवित रहकर मरे तो क्या और अब मरे तो क्या है? हाँ इतना फायदा जरूर उठा सकते कि रहे सहे जीवनमें हम ज्ञान और संयम–इन दो की आस्था बनायें और इन दोनोसे अपने आपको पवित्र कर लें तो मरण समतासे होगा, शान्तिसे मरण होगा और सद्गति प्राप्त होगी। देखो कमसे कम इतनी बात तो मजूर है कि नहीं कि हमारा मरण शान्तिमें हो। अशान्त भावमें मरकर मेरा मरण न हो। यह बात बतलाओ आपको पसद है या नहीं या घबड़ाकर दुःखी होकर संक्लेश करके, ममता करके, कषाय रखकर, विरोध रखकर, द्वेष रखकर मरण पसद है? अरे भाई मरण हो तो शान्तिसे। गया हुआ समय वापिस नही आता। बिगड़ा हुआ मरण फिर वापिस नहीं आता। जो मिला है समय, जो मिला है उसका सदुपयोग करें और मरण शान्तिपूर्वक हो, इतना तो सबको इष्ट है। इष्ट है तो उसका ही उपाय बनालें। बस यह ही तो धर्म है। शान्तिपूर्वक मरण हो, इसका उपाय बनावें कैसे हो शान्तिपूर्वक मरण? यो होगा कि जब तक यह जीवन है तब तक तो शान्तिपूर्वक रहलें। अगर जीवनमें शान्तिपूर्वक नहीं रहते तो मरणमें शान्तिकी आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि जो भाव बनाया, जिस भावको बढ़ाया, जिसभावसे प्रीति की वह भाव तो अपना प्रवाह बनायगा। अगर जीवन आकुलतामें ही गुजारा तो मरण समयमें फिर क्या शान्तिकी आशा करना? यद्यपि किसी किसीकी यह बातभी होती है कि जीवन कैसा ही खोटा गया हो, लेकिन मरणसे कुछ समय पहले इसका उपयोग सुधर जाता है, मगर यह तो बिरले ही पुरुषोके होता है। हम उनकी होड़ बनाकर अपनीइस जिन्दीको कषायोंके संताप मे, संक्लेशमें बितायें तब आशा न करें कि मरण शान्तिपूर्वक हो जायगा।

समागत प्राणियोमे मोह करनेकी व्यर्थता व अनर्थता जानकर निज सहजस्वभावमे उपयुक्त होनेका अनुरोध— **मरण होने पर यहाँ के सग साथी कोई साथ न जायेंगे, क्योंकि सभी जीव अपना-अपना सस्कार लिए हैं, अपना-अपना भाग्य लिए हैं, सो अपना संस्कार और अपने भाग्यके अनुसार ही उनका परिणमन होता है। मै किसे क्या करता हू ? मै अपना विकल्प बनाता और दुःखी होता हू और ये विकल्प बनते हैं पापबुद्धिसे। इस पापबुद्धिको मिटा दीजिए। सब जीवोमें सहज परमात्मस्वरूप है, इसका निरीक्षण करें, मिलेगा ज्ञान, मिलेगी अपनी सम्पन्नता। मै कहीं कुछ गरीब नहीं हू, जो मेरा स्वरूप है उसे मैं लिए हुए हू, ऐसा अपने आपमे ध्यान बनावें। मेरेको कहीं कष्ट नहीं। क्योंकि मेरा स्वरूप आनन्दमय है और वह आनन्दको ही बढ़ाने वाला है। उसमें कष्टका काम नहीं है। मै तो बहुत स्वच्छ स्वतत्र सुविधाओ वाला मौजूद हूं, मेरेमे विपत्तिका काम नहीं अज्ञान बसाते हैं और विपत्ति हमारे सिर पर आती हैं, तो उनको पाते रहना, भोगते रहना। इन बाहरी पदार्थोंसे उपयोग हटावें तो कर्मकी लीलाका विलास भी समाप्त हो जायगा। बस एक ही यह पौरुष करना है कि सच्चा ज्ञान जगावें और इन उपचरित निमित्तोमे अपना उपयोग न जुड़ावें।**

( १७ )

**किसी भी जीवको देखो, किसीसे भी बोलो, किसीसे भी व्यवहार करो, उसमे सहजपरमात्मस्वरूपका ध्यान पहिले कर लिया करो, पश्चात् जो व्यवहार करोगे वह स्वपर सतोषकारी व निरापद होगा।**

आत्महितके अप्रतिकूल सद्व्यवहारका परिचयन— **यह जीव जिस भवमे जन्म लेता है उस भवमे जिनका समागम मिलता है उनसे इसका व्यवहार चलता है। यह बात अनादि से चलती आयी है। जो व्यवहार करनेके अयोग्य हैं एकेन्द्रिय आदिक वे तो नहीं व्यवहार कर पाते हैं फिर भी सम्पर्क उनका भी रहता है दूसरोसे। तो अब अपनी बात सोचनी है। हम इस भवमे आये और यहाँ अनेकोका समागम मिला। रागद्वेष मोहवश उनसे व्यवहार किया करते ही हैं, पर यह तो विचारें कि अब तक अनेक व्यवहार कर करके भी कुछ सतोष आ पाया या नहीं। सतोष नहीं आ सका और जीवन कुछ और भी गुजरेगा तब भी संतोष न मिलेगा। तो बाह्य सम्पर्क, बाह्य समागम, परस्परका व्यवहार इनसे सतोष नहीं मिलता, फिर भी किए बिना भी नहीं रहता। जब मन, वचन, काय मिले हैं तो इनकी प्रवृत्ति तो होगी ही। कायकी प्रवृत्ति होगी तो उस देहसे परस्पर उपग्रह करना चलेगा। वचनकी प्रवृत्ति है उसमे भी कुछ उपग्रह चलेगा। मन मिला तो उससे भी सम्बन्ध बनेगा। तो चूंकि मन, वचन, काय मिले हैं तो उनकी प्रवृत्ति करता ही है यह जीव, सो व्यवहार बन जाता है। अब**

व्यवहार करते-२ भी विवाद रहे, विसम्वाद रहे, अशान्ति रहे, असतोष रहे तो अब क्या करना चाहिये ? तो भाई बात तो यह है वास्तविक कि व्यवहार न रहे। जो हम आपका दूसरेसे व्यवहार चल रहा उस व्यवहारकी बात कह रहे हैं कि ये सब मिटें, मन भी गुप्त, वचन भी गुप्त और काय भी गुप्त रहे पर इतना तो न बन सकेगा। गृहस्थावस्था में तो सम्भव है, तब क्या प्रवृत्ति करनी चाहिए उस प्रवृत्तिका इस निबधमे जिक्र है।

देखते बोलते समय व्यवहार्य प्राणीमे सहजपरमात्मतत्त्वका ईक्षण—देखो पहले यह जीव देखता है, फिर बोलता है, फिर कोई चेष्टा करता है, ऐसी ही तो बात पड़ी है मनुष्योंमें। तो प्रथम देखनेको ही सभाल लें तो बादकी बातें सब सभल जायेंगी। देखनेको किस तरह सभालें ? सम्यग्ज्ञान साथ रखें तो देखना संभल गया समझिये। जैसे जीवको देखो, सर्वप्रथम यह चिन्तन करें कि इस जीवमे सहजपरमात्मतत्त्व वही है जैसा मुझमे है, जैसा सबमें है। मूल चीज तो वही है जो सबमे पायी जाती है, ऐसी ही मुझमें है, ऐसी ही सबमें है। तो जो मौलिक बात है उसको हम मुख्यता बनावें देखकर और जो प्रायोगिक है, औपाधिक है, मायारूप है उसे प्रमुखता न देनी चाहिये। व्यवहार तो करना होगा। व्यवहार करते हुये भी प्रमुखता दें उस आत्माके सहज ध्रुव स्वरूपकी, जिसको मै देखता हूँ वहाँ भी सहज परमात्मतत्त्व है। देखो सहज परमात्मतत्त्वका अपमान न हो जाये, तिरस्कार न हो जाये, यह भी साथ में बुद्धि लगी रहेगी। जब जीवको सम्यग्ज्ञान होता है तो ये सारी बातें एक सहज हो जाती हैं। जब मिथ्या बोध होता है, भ्रम रहता है तब यह कुछ भी हितकी बात नहीं बन पाती। सर्वप्रथम जिसको देखें, देखते ही इतना ध्यान बना लें कि मूलमे तो यह भी सहज परमात्मस्वरूप है। अब अन्तर जो आया है, माया जो बनी है, पर्याय जो बनी है सो यह सब एक औपाधिक प्रसग है। तो देखते ही सर्वप्रथम सहजपरमात्मतत्त्व की सुध लें और जब बोलें तब भी यह ही सोचना कि उस एक सहजपरमात्मतत्त्वका जिसमें अधिष्ठान है उसको बोल रहा हूँ। मतलब यह है कि किसी जीवको तुच्छ न समझें।

स्वभावदृष्टिसे सबको समान समझकर व्यवहार करनेमे विवेक—कोई जीव तुच्छ न दिखें, इसका आधार क्या है ? जो दिख रहा है वह तो कोई तुच्छ है कोई महान है, बड़े विविध अन्तर पाये जाते हैं। बाह्य अन्तर भी और भीतरी अन्तर भी। कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई बलिष्ट है, कोई निर्बल है आदिक तो बाह्य अन्तर मिलते हैं, कोई ज्ञानी है, मूर्ख है, कोई कषायवान है, कोई उदार है आदिक भीतरी अन्तर मिलते हैं। तो पर्यायको देखने पर अन्तर जंचते हैं और उस दृष्टिमे तुच्छताकी दृष्टिसे हम अलग हो सकें यह बात कठिन है। तब जिसमें कोई जीव तुच्छ न जचे वह दृष्टि क्या ? वह दृष्टि है स्वभावदृष्टि।

जो भी जीव है वह अपने आप सत्त्वके कारण अपने सहजस्वरूपको लिये हुये है । उस स्वरूप में न कोई बढकर है, न कोई घटकर है । वह तो सब द्रव्यो मे एक समान रूपमे है, ऐसा सहज परमात्मतत्त्व दृष्टिमे आये तो कोई जीव तुच्छ न जचे । तो किसी जीवको देखें, किसीसे भी बोलें—उसमे परमात्मस्वरूपका ध्यान पहले कर लिया करें । इसके बाद जो व्यवहार होगा वह स्वयको भी सतोषकारक होगा और दूसरोको भी सतोषकारक होगा। यह जीवन कोई भरोसे वाला जीवन तो नहीं है । यहा कोई अनपवर्त्य आयु वाला नही है । आयु छिन्न हो जाय, उदीरित हो जाय, बीचमे कट जाय, ये सब बातें हो सकती है । पता भी क्या किसको, आज है कलका पता नही । ऐसे चचल जीवनमे हम अपने आपके दयाकी बात न करें और कषाय कर-करके अपने आपका विघात करें तो इसमे तो कोई बुद्धिमानीकी बात नही है । हम अपनेमे अपने आपके स्वरूपको निरखें और ऐसे ही सर्व जीवोमे उस स्वरूपको देखें और फिर तब व्यवहार करें तो उससे खुदको भी सतोष होगा और दूसरेको भी सन्तोष होगा । ऐसे ही व्यवहार मे आपत्ति नहीं होती ।

अकषाय आत्मस्वभावका आश्रय कर दु:खरूप सकल कषायोके उच्छेद करनेका कर्तव्य—ये कषायें कष् धातुसे बनी हैं। जो आत्माको कषे उसे कहते हैं कषाय । जो दु:ख दे, पीडित करे, सो सभी कषायोमे यह ही बात पायी जाती है । जब क्रोधप्रकृति का कर्मोदय होता है तब विषयभूत प्राणीको अनिष्ट करनेकी वासना जग जाती है और दूसरेका अनिष्ट न हो तब इस जीवको बडी बेचैनी रहती है। घमड आये तो जब तक सबसे ऊँचापन अपने आपकी समझमे न बैठे, लोग न मान लें तब तक इसे चैन नहीं होती । छल-कपट यह तो एक शल्य ही बताई गई है । उसमे अपने धर्मका प्रवेश ही नहीं है और तृष्णाका रग तो इतना गहरा है कि इसका समूल नाश तो १०वें गुणस्थानके अन्तमे हो पाता है । पहले होती है अन्य कषायें समाप्त और लोभ समाप्त होता है सबसे अन्त मे । कषाय मे जीवको आनन्द नही है । कषायें तजकर अविकार निजचैतन्यस्वरूपकी आस्था हो वहा इस जीव को आनन्दका लाभ है । तो ऐसे ही खुदको जानें, ऐसा ही दूसरे को समझें तो इस जीवको आपत्ति न आयेगी । तब हम अपने जीवनका बर्ताव कैसा बनायें ? दूसरोसे बोलें तो कम बोलें सोचकर बोलें, प्रिय बोलें, आदर देकर बोलें । आफत तो यह है कि जब जीवके कषाय जगती है तो इसकी सुध भी भूल जाती है, फिर भी यदि सस्कार रहे और इसकी स्मृति रहे तो इस पर कुछ बर्ताव हो सकता है । सबसे पहली बात है आदरपूर्वक बोलें, फिर वहाँ कभी आपत्तिकी सम्भावना ही नहीं । मनुष्यमे मानकषायकी प्रधानता बतायी गई है । मानपर विजय पानेसे सुबुद्धि और आस्था सबका निवास हो जाता है ।

नारक, तिर्यञ्च व देवोमे क्रोध, माया व लोभकी प्रधानतासे विडम्बना—नारकियों में क्रोधकी प्रधानता, तिर्यचमे छल कपटकी प्रधानता, देवोमे लोभकी प्रधानता और मनुष्योमे मानकी प्रधानता होती है। कषायें तो चारों गतियोमें है, मगर एक प्रमुखताकी बात कह रहे हैं। दूसरे देवकी सम्पदा देखकर छोटे देव मन ही मन झूर कर दुःखी रहते हैं। अरे एक भूख प्यास नहीं लगती देवोको इतनी ही तो सुविधा है और इस सुविधापर हजारों वर्षमें कहीं भूख लगतो, उस समय उनके कठसे अमृत झर जाता और वे तृप्त हो जाते। तो यह सुविधा मिली है देवोको, मगर मानसिक दुःख न आये, ऐसी उनके पास क्या औषधि है? लोभकषायका रग देवोमें भो चढा बढ़ा है। नारकियोमे क्रोध है। जैसे यहाँ एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर एकदम उसपर टूटता है। यदि दूसरे गाँवका कुत्ता निकले तो सारे कुत्ते उसके पीछे दौडते हैं ऐसी ही दशा नारकियोकी है। किसी नारकीको कोई दूसरा देख तो ले, क्रोध उमड़ता है और उसे चैनसे रहने नहीं देता। और क्रोधके औजार भी उनके पास ऐसे प्राकृतिक हैं कि उनकी कुल्हाड़ी वसूला, तलवार, चाकू आदिक कहीं बाहरसे लानेकी जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ तलवार आदिक किसी भी औजारका सकल्प किया और मारनेको हाथ उठाया तो वह हाथ ही औजार बन जाता है। कैसी अशुभ विक्रिया और कैसा वहाँ दुःखका स्थान, इन्हीं कारणोसे वहाँ निरन्तर बेचैनी रहती है। यहाँ तो किसीको मारना चाहे तो कहींसे लाठी उठायें, कहींसे चाकू, कहींसे कुछ। यों कुछ समय लगे, मगर वहाँ कुछ नही ढूंढना है। जो मनमें आया सो उनका शरीर ही बन जाता है। ऐसी कठिन वेदना है नारकियोंको। तिर्यञ्चोंका छल कपट, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। बगुला कैसा एक टांगसे खड़ा रहता है सरोवरके किनारे, पर जिसको राम लक्ष्मण सम्वादमे एक जगह कहा है। मानो वहाँ श्रीरामने कहा देखो यह बगुला कैसा एक टाँगसे खड़ा ध्यान लगा रहा है। तो वहाँ बताया कि अरे यह ध्यान नहीं लगा रहा है, यह तो मछलियोंको पकड़ पकड़कर खाने का उद्यम कर रहा है। छिपकलीको देखा होगा कैसी छिपकर बैठी रहती है और ४ ६ अंगुल दूर बैठे हुए कीड़ेपर एकदमसे टूट पड़ती है। बिल्लीको देखा होगा, चूहेको किस तरहसे छल कपटसे पकड़ती है। तो तिर्यञ्चोमे छल कपटकी मुद्रायें स्पष्ट दिखती है।

मनुष्योमे मानकषायकी प्रधानतासे विडम्बना और उसके उच्छेदसे सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति—अब मनुष्योंकी बात देखो, मनुष्योमे है मानकषायकी प्रवलता। इस मानकषायके पीछे तो अपना घर भो बिगाड़ देते हैं। एक घटना गुरूजी सुनाते थे कि टीकमगढ़की किसी सुनारिनके मनमें सोनेके बखौरा (आभूषण) बनवानेकी इच्छा हुई। स्थिति तो गरीबी की थी पर वह यह हठ कर गई कि हमें तो बखौरे ही चाहिएँ। आखिर पतिने किसी तरहसे काढ़

मांगकर करीब २५ तोलेके बखौरे बनवा दिये। अब वहाँ तो रिवाज था सारे शरीरको कपड़ोसे ढांककर चलने का, सो काफी दिनों तक उसके बखौरे किसीको दिखे ही नहीं तो फिर प्रशंसा कौन कर सके ? वह मन ही मन कुढ़ती रही। एक बार उसे ऐसा क्रोध आया कि उसने अपने ही घरमे आग लगा दी। आग तो लगा दी, पर जब जरा होश ठिकाने आया तो वह हाथ फटकार फटकार कर चिल्लाने लगी, अरे दौड़ो मेरा घर जल गया, वह बाल्टी रखी है, वह रस्सी पड़ी है, वह कुवा है। लोग जुड़े, इसी प्रसंगमे किसी स्त्रीको उसके बखौरे दीख गए, सो पूछ बैठी—अरी जिज्जी ये बखौरे कब बनवाये ? ये तो बड़े सुन्दर हैं तो वह सुनारिन झुंझलाकर (गाली देकर) बोली— अरी राड, यही बात यदि पहलेसे कह देती तो अपने घरमें आग क्यो लगाती ? तो भाई मनुष्योमें इस मानकषायकी प्रबलता है। इस मानकषायके वशीभूत होकर यह मनुष्य अपना बहुत बड़ा अनर्थ कर डालता है। इस मानकषायका इतना अधिक क्लेश होता है कि इस मानकी पुष्टि न हो तो घरमें भी यह आग लगा देता है। जितने लोग धन वैभवकी चाहमे दौड़ रहे हैं उसका कारण क्या धन है ? धनके लिए धनी बन रहे क्या ? अरे धनी बन रहे इस मानकषाय को पुष्टिके लिए। खूब भली-भाँति सोच लो—जो कुछ भी काम करते ये मनुष्य सो इस मानके अर्थ करते हैं। तो इस मानकी इतनी कठिन वेदना होती है। यह कषाय न हो तब तो योग्य सद्व्यवहार करने की बुद्धि बनती है। कषायें मंद हो, लोगोसे सद्व्यवहार हो उसको जीवनमे कष्टका क्या प्रसंग ? तो जिसको देखो तो ध्यान बना लो कि इसमे सहजपरमात्मस्वरूप है। जिससे बोलो सो ध्यान बना लो कि इसमें सहजपरमात्मरूप है, बस इस परमात्मस्वरूपकी सुध होते ही कषायें और मंद होती हैं और आदर, आस्था, सद्व्यवहार ये सब बनने लगते हैं। तो ऐसे हो सद्व्यवहार मे यह जीव विपत्तियोसे रहित हो सकता है।

( १८ )

मै ज्ञानपुञ्ज हूं, मुझ ज्ञानको ज्ञानरूपसे ही परिणमना चाहिये, ज्ञानपरिणमनमे ही मेरा सर्वस्व कल्याण है, यही अनन्त भगवन्तोने किया, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञेय बनाकर ज्ञानरूप परिणमना ही मेरा कर्तव्य है।

आनन्दमय होनेका उपाय ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन—जरा लोकके विश्वके समस्त जीवोपर दृष्टि देकर यह तो कुछ चिन्तन करें, निर्णय करें कि इस लोकमें कोई सुखी है क्या ? हां हाँ सुखी तो है। कौन सुखी है ? भगवान सुखी हैं। अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, शरीरसहित भगवान, शरीररहित भगवान। भगवान ही आनन्दमग्न हैं। शरीरसहित जो भगवान है वह भगवान सदा शरीरसहित न रह पायगा। शरीरधारी योगी मुनि

एक सहजपरमात्मरूपकी उपासना कर-करके भगवान बने तो शरीर था पहले और उसीमें भगवान बन गए तो शरीरसहित भगवान कहलाये, पर शरीरसहित तो नहीं रहते, उनका भी निर्वाण होगा, शरीर नष्ट होगा, कपूरवत् उड़ जायगा। शरीररहित भगवान हो गए। यहाँ शरीरसहितताकी बात न देखें। निरखें जो आत्मा निर्मल है, वीतराग है वह ही आत्मा सुखी है और जगतके अन्य आत्मा जो सराग है, कषायकी आस्था रखते हैं, कषायको अपनाते हैं वे जीव सुखी नहीं हो सकते। अच्छा, हाँ हैं भगवान सुखी। तो अब क्या कर्तव्य है? वह कर्तव्य है जिसको करके यह भगवान बने, सुखी बने। जिस रास्तेसे चलकर यह भगवान बने, सुखी हुए उस रास्तेपर हमें चलना है। अनन्त भगवन्तोने जो कार्य किया वह कार्य ही प्रशस्त है, बाकी सब बेकार। अब तक जो भगवन्त हुए, सिद्ध हुए, उनकी संख्या क्या मालूम है कितनी है? उनकी सख्या उतनी है जितने संसारके व्यवहारी जीव हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और इनके अलावा पृथ्वीके जीव, जलके जीव, अग्निके जीव, वायुके जीव और प्रत्येकवनस्पतिके जीव— इन सबका जितना टोटल है उससे अनन्तगुणे है सिद्ध महाराज। सिद्धोकी सख्या निगोदोकी सख्यासे हारी। निगोद उनसे अनन्तानंत गुणे हैं। बताओ कौनसा ऐसा उपाय किया था कि जिससे वे सिद्धभगवन्त बने? वह उपाय है ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन करना। हम आप ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानसे ही सारा बर्ताव है। ज्ञानकी ही सारी प्रक्रिया चलती है। अब कर्मविपाकसे, मलिनतासे इस ज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है। कषायोंसे लिप्त होकर कषायोके हुक्ममे चल रहा है। तो यह बात न हो और ज्ञान केवल मात्र ज्ञानरूप ही परिणमा करे यह उपाय है भगवत होनेका।

ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी सतत भावनासे ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमते रहनेके अवसर का लाभ—देखो भैया! सामर्थ्य तो सबमें है, स्वरूपमग्नता कर सकते है, मगर कैसी विडम्बना, कैसी विपत्ति पड़ी हुई है कि यह चलता है मोह रागद्वेषकी ही ओर। न चले परभाव को ओर, और अपने ज्ञानको ज्ञानरूप ही परिणमाये, ऐसी शक्ति बसी हुई है जीवोंमें। जिसका होनहार भला है, जो निकट भव्य है, जो कुछ ही भवोमे भवरहित होने वाला है उसको यह सहज प्रकाश मिल जाता है। तो करने योग्य काम है ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमते रहना। तो अपनेमें भी सोचे कि मेरा सर्वस्व कल्याण इस ही में है कि मै ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मा ज्ञान रूपसे ही परिणमा करूँ, यह ही मेरा वास्तविक काम है। अब यह मै ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानरूप ही परिणमूं, ऐसा होनेके लिए कुछ अपने अन्तःस्वरूपका बोध भी होना चाहिए। किस बलपर यह ज्ञानरूप परिणमे? पर्यायबुद्धि बनाता रहे, पर्यायमे इष्ट अनिष्ट कल्पनायें बनाये और कोई चाहे कि मेरा ज्ञान ज्ञानरूप परिणमे, मुझे इस आशाकी तिलाञ्जलि देनी होगी।

ज्ञान ज्ञानरूपसे ही परिणमता रहे इसके लिए आवश्यक है अपने आपकी ऐसी भावना बनाना कि मै ज्ञानपुञ्ज हूँ, अन्य कुछ नहीं हूं। ज्ञान धन, ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञान ही ज्ञानमात्र मैं हूं। कुछ वृत्ति चलती है तो ज्ञानकी, अनुभूति चलती है तो ज्ञानकी। जो कुछ काम पडता है तो ज्ञानसे। तो ज्ञान ही ज्ञान मै सर्वस्वहू। ऐसा अपने आपको ज्ञानपुञ्जके रूपसे भाव बनायें तो यही तो बात बनेगी कि बस इस ज्ञानका ही काम होगा, ज्ञान ही न्याय है, ज्ञानसिवाय जब मै कुछ नही हूँ तो बस ज्ञानमे ज्ञानका ही काम होता है, यह ही न्यायकी बात है। यह ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमता रहे, यही तो है मेरा सवस्व कल्याण और यही है मेरा वास्तविक कर्तव्य। इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कुछ भी प्रोग्राम न होना चाहिए। मुख्य प्रोग्राम, इस जीवनमें जीने का मुख्य लक्ष्य यही है कि मै ऐसे ज्ञानकी आराधना करूँ कि मेरेको सतत यही प्रतीति रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानका व्यापार हो, बस यही मेरा कर्तापन है, यही मेरी अनुभूति है। इसके लिए अधिकाधिक भावना यह होनी चाहिए कि मै ज्ञानपुञ्ज हूँ। ज्ञानसिवाय मै अन्य कुछ नहीं हू।

( १६ )

पावन चैतन्यस्वरूपमे स्वच्छ उछाल ले लेकर अलौकिक आनन्दरसमे छके जानेका काम यथासमय होते ही रहना चाहिये, अन्यथा इस दुर्लभ मानव-जीवनका पाना बेकार है।

शान्तिसे समय गुजरनेका उपाय ज्ञानकी स्वच्छ उछालोका उद्भव—हम आपने यह मानवजीवन पाया है तो मानवजीवन कैसे सफल हो, कैसे अलौकिक लाभ मिले, कैसे यह भव शान्तिसे गुजरे, उसका उपाय क्या है ? उपाय है प्रथम निज सत्य सहज आनन्दरसमे छके रहना। यदि इस समय आनन्दरसमे नहीं छक पाते तो अगले भवमे आनन्द पानेकी आशा ही क्या है ? यह आनंदरस कैसे मिले, जब चाहे यथासमय कैसे यह मिलता रहे ? इसका साधन है शुद्ध ज्ञान, क्योकि आनन्दरसमे छके रहना और ज्ञानका शुद्ध प्रवर्तन होना, दोनोका अविनाभाव है। अगर शुद्ध ज्ञानकी उछालें हममे नहीं आती तो आनन्दरस भी प्राप्त नहीं हो सकता। तो मेरा यह पवित्र चैतन्यस्वरूप स्वय अपने आप सहज अपने ही सत्त्वके कारण मेरे मे जो ज्ञानज्योति जगे वह ज्ञान पवित्र है, क्योकि वह मेरे स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ है, उसमे किसी दूसरे पदार्थके सम्पर्कका काम नहीं है। तो ऐसे पवित्र चैतन्यस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें उठती हैं। यह ज्ञान स्वच्छ अपना प्रवर्तन करता रहे, ऐसी उछालें ले लेकर आनन्दरसमे छके रहनेका काम मिलते रहना चाहिए। इस ज्ञानमे जहाँ कर्मविपाकको अपनाया, उसके प्रतिफलनमे अपना सम्बध जोड़ा वहांसे इस जीवको व्याकुलता होने लगती है। तो मेरे इस पवित्र चैतन्यस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें आयें, ऐसा प्रयत्न करें और देखो इतना बड़ा

काम तब ही संभव है जब कि चित्तमें कषायें न रहे। ये कषायें ही इस जीवको बरबाद करने वाली है। जब कषाये उठती हैं तो सारा आत्मा विकल हो जाता है ये कषायें हम आपकी बैरी है। जगतमें दूसरा जीव कोई भी बैरी नहीं है, बैरी हैं तो अपनी कषाय। ऐसा ज्ञान बनावें कि जिसमें कषाय न उठें तो अपनी रक्षा है, और ऐसा उल्टा ज्ञान बने कि जहाँ कषाय जगती रहे तो उसमे निरन्तर अपनी हत्या है, इसलिए आत्मंहिंसासे बचना है तो उस का उपाय है कि कषायें दूर हो और ज्ञानकी स्वच्छ उछालें ही इस ज्ञानसागरमेआती रहे।

ज्ञानकी स्वच्छ उछालोकी भावना—अहा ! ऐसे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें आयें जिनके साथ आनन्द गुणमे छकना बना रहे तो यह जीवन भी सफल है और भविष्यमें भी जो जीवन मिलेगा वहाँ भी यह सस्कार रहेगा और धर्मका प्रसग पायेंगे। देखो धर्मका सग बढ़ावें। अपने आपको ऐसा नम्र, ऐसा सरल बनावें कि हममें धर्मकी परम्परा चलती रहे, क्योकि धर्म बिना इस जीवका कुछ भी शरण नहीं है। शरण है तो केवल एक धर्म है। लोकमें चाहे वह अपना मित्र कहलाये, चाहे वह अपना परिजन कहलाये, ये कोई भी मेरी शान्तिमे साधक नहीं बन सकते, क्योकि जो मिलते हैं वे खुद कर्मके प्रेरे हैं, वे खुद कषायसे भरे हैं। उनका संग प्रसग हमें कषायोसे निराला तो न बना सकेगा। इस कारणसे अन्य सर्व सम्पर्क इस जीवके हितमे नही है। जीवका हितकारी सत्संग क्या है जो अपने स्वभावदृष्टिसे सम्पन्न है और मार्गदर्शनमे साधक है, ऐसे वीतरागदेव, वीतरागशास्त्र और वीतराग गुरु, बस यह ही हमको व्यहार शरण है और निश्चयसे शरण अपने स्वभावका दर्शन है। यह निधि प्राप्त हो तो हम अमीर हैं और यह निधि नही मिलती तो गरीबा हो है। चाहे कितनी ही वैभव-सम्पन्नता हो जाय लेकिन भीतरमें शान्ति नही, भीतरमे मोक्षमार्गका प्रवेश नही तो वह तो संसारमे ही रुलना है। और जो ससारमे रुलता है वह गरीब है। तो क्या कर्तव्य है अपना ? अपने पवित्र चैतन्यस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें उठें। ज्ञानकी स्वच्छ उछाले कैसे उठेगी कि ज्ञानरूपी वायुकी प्रेरणा मिले। ज्ञान ऐसा जगे कि इसमे ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप समाये तो ज्ञान ही वायु समझिये उसकी प्रेरणा मिले और इस ज्ञानस्वरूप ज्ञानसागरमे से ज्ञान की वृत्तियोकी उछालें उठे तो वहाँ अलौकिक आनन्दरस जगता है। जब जब हमारा किसी विषयभूत साधनमे उपयोग जुड़ता है तव तब इस जीवको सुख या दुःखका विकल्प चलता है। तो ये सुख दुःखके विकल्प ये इस जीवकी बरबादी के ही कारण होते हैं। तो इन विकल्पो से हटकर आनन्दरसमे छके जानेका काम होते ही रहना चाहिए। अगर ऐसा न हो सका तो यह मनुष्यजीवन पाना बेकार है।

( २० )

जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्मप्रदेशोमें शाश्वत है, बाहर मेरा कुछ नहीं, परद्रव्य तो प्रकट भिन्न है, विकारभाव परभाव हैं। मेरा ज्ञानतत्त्व ही सार है, बाह्य तत्त्व सब बेकार हैं।

बाह्य वैभवकी अकिंचनता—मनुष्य इस चिन्तनमे रहा करता है कि मेरा वैभव बढे, मेरा ठाठ बढ़े और इसकी धुनमें जो कुछ करना पड़ता है, जो कुछ बन पाता है, सब कुछ करनेको तैयार रहता है। ठीक है, अपना जो वैभव हो उसे तो बढाना ही चाहिए, उसकी रक्षा करनी चाहिए, मगर यह तो समझें कि मेरा वास्तवमे वैभव है क्या ? अरे राजा सिकंदर हुआ, उसका राज्य इस इतिहासमे सबसे बड़ा था। बहुत-बहुत राजाओको जीता, बहुत-बहुत अन्याय भी किया। अन्तमे जब मरण होनेको हुआ तो सिकन्दरको बड़ा पछतावा हुआ—हाय मैंने जीवनमें कैसे-कैसे अन्याय किये, कैसे-कैसे हमने अपना साम्राज्य बढ़ाया, लेकिन सब बेकार, यह सब छूट रहा है, वहाँ उसे पछतावा आता है, वह अपने मंत्रियोसे कहता है कि भाई मेरा मरण होना तो अब निश्चित है, पर मेरे मरणके बाद जो अर्थी ले जाना तो मेरे हाथ अर्थीसे बाहर निकाल देना। ताकि दुनिया देखे और अर्थीके साथ मेरा सारा ठाट-बाट, साज-शृङ्गार सब कुछ ले जाना, ताकि दुनिया के लोग इन दोनो बातोको देख सकें कि इतना बड़ा तो धन-वैभव और यह सब कुछ छोड़कर खाली हाथ जा रहा है। ठीक यही हालत हम आप सबकी होनी है। और जो यहाँ छोड़ जायेंगे उससे इस जीवको क्या लाभ है ? मरकर जायेंगे दूसरे भवमे, दूसरी धारणायें बनेंगी, दूसरा सग प्रसंग मिलेगा। सब कुछ दूसरी-दूसरी ही बात, यहाँका सम्पर्क क्या ? भला पूर्वभवमे जो मिला था उसे छोडकर यहाँ आये हो तो उससे कुछ लाभ मिल रहा है क्या यहाँ आपको ? पूर्वभव से पता नहीं बड़ा ठाट-बाट हो, बड़ा अच्छा समागम हो, दिखती दुनिया आपकी बड़ी प्रशंसा कर रही हो, जो कुछ वहांके लोग हो, लेकिन आज यहां हैं तो पूर्वभवकी बातका क्या है ? कुछ भी तो नहीं मिल रहा है। तो ऐसे ही समझिये कि इस भवकी बात भी आगे कुछ रहनेकी नहीं है। उससे कुछ भी लाभ न मिलेगा। इससे इस वैभवमे परमाणुमात्र भी लगाव न हो, ऐसा एक विशुद्ध चैतन्यका व्यापार मिले, शुद्ध ज्ञातादृष्टा रहनेकी स्थिति रहे, इससे यहाँ भी शान्ति, आगे भी शान्ति। अपना जो निजस्वरूप वैभव है इस स्वरूप वैभवमे दृष्टि लगावें तो आत्माका उद्धार होगा बाह्य इन पुद्गल स्कध ढेरोमे दृष्टि लगावें तो उपयोग बिगड़ेगा और इसकी बरबादी ही रहेगी। इससे कभी इन जड़-वैभवोमे अपनी प्रीति न बढ़ाओ। इससे हटकर एक अपने आपके विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमे ही उपयोग जोड़ो।

अनाद्यनत आत्मप्रदेशस्थ अभिन्न चैतन्यस्वरूप ही अपना सर्वस्व—हाँ विचारो कि

मेरा क्या है ? उत्तर उसका संक्षिप्त यह है कि मेरा तो वह है जो मेरे स्वरूपमें शाश्वत रहे। मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो मेरा साथ छोड़ दे वह मेरा कैसे ? शरीर साथ छोड़ देता है तो वह मेरा कैसे ? कषाय साथ छोड़ देती हैं तो वे मेरी कैसे ? ये सारे नटखट नृत्य ये साथ छोड़ देते, रहते नहीं, भले ही नये-नये नटखट हो रहे हैं, पर जो हो रहा है वह तो साथ नहीं निभाता। तो जो मेरा साथ न निभाये, जो मेरे सत्त्वके साथ न रहे वह मेरा नहीं है। जो मेरे साथ सदा रहे वह है मेरा। जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्म-स्वरूपमें निरन्तर शाश्वत प्रकाशमान है। आत्मप्रदेशसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। देखो यह बहुत बड़े ज्ञानकी बात है, मगर चित्तमें यह बात समा जाय कि मेरा जो कुछ है वह मेरे आत्मप्रदेशमें है। इस आत्मप्रदेशसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो कुछ बाहर है और जिसे यह अपनाता है, जिसमे यह विकल्प बनाता है वह सब मोह नींदके स्वप्नकी बात है। वास्तविकता वहाँ कुछ नहीं है। जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्मस्वरूपमें है, स्वरूपकी बात कही जा रही है। मेरे आत्मप्रदेश झलके या जो-जो कुछ बात आये उसको मै मेरा नहीं समझता। यों तो कर्मोदय होनेपर सुख-दुःख रागद्वेष विकल्प ये भी उत्पन्न हुआ करते हैं। ये भी मै नहीं हूँ, ये भी मेरे नहीं हैं। ये तो बाह्य कर्मके प्रतिभास, आभास, अध्यास हैं। मेरा तो वह है जो मेरे आत्मस्वरूपमें है। आत्मस्वरूप अनादि अनंत है। बस वही मेरा वैभव है। उसे निरखते जायें, उसे ज्ञानमें लिए रहें, यह मै हूँ। इसमें कभी कोई संकट नहीं होता है, इसको कभी कोई चुरा नहीं सकता, इसकी कोई कभी हिंसा ही नहीं कर सकता। ऐसा यह मै पावन चैतन्यस्वरूप आत्मा उसमे जो कुछ गुण हैं, शक्ति है, सामर्थ्य है, सहज है वह है मेरा। उससे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है।

समग्र बाह्यभावोसे विविक्त आत्मस्वरूपके अनुभवमें ही कल्याण—देखो जितने भी बाहरमें परद्रव्य दिख रहे हैं ये तो प्रकट भिन्न हैं, यह सामने ही दिख रहा। घर वहाँ, घरके परिजन दूर बैठें और जो-जो कुछ धन वैभव आदिक माने जा रहे हैं वे सब मेरेसे बिल्कुल बाहर हैं। वे तो प्रकट भिन्न हैं, उसे तो मै अपना मानूं ही क्या ? लेकिन उनका ख्याल कर करके जो मुझमे विकार जगता है, रागद्वेष इष्ट अनिष्ट विपत्तियाँ जगती हैं वे विकार परभाव हैं। वे भी मेरे नही हैं। तो देखो अपनी दया करें। जो कषायभाव जगता है उन कषाय भावोंको अपनावें नहीं, किन्तु कषायभावोसे मै अलग रहूँ और उन कषायभावोंसे निराला यह जो अविकार ज्ञानस्वरूप है, उसका ही अनुभव करते रहे, ऐसा भीतरमें ज्ञानप्रकाश लाइये, ऐसा ज्ञान, ऐसा मेरा स्वरूप वह ही सार है, और बाहरमे सब कुछ असार है, बेकार है, किसीका लगाव नही। किसीका विश्वास, किसी भी बाह्य वस्तुमें आस्था, किसी भी बाह्य

वस्तुसे अपनेको बड़ा समझनेका विकल्प ये सब धोखे है, ये सब बेकार बातें हैं। वहाँसे चित्त हटे, अपने आपके साधारण ज्ञानज्योति स्वरूपमें अपना अनुभव जगे तो यह है जीवके लिए बहुत उपकारी बात। ऐसे हे प्रभु, हे निज अन्तः सहज ज्ञानस्वरूप तुम ही मेरे ज्ञानमे निरन्तर बसो। तुम्हारा ही शरण सत्य शरण है, तुम्हारी ओर ही मेरी ज्ञानवृत्ति रहे तो मेरा कल्याण है। बाहर कुछ भी देखो, कुछ भी निरखो, कहीं चित्त बसाया तो वह सब अकल्याण है।

( २१ )

विषयकषायके कारण दुःखी होते हो और विषयकषायकी हो वृत्ति करते हो, विषय राग व कषायभाव करनेकी उद्दण्डताका फल अतिभयानक है। प्रियतम ! इस उद्दण्डताको छोड़कर अपने सहज आनन्दधाम मे विश्राम करो।

पर्यायकी हठ छोडकर सहज अन्तस्तत्त्वमे आस्था करनेका कर्तव्य—जगतके जीव हम आप सभी अपनेको निरन्तर दु खी अनुभव करते हैं। जब कभी सुख भी मिलता है तो सुख भी दुःख है, सुखमे भी क्षोभ रहता है, सुख भी विकल्परूप है, उसमे भी आकुलता जगती है। तो यह दुःख उत्पन्न क्यो होता है ये विषय कषाय भावके कारण हुआ करते हैं। विनतीमे पढ़ते हैं ना "आतमके अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय" आत्माके अहित करने वाले हैं तो ये विषय और कषाय। विषय तो कहलाये इच्छा रूप, रागरूप। किसी भी विषयसाधनोमे लगना यह दु.खरूप है, अहितकारी है, ससारमे रुलाने वाला है और कषाय कहलायी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये ससारमे रुलाने वाले हैं। देखो अपने आत्माके साथ कार्माणवर्गणायें विस्रसोपचय रूप स्वतः लगे हुए हैं और जब हम कोई विकार करते हैं, कषाय करते हैं तो ये विस्रसोपचयकी कार्माणवर्गणाये स्वयं कर्मरूप परिणम जाती हैं। कर्म बधे, उनका उदय आया और उस कालमे इस जीवको दुःखी होना पड़ता है। यहाँ तो जरा-जरासी बातपर हठ करते हैं और मरकर बन गए कीड़ा तो अब चलावो हठ। हमे नहीं बनना कीड़ा, हमे तो अच्छा ही रहना है, चलेगी हठ क्या ? जगत है, यहाँ किसी भी विकारभावमे हठ मत बनावें। अपने अविकारस्वरूप इस विशुद्ध चैतन्यस्वभावकी उपासना करें।

हितपथ प्रवेशका सुगम उपाय प्रभुभक्ति—देखो हम आपका हितपथप्रवेशका सुगम उपाय है भगवानकी भक्ति, भगवानका स्वरूप, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द, जहां विकारका नाम नहीं, रागद्वेषका लेश नहीं, विशुद्ध चैतन्यवृत्ति ही जग रही, ऐसा भगवानका स्वरूप है। उसकी भक्ति करें, उसकी शरण गहो। जहां यह घरमे या मित्र जनमे हम अपने आपको समर्पित कर दिया करते हैं ना, किसीके मनमे मन मिला देना,

यह ही तो अपनासमर्पण है । तो जैसेहम यहाँ अशुद्ध कर्मप्रेरित जीवोंको हम अपना सर्वस्व सौंप देते हैं । यदि मैंने अपना सर्वस्व प्रभुके चरणोमें सौंपा होता तो पापबंध न होता, आकुलता न जगती, परेशानी न होती । तो आत्मसमर्पण करो प्रभुके चरणोमें । समर्पणका अर्थ यह है कि प्रभुके चरणोका विश्वास वनायें, प्रभुस्वरूपकी तरह अपने आपके स्वरूपका दर्शन करें, यहाँ ही मग्न हों, यही कहलाता है अपना समर्पण । ऐसे प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करें और समस्त संकटोसे छुटकारा पावें । इसके विपरीत चलनेमें कष्ट ही कष्ट है । क्या कष्ट है ? विषयकषायके भाव, इससे ही तो कष्ट होता । और विषयकषायमें ही प्रवृत्ति करता जाता है तो भला बतलावो यह हमारी उद्दण्डता है ना । मै तो भगवानके स्वरूपके समान मात्र ज्ञानानन्दस्वरूपका ही रसिक रहता, वह तो कहलाती मेरी मौलिक वृत्ति और आत्मानुभूति न करके जो बाहरी विषयकषायोंमें एकदम जुट जाना है यह हमारी उद्दण्डता ।

अति भयानक ससरणके हेतुभूत परासक्तिरूप उद्दण्डताको तजकर निज सहजचैतन्यधाममे मग्न होनेकी भावना—बाह्य भावो मे आसक्त होनेकी उद्दण्डताका फल बहुत भयानक है । कैसा भयानक है सो संसारके जीवोकी दशा देख लो । कितनी जातियां हैं, कैसे-कैसे जीव जन्तु हैं ? कभी अजायबघरमें जाते तो कैसे विलक्षण जतु देखनेमें आते ? वे तो थोड़ेसे हैं । उन जीवोकी दशायें देखकर ही समझ लें कि हमने यदि मोह, रागद्वेष किया, परको अपनाया, अपना स्वरूप अपनी दृष्टिमे न रहा तो इस उद्दण्डताका फल संसारके चतुर्गतिरूप भव धारण करते रहनापड़ेगा । यह उद्दण्डता बहुत भयानक है, इसलिए हे मेरे प्रियतम याने प्यारोमें जो सबसे अधिक प्यारा हो, मेरे लिए सबसे अधिक प्यारा कौन है ? सभीकी यही बात है । सबको अपना आपा प्रिय लगता है, सो हे मेरे प्रियतम भगवान, अब अपने सहज शौर्यको सम्हाल लो । जैसे कोई कार्य करते रहे तो उससे जीवनका लाभ क्या ? सम्हाल सकते हो अपना स्वरूप, क्योकि मात्र ज्ञानका ही काम करना है । ज्ञानको सम्हाला तो अपने सारे शौर्य को सम्हाल लिया । तो अपने इस ज्ञानस्वरूपको सम्हालो और मूढ़ताके फदेसे निकल जावो, मोहके जालसे अलग हट जावो । ऐसा करनेसे अपने अनन्तधाममे विश्राम बनेगा । जैसे बहुत संक्षिप्त शब्दोमें कहा—'आतमके अहित विषयकषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय । मैं रहूं आपमें आप लीन, सो करहु होहु ज्यों निजाधीन ।' ये विषयकषाय नाना प्रकारके हैं । उन विषयकषायो मे जो निरन्तर चित्त बनाये रहता है उससे आनन्द खत्म होता है । बाकी सारी उलझन विकल्पको जो अपने दिलसे हटा देता है और अपने चैतन्यसागरमे ही डुबकी लगाता है यह पुरुष संसारसे पार हो जाता है । क्या करना अब ? अपने स्वरूपको देखो, अपने आनंद का धाम जो यह सहजपरमात्मतत्त्व है उसमें विश्राम करें । विश्रामका अर्थ यह है कि अपने

को निरन्तर ऐसा अनुभवते रहे कि मै तो यह स्वयं स्वच्छ अविकार ज्ञानमात्र हू। मेरा वैभव तो यह ज्ञानवृत्ति ही है। मेरेमे तो मेरा ही स्वरूप है। मेरा जगतमे और कुछ नहीं है, ऐसा जानकर इस सहजज्ञानस्वरूप के उपयोगी बनें, बाहरके ख्यालात छोड़ें तो अपनी निधि अपने में अपने आप विकट विलक्षण अलौकिक आनन्दको प्रकट करती हुई विकसित होगी। अपनेको लखें कि मै ज्ञान ही ज्ञान हू, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। अन्य किसीसे मेरेको कुछ प्रयोजन नहीं। मेरेमे कोई न आये, किसीकी पहिचान न रहे, कहीं भी मेरा चित्त मत जाय। मेरे ज्ञानमें ही यह ज्ञान समाये, बस यही तो मेरा वास्तविक कदम है।

( २२ )

किसी को भी शरण मानकर किसी भी व्यामोहमे कहीं भी भटक आओ, आखिर शरण तुम्हारे तुम ही रहोगे। निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध लो और सर्वकष्टोसे दूर हो लो।

बाह्यमे शरण्यताका अभाव——हम आप सबकी प्रकृति है कि किसी न किसी की शरण गहते हैं। बालक हो, जवान हो, वृद्ध हो, गृहस्थ हो, योगी हो, प्रत्येक जीव किसी न किसीकी शरण गहनेका भाव रखता ही है। बालक है तो वह यह समझता है कि मेरेको मेरी माँ शरण है, जवान कुछ अपनेमे किसीके प्रति शरणको बुद्धि रखते हैं। वृद्ध हो गए तो वे किसी पालक रक्षकके प्रति शरणकी बुद्धि रखते हैं। योगी हुआ तो वह भी किसीकी शरणकी बुद्धि रखता है। प्रत्येक मनुष्यमे यह प्रकृति बनी है कि वह किसी न किसी की शरण मानता है। अब जरा विचार तो करो कि वास्तवमें शरण आपको है क्या ? यो तो हर एकको भिन्न भिन्न कुछ न कुछ शरण दिखता है। जब छोटे थे तो माँ शरण, कुछ बडे हुए तो खेल शरण, कुछ और बड़े हुए तो विद्या शरण। जिसमें लौ लगी, जिसकी वासना रही वही तो शरण कहलाता। किसीको धन शरण, किसीको प्राण शरण, भिन्न-भिन्न शरण माननेकी पद्धतियाँ हैं, पर वास्तवमे शरण क्या है ? इसकी पहिचान इस प्रकार होगी कि जिसकी शरण पानेसे अवश्य ही अपना कल्याण हो और उसके बाद फिर शरणका पैतडा न बदलना पडे। उसमे यहाँ जो लोग जिस-जिसकी शरण मानते हैं उस ही कालमे उनको बदलना पडता है। उसमें फिर सार नहीं दिखता। दूसरेकी शरण गहता है, लेकिन जो वास्तविक शरणभूत बात होगी वह बदली नहीं जा सकती। मेरा तो जो है सो ही है। संसारमे किसीमे भी शरणताकी बुद्धि कर लें, किसी भी कार्यमें मोहकर लें, कही भी जावें, कहीं भी आस्था बनावें, पर वहाँ कुछ भी शरण न मिलेगा। जैसे फुटबालका खेल होता है ना। तो फुटबाल जिस बालकके पास पहुंचेगा वह बालक उसे क्या करेगा ? क्या उसे गोदमें लेगा ? अरे वह तो लात मारकर

दूर भगा देना। ऐसे ही यह संसारी प्राणी इस संसारकी जिन वस्तुवोके निकट पहुचे याने अपने उपयोग द्वारा जिसकी शरण समझे वहींसे ठोकर मिलती है। चाहे वह कितना ही विश्वास पात्र हो—पिता हो, माता हो, बधु हो, मित्र हो, कितना ही इष्ट हो, आखिर वे भिन्न होते ही हैं। पापका उदय आता है तो इष्टसे भी इष्ट पदार्थ इसके दुःखका कारण बन जाते है और फिर आखिर इष्टका वियोग भी होगा, उस समय बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। तो इस लोकमे कुछ भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसकी शरण गहें तो शरण मिल जाय।

व्यवहारमे वीतराग देव वीतराग शास्त्र व वीतराग गुरुका शरण——शरण तो वास्तव में अपने आत्माका स्वरूपपरिचय, स्वरूपमग्नता, स्वरूपकी आस्था यह शरण है और व्यवहारमें वीतराग देव, वीतराग शास्त्र, बीतराग गुरु। वीतराग देवका अर्थ है ऐसा प्रभु परमात्मा जहाँ रागद्वेष नही, एक विशुद्ध ज्ञानकी ही उछालें जहाँ चलती हैं। जो सर्व सकटोसे मुक्त हो गये हैं। जैसा था, जो स्वरूप है वह ही स्वरूप जहां प्रकट हुआ है, ऐसा प्रभु पावन परमात्मा, उसके स्वरूपकी भक्ति हम आपको शरण है। व्यवहारतः शरण प्रभुभक्ति है। जब कभी थोड़ा योग मिलता है, सुख मिल गया, कुछ धन वैभव आ गया, विशेष लौकिक बातोमें तरक्की हो गई तो लोग प्रायः प्रभुको भूल जाते हैं। ऐसी अनेक घटनायें मिलती हैं कि जब गरीब थे तब तो प्रभुभक्तिकेलिए काफी समय निकल आता था और जब विशेष धनिक बन गए तो वहाँ प्रभुभक्तिके लिए बिल्कुल ही समय नहीं निकल पाता। यदि कोई पूछे कि आप मदिरमें अब शास्त्रसभामें क्यो नही आते ? तो कह बैठते हैं कि क्या करूँ ऐसा काममें फसे रहते है कि यहाँ आनेका अवकाश ही नहीं मिलता। अरे प्रभुभक्तिका ही प्रसाद है जो इष्ट समागम प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि प्रभु कुछ देते नहीं, पर प्रभुभक्तिमें जो विशुद्ध परिणाम जगता है उसका निमित्त पाकर पुण्यबंध होता। उसका उदय आये तो ये सब सुख-सामगी मिलती है।

स्वकर्मोदयसे सुख-दु खादि होनेका निर्णय कर परको सुख-दु खादि करनेके विकल्पको त्यागनेका सदेश——समयसारमें एक परिच्छेदमें बताया है कि जीवको जो सुख होता है वह कर्मोदयसे, मरण होता तो आयुकर्मके क्षयसे, जीवन मिलता तो आयुकर्मके उदयसे। वहां यह बतानेका यह भी प्रयोजन है कि यह जीव इन बाह्य नोकर्मोंके नोकर्मरूप उपचरित निमित्तो मे विकल्प बनाये रहता है, वह विकल्प व्यर्थ है, स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है। जैसा मै सोचता हूँ वैसा परमें हो जाय, ऐसा नहीं होता, इसलिए विकल्प अर्थक्रियाकारी नहीं कहलाता। फिर होता कैसे है सुख सभी जीवोको ? किसी दूसरेके करनेसे नहीं होता। तो होता कैसे है ? इसका उत्तर दिया समयसारमें कुन्दकुन्दाचार्यने अमृतचन्द्रसूरिने, जयसेनाचार्यने और

अध्यात्मशास्त्रियोने बताया कि जीवको जितना सुख दुःख जीवन मरण होता है वह कर्मका निमित्त पाकर होता है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका प्रतिपादन स्वभावके दर्शनके लिए होता है। कुछ थोड़ासा यह समझमे आया कि जगतके ये बाह्य पदार्थ ये निमित्त तो नहीं बनते, हम बनाते तो बनते हैं। हम इनमे उपयोग जोड़ते हैं, तो बनते हैं, यो लौकिक बातोमें इन बाह्य साधनोमे थोड़ा फर्क देखिये--क्या फर्क कि हम इनमे उपयोग जोड़ें तो निमित्त, उपयोग न जोड़ें तो निमित्त नहीं है, अतः यह कल्पना निमित्त है, यह निमित्त नहीं है, ऐसी बात इन बाह्य पदार्थोमे देखें जो कि विकल्प सच है। लेकिन इन बहिरंग साधनोंमें बात देखकर समस्त निमित्तोंमें यह बात कह डालना कि सभी निमित्त काल्पनिक होते हैं। यह तो जैनधर्मसे बाह्य बात है। समयसार ही खुद कह रहा है कि जितना जीवोको सुख होता है। वह सब अपने-अपने कर्मोदयसे होता और किसीके कर्मका उदय कोई दूसरा कर नहीं सकता। इस कारण किसी जीवके द्वारा किसी अन्य जीवको सुख दु ख नहीं होता। अब आप यहां विचारो, देखो समग्र आचार्य सतोकी भक्तिमें फर्क न डालना। वे आचार्यदेव, वीतराग सत और हितका प्रतिपादन करने वाले हुए। जहाँ यह देखा कि सुख दुःख ये कर्मनिष्पन्न हैं, तब यह ध्यान होता है कि इससे मेरा क्या मतलब ? मै तो एक सहज चैतन्यस्वरूप हूं। मेरे मात्र अपने आपके द्वारा याने निमित्तयोग बिना ये उत्पन्न नही होते। होते मुझमे हैं, मगर ये परनिमित्त पाकर होते। इस कारण इनसे मेरा कुछ मतलब न रहेगा। तो अपने स्वभावकी ओर ही अभिमुख होवेंगे। स्वभावदर्शनकी शिक्षा लेना।

बाह्य पदार्थके शरण होनेकी असभवता--बात यह कह रहे है कि लोकमे बाहरमें अपनेको शरणभूत कुछ भी नहीं है। ठोकरें खाते हैं, विकल्प मचाते हैं, उपयोग जोड़ते हैं, कभी चैन मानते हैं, पर यह सब कल्पनाकी बात है। ये अर्थक्रियाकारी बातें नहीं हैं। यहां वास्तविक निमित्तका कुछ प्रसग नहीं है, यह तो हो गया अटपट। जब क्रोधप्रकृतिका उदय हुआ तो सामने जो दिखा, जिसपर कुछ भी सम्बन्ध पहलेसे बन रहा हो उसपर क्रोध उमड़ आता है, तो प्रतिनियत निमित्त तो कर्मोदय रहा। जगतके बाह्य पदार्थ प्रतिनियत निमित्त न रहे। प्रतिनियत निमित्त न रहे, इसका मतलब यह है कि स्त्रीको देखकर किसीके दुर्भाव होता है तो किसीको वैराग्यका भाव होता है। तब स्त्री तो दुर्भावका निमित्त न कहलायी और न वैराग्यका निमित्त कहलायी, किन्तु आश्रय कहलायी। जिसके दुर्भाव हो उसके उस प्रकारकी कषाय और वेदका उदय निमित्त है। जिसके वैराग्य जगा उसके इन कषायोंका क्षयोपशम निमित्त है। तो वास्तविक निमित्तकी बात कर्ममे लगेगी जीवके विभावके प्रसगमें। और जगतमे जो दिखता है वह सब काल्पनिक

निमित्त है। यह नियत निमित्त नही है कि इसके होने पर ऐसा ही हो। तो यह जब जगत अपनी अर्थक्रियाकारिताका विषय नही बनता तो यहाँ कुछ भी शरण नहीं है। यह बात समझनेके लिए कुछ ज्यादह कहनेकी आवश्यकता नहीं। सबके अनुभव बता रहे होगे। हमने जिस जिससे लगाव किया आखिर उससे कष्ट मिला, शान्ति न मिली। चाहे वह इष्टका लगाव हो, चाहे वह अनिष्टका लगाव हो, बाह्यपदार्थोंका सम्पर्क इस जीवको शरण नही शान्तिका कारण नही, लेकिन जैसे मिर्च खानेका शौकीन पुरुष मिर्च खाता जाता, सी-सी करता जाता, आँसू आते जाते और फिर भी कहता है कि लावो मिर्च, ऐसे ही जगतके जीव मोह रागद्वेषसे दुःखी होते जाते हैं और फिर भी चाहते हैं कि और मिले रागका विषय। तो जिन पदार्थोंसे अपनेको फाँसे हुए हैं उन्हीं पदार्थोंका राग किया जाता है, तो बतलावो दुःख कैसे शान्त हो ? क्षेत्रकी अपेक्षा देख लो—जहाँ जहाँ जावो अपनेको शरण कुछ नहीं। शरण कुछ नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा देख लो, जिन-जिन पदार्थोंका शरण चाहा वहाँसे धोखा ही मिलता है। और भावोकी अपेक्षा देख लो–हम जिस जिस भावमें अपना कल्याण समझते हैं, सुख समझते हैं वे सब विभाव हैं, मेरेको शरण नहीं हैं।

निजके ज्ञानमात्रत्वकी दृष्टिकी शरण्यता—तब फिर विचारिये, शरण क्या है ? क्या शरण है—इसका उत्तर तब मिल पाता है जब कि हर जगह ठोकरें खाकर यह निश्चय हो जाय कि बाहरमे शरण कुछ नहीं है। तो आसानीसे उत्तर मिलता है। उत्तर क्या है कि स्वरूपमें यह दृष्टि बने कि मै केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। इस मुझको जानने वाला भी दुनियामे कोई नहीं है। परिवारके बीच हैं, परिजनोके बीच है, मित्रोंके बीच हैं आप, तिस पर भी आपको जानने वाला इनमें से एक भी नही है। कुछ लोग परिचय पा रहे हैं तो इस भवमूर्ति शरीरको उपाधिके वश इसकी खबर रख रहे है और इसे कुछ खबर नहीं। जो वास्तवमें आप हैं, मै हूँ, इसका तो कोई पहिचनाने वाला हो नहीं और जब कोई पहिचानने वाला ही नहीं मेरा तो मेरेको बाह्य घटनाओमे क्षोभ ही क्यों होगा ? क्षोभ होता है संकोचमें, लाजमें, शरममें, यह भाई क्या कहेंगे ? इसमे मेरा अपमान हो गया। कुछ बात लगाते हैं, सम्पर्क लगाते हैं, क्षोभ होता है। जहाँ अन्य दृष्टि करके यह समझा कि मेरेको तो पहिचानने वाला ही कोई नहीं है, इसमें फिर इसको क्षोभ क्यो होगा ? अपना वास्तविक परिचय मिले तो इसमें बल बढ़ेगा, ज्ञानबल बढ़ेगा और देखो बहुतसी लौकिक बातें, लौकिक संकट, इनमे ज्ञान के बलसे शान्ति हो जाती है। कोई पुरुष घबड़ा रहा हो तृष्णववश या अन्य कारणसे बहुत बहुत घबड़ाहट चल रही हो तो घबड़ाहटमें घबड़ाहट बढ़ती है और बढ़ बढ़कर इतना हो जाता है कि हर्ष फैल जाता है। ज्ञानबल यदि साथ है तो कुछ मदद तो अवश्य मिलती है।

क्या फिकर है ? क्या हो गया ? अमुक हो गया तो क्या हो गया । इष्टवियोग हो गया तो क्या हो गया ? सारी बाहरी बातें हैं, मै तो ज्ञानस्वरूप हूँ । मेरेमें तो मेरी ज्ञानज्योति ही सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त तो मेरा कुछ है ही नहीं । जहाँ ज्ञानबल आये वहाँ घबड़ाहटमें अन्तर अवश्य आ जाता है । अधीर पुरुषको, घबड़ाये हुए पुरुषको विषयसाधन रक्षा न करेंगे । अपना ज्ञान ही रक्षा कर सकेगा । किसीका पिता गुजर गया हो, पुत्र गुजर गया हो, स्त्री गुजर गई हो, पति गुजर गया हो, बड़ा संकट हो, वह खूब रोता हो तो क्या कोई उसे यों कहता है कि अरे रोवो नहीं, अभी तुमको हलुवा लाये देते हैं । ऐसा किसीने कहा क्या ? ऐसा कहीं होता क्या ? किसी भी विषयसाधनसे उसकी घबडाहट दूर न होगी ।

ज्ञानबलमे ही घबडाहटसे छुटकारा— भैया ! ज्ञानबल बनेगा तो घबड़ाहट दूर होगी । अरे यह तो ससार है । यहां तो ऐसा होता ही रहता है । यह तो सब क्षणभरका समागम है । हो गया ऐसा तो क्या हुआ ? जब ज्ञानबल बढ़ता है तो घबड़ाहट दूर होती है । विषय प्रसगोंसे घबडाहट दूर नहीं होती । एक बुढ़ियाका छोटा लड़का था, और उसके वही एक लड़का था । तो आप समझो इस मोही जगतमें इस प्रकारके इकलौते बेटेका मरण कितने दुःखकी घटना मानी जाती है ? तो उस लड़केके मरण हो जानेसे वह बुढ़िया बड़ी परेशान होती हुई उस लड़केको अपनी गोदीमे लिए हुए फिरे, आखिर उसे एक साधु मिले । साधुके आगे बच्चा रख दिया । और कहा — महाराज ! मैं बड़ी दुःखी हूँ, मेरे इस बच्चेको जिला दो तो मैं आबाद हो जाऊँगी । तो साधु बोला कि अरी बुढिया माँ तू रो मत, तेरा बच्चा अभी जिन्दा हो जायगा । किन्तु तुम्हे एक करना पड़ेगा । हाँ हाँ बोलो, मै तो सब कुछ कर सकती हूँ । हाँ देखो तुम कहींसे पाव भर सरसोंके दाने ले आवो और ऐसे घरसे लावो कि जिस घरमे कोई मरा न हो । तो बुढिया बोली—हाँ महाराज मै अभी लाती हूँ । एक घरमे पहुँची, बोली—मेरा बेटा मर गया है, उसे जिन्दा करनेके लिए एक पाव सरसोंके दाने दे दीजिए । तो घर वाले बोले—अरे एक ही पाव क्यो, एक मन ले जावो । अगर सरसोंके दानोसे तुम्हारा बेटा जिन्दा होता है तो यह तो बडी खुशीकी बात है ।" मगर यह तो बताओ तुम्हारे घर कभी कोई मरा तो नहीं । अरे मेरे घर तो अनेको लोग मरे । दादा मरे, दादी मरी, पिता मरे, माता मरी, और भी कई बच्चे मरे । अरे तो नहीं चाहिए तुम्हारे घरकी सरसों । यो बुढ़िया दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, सब जगहसे वही जबाब बराबर मिलता गया कि मेरे घर तो अनेकों लोग मरे । करीब २० घर उसने जा-जाकर देख लिया, पर कोई भी घर ऐसा नहीं बचा जिस घरमे कभी कोई मरा न हो । इस घटनाको देखकर बुढ़िया को ज्ञान जग गया कि अरे यह तो संसारकी रीति है । एक न एक दिन सभीका मरण

होता है। बस इतना ज्ञान जगते ही उसका सारा दु.ख खत्म हो गया। वह प्रसन्न होकर साधुके पास पहुची। देखिये जब तक अज्ञान था तब तक बेचैनी थी कि हाय अब क्या करूँ, पर सही ज्ञान जग गया तो उसकी बेचैनी समाप्त हो गई, उसकी मुद्रामें प्रसन्नता झलक गई। जब साधुने बुढ़ियाको अपने सन्मुख प्रसन्न मुद्रामें देखा तो पूछा--अरी बुढ़िया मां! क्या तेरा बेटा जिन्दा हो गया? हाँ महाराज जिन्दा हो गया। कैसे?…बस मेरा मरा हुआ ज्ञान अब जिन्दा हो गया। वास्तवमे बात यही है कि मरा हुआसा था ज्ञान। जितने भी क्लेश होते हैं सब इस ज्ञानके मरे हुए होनेसे होते हैं। जहाँ ज्ञान कुम्हला गया वहाँ दुःख है। जहाँ सत्य ज्ञान जगा वहाँ क्लेश नही होता।

स्वयके कैवल्य होनेकी स्थितिकी अभीटष्ता--तो आखिर शरण मिलेगा तो खुदमे खुद ही शरण मिलेगा। इसको कोई दूसरा शरण नही है। मगर कैसे खुद शरण है? यो ही सोच डाला हुआ मै शरण नही, किन्तु जो मै वास्तविक मै हूँ उसका बोध हो तो शरण है। यो तो सभी मै मै बोलते हैं। यह मै आया, यह मै बैठा, मैने कहा, पर उस मै के मायने लोग तो यह ही समझते हैं कि यह पिंडोला, यह भवमूर्ति, यह शरीर, यह पर्याय, यह मै हूँ। ऐसे मैं को जाननेसे शरण नहीं मिलता, किन्तु जो केवल मै होऊँ उसकी बुद्धि होनेसे शरण मिलती है। क्या हूं मै केवल? केवल एक ज्ञानज्योतिस्वरूप परमार्थ आत्मा। जो अपने आप है, अकेले है, परके सम्बध बिना है वह मैं हूँ। ऐसे अपने आपके इस सहजज्ञानस्वरूपमे प्रतीति रखे उसको कष्ट नहीं है। एक बात और जीवनमें बनावें, एक निर्णय बनावें, कि मेरा प्रोग्राम है सिद्ध भगवान बननेका। एक ही बात चित्तमें रखें। देखो सब बातोमें अन्तर आ जायगा। सकटोमें, अन्य विडम्बनाओमे अन्तर दें। मेरेको तो सिद्ध होना है। अरे कैसा होना है? अभी हो जावोगे? न सही अभी, कभी होऊँ, इसके सिवाय मेरा प्रोग्राम नहीं। ससारमें रुलने से लाभ क्या? कष्ट ही कष्ट है, आपदा ही आपदा है। ये जन्म मरण कर करके मरना ही है क्या? मरे जन्मे, मरे जन्मे, यह करना है क्या? या जन्म मरण बिल्कुल मिट जाय, केवल मैं जैसा स्वय हूँ वैसा ही रहू, जिससे किसी प्रकारका विकल्प न जगे, शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप रहे। क्या यह होना है? भैया! ऐसा रोज पढ़ते ही होगे। 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन' यह होना है तुझे। जैसे हम प्रभुको कहते हैं कि हे भगवन्! आप समस्त ज्ञेय पदार्थोके जानने वाले हैं। तीन लोक, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ आपके ज्ञानमें जाने जाते हैं, तिसपर भी आप अपने ज्ञानानन्दरसमे लीन हैं। बस यही बनना है हम आपको। देखो भाई कामकी बात, सही बात और वह भी समझमें न आये या सुहाये नहीं तो समझो कि उपयोगमें किसी विषका पान किया जा रहा होगा, नहीं तो अपनी इतनी सीधी सही

सच्ची बात ज्ञान बिना बैठे, यह कैसे होगा ? किसी रागद्वेषके विषयमें उपयोग चलता हो तो ऐसी अपनी मुक्तिकी सीधी बात नहीं हृदयमे बैठती। तो इन सबको निकाल फेंको। चौबीसो घटे लदे रहते हैं ये विषय प्रसंग। उनसे कुछ लाभ मिलता है क्या ? १० मिनट, ५ मिनट तो अपना उपयोग ऐसा बनाओ कि इसपर विषय प्रसग लदें नहीं, सबसे निराला विविक्त सहज आत्मतत्त्व ही दृष्टिमे रहे। तो देखो खूब समस्यायें सुलझा लो। सर्वप्रकारसे समझ-समझकर प्रकाश पा लो। मेरे को तो देहसे, कर्मसे विकल्पसे, सबसे छुटकारा पाकर केवल बनना है, सिद्ध होना है, यह बात चाहे १० भवमे हो, चाहे ५ भवमे हो या अनेक भावोमे भी हो, होना यही है। दूसरा कुछ हमको नहीं होना है।

भवरहित होनेकी दृढ भावनामे शिवमार्गका लाभ—एक कथा प्रसिद्ध है कि एक श्रावक भगवानके समवशरणमे जा रहा था। रास्तेमें एक मुनि महाराज मिले। वह एक छेवलेके पेडके नीचे बैठे ध्यान कर रहे थे। मुनि महारजकी वदना की और कहा—महाराज मैंने समवशरणमे जानेका प्रोग्राम बनाया है। तो वे मुनि पूछते हैं कि हमारे भी भव जानकर आना—कितने भव शेष हैं ? हाँ महाराज ! समवशरणमे गया, वहाँ यह भी बात पूछी—प्रभो अमुक मुनि महाराजके अभी कितने भव शेष रह गए ? तो वहाँ उत्तर मिला कि तुम जावो और उनसे बता देना कि इस समय जिस पेड़के नीचे बैठे हो उस पेड़मे जितने पत्ते हैं उतने भव उनके शेष हैं। श्रावक चला और वे मुनि महाराज मिले उस समय वे इमलीके पेड़के नीचे बैठे थे। छेवलेके पेड़के नीचेसे उठकर इमलीके पेड़के नीचे चले गए थे। तो मुनि-महाराजको इमलीके पेड़के नीचे बैठा देखकर वह श्रावक माथा धुनता है–महाराज मह राज! क्या बात, क्या बात ? अरे आप जिस पेड़के नीचे बैठें थे वहाँ होते तो मैं आपको बड़ी खुश खबरी सुनाता। हाँ तो सुना दो जो कुछ भी बात हो ? महाराज—मुझे समवशरणमे विदित हुआ कि मुनि महाराज जिस पेड़के नीचे बैठे तुम्हें मिलेंगे उसमें जितने पत्तें हैं उतने भव उनके शेष हैं। तो उस श्रावककी बात सुनकर मुनिराज बोले—परवाह नही, अरे भवका अन्त तो आया। ससारमे अनन्त प्राणी तो ऐसे हैं कि जिनके भवका कभी अन्त ही न आयगा और फिर अनगिनते भव एक दिनमें भी निकाले जा सकते हैं, ऐसी पर्याय पायें। आखिर क्या है ? कौन शरण है आपका ? अपनेको अपने सहजस्वभावरूपमे अपनी प्रतीति होना, इस ओर ही ज्ञान होना, इसमे ही मग्नता होना, यह बात शरण है और इसके प्रतापसे सदाके लिए सकटहीन सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी। तब इसके लिए क्या करें कि अपना अमर्यादित जो सहज ज्ञानानन्दका स्वरूप है उसकी सुध लें। जैसे ज्ञानमे मर्यादा नहीं कि कितना जानें ? सारा लोकालोक जानें और इतने और भी हो अनगिनते उसे भी जानें। ऐसे ही आनन्दमें

सीमा नहीं। जिसमें सीमा होगी उसमें अधूरापन है। आनन्द तो निराकुल है, उसकी सीमा क्या? तो अपने स्वरूपकी सुधके प्रसादसे अनवधिज्ञान और आनन्दकी प्राप्ति होती है। उसकी सुध लें और ससारके समस्त सकटोंसे छुटकारा पा लें। सारांश यह है कि बाहरमें कहीं हमारा कुछ शरण मत ढूँढो। शरण तो अपने आपमें विराजमान सहज-स्वरूपकी दृष्टि ही शरण है।

( २३ )

किसी भी दूसरे जीवसे या किसी भी अचेतन पदार्थसे तेरा रंच सम्बन्ध नहीं, किसी से कुछ भी आशा करना मूढ़ता है, इसका फल क्लेश ही है, अतः आशा पिशाचिनीसे छुटकारा लो और सत्य सुखी हो जावो।

किसीका किसी अन्य पदार्थके साथ सम्बन्धका अभाव—इस जीवको साता रहे, शान्ति रहे, संतोष मिले, इसका उपाय है समग्र पदार्थोंका किसी का किसीके साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है, इस प्रकारका परिचय हो जाना। वास्तविकता यही है कि एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ सम्बन्ध नहीं है। जब कभी किसी पदार्थमे विकाररूप परिणमन होता है तो यद्यपि होता है निमित्त सन्निधानमें ही। निमित्त सन्निधान बिना विकार हो ही नही सकता, तो भी यह उपादानकी ही कला है कि वह किस निमित्तको पाकर किस रूप परिणम जाता है? तो उपादानमें जो परिणति हुई है वह किसी दूसरे पदार्थको लेकर नहीं हुई। प्रत्येक पदार्थका स्वरूप है कि वह सत् है। अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे सत् है, परके द्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे सत् नही। जैसे ये ही दो अगुलियाँ हैं–पहली और दूसरी तो पहली अंगुली अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। इस पहली अगुलीका गुण पर्याय पिण्ड परमाणु स्कध कुछ भी दूसरी अंगुलीमें नहीं है। इस अंगुलीका जो निजी क्षेत्र है, वह इस ही में है, दूसरेमें नहीं है, पहली अगुलीका जो भी परिणमन है, जैसे रूप है, रस है, गध है, स्पर्श है तो वह इस ही में है, दूसरी अगुलीमें नही है और इस अगुलीमें जो शक्ति है, भाव है, गुण है वह इस ही में है, दूसरेमें नहीं है, ऐसे ही प्रत्येक पर्यायको भी निरखें। प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। जीवोंको भी देखो—प्रत्येक जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, दूसरे जीवका गुण पर्याय कुछ भी इसमें नहीं आया। जब इतने स्वतंत्र स्वतत्र हैं तो कैसे कहा जा सकता है कि इस पर्यायका यह पदार्थ कुछ लगता है। जो लोग किसी जीवको अपना कुछ मानते है वे अपनी कल्पनायें वैसा समझते हैं। अपना जगतमें कोई नहीं हुआ, न है, न होगा। अपनेपनका व्यवहार तो लोकमें इस कारण चलता है कि एक का दूसरेके साथ कषायभाव मिल गया तो वे एक दूसरेके कहलाने लगे। पर वस्तुतः किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ भी नहीं है।

किसी भी भिन्न पदार्थमे सम्बन्ध माननेके व्यामोहमे विडम्बना—मेरा कुछ भी बाहर कुछ नहीं है जब यह परिचय बनता है तब इस जीवका व्यामोह हटता है, क्योंकि किसी पर भ्रम रहे कि यह मेरा है तो उससे कौन आशा रखेगा और कौन आशा रखता है। यदि कोई परमे आशा रखे तो यह नियम तो न रहा कि वह आशा सफल हो, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ जुदा-जुदा है, किसी पदार्थपर अपना अधिकार नहीं है। तो जब किसी पदार्थसे अपनेको कुछ मिलता नहीं है तो उससे आशा करना मूर्खता है, व्यामोह है और ऐसी आशा रखनेमे, व्यामोह रखनेमे, मूर्खता करनेमे केवल क्लेश ही होता है। वहाँ आनन्दकी गुन्जाइश नहीं है। इस कारण कर्तव्य यह है कि आशापिशाचिनीसे छुटकारा पा लें। आशा रखें तो अपने सहज-स्वरूप भगवान परमात्मतत्त्वसे आशा रखें, क्योंकि यहाँ जो उपासना बनेगी वह शुद्ध ध्येयसे बनेगी और शुद्ध पर्याय अपने आपका स्वरूपहै, प्रयोजन है, इसलिए उसमें बाधा नहीं आ सकती। लौकिक कामोमे अनेक बाधायें हैं। लौकिक विचारमे वास्तविकता नहीं होती, किन्तु स्वरूपकी उपासना हो और स्वरूप ही जिसका विकसित हुआ है ऐसी प्रभुकी उपासना हो और इस स्वरूपकी आराधनाका ही जिसका सकल्प रहता हो, ऐसे सत पुरुषकी उपासना हो तो वहाँ रास्ता सही मिलता है और बाकी जगतके लौकिक पदार्थोंमे दृष्टि रखनेसे इस आत्मा को कुछ प्राप्ति न होगी। अतः बाह्य वस्तुओसे आशा करना व्यामोह है। जब कोई जीव अपने-अपने स्वरूपके किलेको मजबूत कर लेता है, मैं यदि बाह्यमे उपयोग न दूं तो क्या कोई दूसरा पदार्थ मुझपर जबरदस्ती करता है कि तुम वहाँ उपयोग ही दो। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक विधिसे यह बात है कि पूर्वबद्ध कर्मका उदय आया तो उस समय जीवमे प्रतिफलन होता है, उससे ज्ञानका तिरस्कार होता है और वहाँ यह जीव बाहरी इन नोकर्मोंमे उपचरित निमित्तोमे अपना उपयोग जोड़ता है। पर ऐसी विवशता अज्ञानदश मे है। जब ज्ञान बन जाय तो उसमे यह बल आ जाता है कि कभी-कभी कर्मविपाक होने पर भी इन उपचरित निमित्तोमे उपयोग नहीं जुडता। चरणामृतकी पद्धतिसे अपना व्यवहार रखकर त्यागवृत्ति द्वारा अपनेमे सतोष पाता है। कर्तव्य यह है कि हम किसी बाह्यपदार्थकी आशा न बनायें। आशा करें तो अपने आपके भगवत् स्वरूप परमात्मतत्त्वकी। तो यह आशापिशाचिनी दुर्गतिमे ले जाने वाली है। जैसे यहाँ लोकमे निरखते हैं कि किसीको भूतनी लग जाय तो उसकी विकल दशा हो जाती है, ऐसे ही यह आशाभूतनी जिसके निवास कर जाय वहाँ इस जीवको कष्ट ही कष्ट मिलते हैं। कष्टसे बचना है तो वस्तुका समूल ज्ञान करें, प्रत्येक पदार्थको स्वतत्र-स्वतत्र निहारो और आशा से छुटकारा पाकर सुखी हो लो।

( २४ )

अचलित चिदात्मक निज अन्तस्तत्त्वमें अपने आपको स्थापित करनेसे अभ्युदित होने वाला अविनाशी सौम्य ज्ञानप्रकाश ! सदा जयवत होओ, ॐ नम. सर्वविशुद्धाय, परमशरणाय, समयसाराय ।

परमशरण ज्ञानप्रकाशका जयवाद— देखो अपनी रक्षा करनी है तो अपना परम शरण ढूंढ लो। विचार कर, तर्कण कर, अनुभव कर पूर्ण निर्णय कर लें कि मेरा परम शरण क्या है ? उत्कृष्ट शरण जिसकी शरण गहनेसे, नियमसे सन्तोष मिले, सकट टलें, आधि व्याधि समाप्त हो जाय। ऐसा कुछ है परमशरण तो ऐसा परमशरण बाहरमें तो कुछ हो ही नही सकता। जब प्रदेश भिन्न हैं और निराले हैं तो उससे मेरे साथ शरणका क्या सम्बध ? बाहरमें तो कोई मेरे लिए परमशरण नही है। खुदमें ही खुद होगा खुदमें ही परम-शरण बन सकेगा। जो खुदका साथ निभाये, सदा रहे, कभी धोखा न रहे, ऐसा सदा रहने वाला मेरेमें क्या है ? मेरा चैतन्यस्वरूप। निर्दोष पावन जो चैतन्यस्वरूप है उसकी आराधना हो, यही मेरे लिए परमशरण है। जो स्वरूप कैसा है ? सर्वविशुद्ध है। अपने आपमें अपना स्वरूप लिए हुए है और समस्त परभावोसे जिसका हटाव हो गया ऐसा यह मेरा सहज ज्ञान-स्वरूप परमात्मतत्त्व यही परमशरण है। वह क्या है ? अगर सीधे स्पष्ट शब्दोमे निरखें तो वह है शुद्ध ज्ञानप्रकाश। ऐसी जानकारी, जिस जानकारीमे रागद्वेषकी मलीमसता नहीं है, इस ज्ञानप्रकाशका जब विलक्षण आनन्द अनुभवमे आ जाता है, परमशान्ति प्राप्त हो जाती है तो आराधककी भावना इस ज्ञानप्रकाशको आशीष देनेकी होती है। अहा, निर्मल ज्ञानप्रकाश ! जयवन्त हो, सहज ज्ञानज्योति तुम सदा मेरे-मेरे उपायोगमें विराजो ऐसा ज्ञानप्रकाशके प्रति आशीष मिलता है।

सौम्य शान्त अविनाशी ज्ञानस्वरूपका आशीष— यह ज्ञानप्रकाश सौम्य है। जहाँ रागद्वेषकी मलीमसता होती है वहाँ ही विषमता आती है। यह रागद्वेषसे रहित है ज्ञानप्रकाश इसलिए सौम्य है, शान्त है, इसके द्वारा कभी आपत्ति नही होती। किसी भी पदार्थको उसके स्वरूप द्वारा आपत्ति नही आया करती। आपत्ति तो परनिमित्तसगसे ही सम्भव है। केवल अपने आपमे अपनी ओरसे आपत्ति हो ही नहीं सकती। वह तो उस खुदका स्वरूप ही है। अपना स्वरूप अपने बिगाड़के लिए नही हुआ करता। ऐसा यह सौम्य ज्ञानप्रकाश शाश्वत जयवन्त होवे। अहा यह ज्ञानप्रकाश दृष्टिमे आये तो उसके सारे सकट मिट जाते हैं। इसके लिए भगवानकी मूर्तिके समक्ष वहाँ इस ही की मुद्रा देखी जाती है। वहाँ यह ही भावना की जाती है शुद्ध चैतन्यप्रतिभास, यह ही है भगवानका रूप, जहाँ ज्ञान ही ज्ञान विराज रहा है।

रागद्वेषका कोई काम नहीं है, ऐसा यह सौम्य प्रकाश अविनाशी है इसका विनाश कभी भी सम्भव नहीं। जो मेरा स्वरूप है वह कभी नष्ट हो नहीं सकता। स्वरूप नष्ट होनेके मायने हैं पदार्थ ही नष्ट हो गया। पदार्थ और पदार्थका स्वरूप ये भिन्न-भिन्न दो बातें नहीं हैं। पदार्थ का ही एक वह रूप है। तो यह मेरा आत्मस्वरूव अविनाशी है, अनादि अनन्त है। न इसकी उत्पत्ति हुई, न इसका विनाश होगा। यह तो सदा स्वतःसिद्ध अनादि अनन्त है। ऐसा अविनाशी सौम्य स्वरूप ज्ञानप्रकाश मेरेमे शाश्वत जयवन्त होवो। शाश्वत जयवन्त होनेका अर्थ है कि मेरे उपयोगमे सदा अभ्युदित रहे, ज्ञानमे ज्ञेय रहे। ज्ञानमे यह ज्ञानप्रकाश बसा रहे, ज्ञानमें विकल्पका लेश न आये। ज्ञानमें आये, इसीके मायने हैं कि जयवन्त होना। जयवन्त तो वह है ही। जो अविनाशो है वह कभी मिट नहीं सकता। जयवन्त तो है ही तभी उसकी हार नहीं होती। कभी वह स्वरूप नष्ट नहीं होता। जो स्वरूप है वह शाश्वत है, लेकिन जिसको पता न हो इस अतस्तत्त्वका उसके लिए तो कुछ नहीं है। वह तो दीन हीन भिखारी ही बना रहता है। तो जयवन्त होनेका अर्थ यह है कि यह अविनाशी आत्माराम मेरे ज्ञानमें सदा बसे।

अचलित सौम्य शान्त ज्ञानप्रकाशके प्रति प्रयोगात्मक नमन—यह अविनाशी सौम्य ज्ञानप्रकाश कैसे उदित होता है, कैसे विकसित होता है और कैसे ज्ञानमे आता है? उसका उपाय है कि अपना जो चैतन्यस्वरूप है, अन्तस्तत्त्व है उसमे अपने आपको उपयुक्त कर दे, अपने उपयोगको अपने निज शुद्ध चैतन्यप्रकाशमे लगा दें तो यह प्रकाश उदित हो जायगा। जो अब तक अज्ञानभावसे तिरस्कृत था तो तिरस्कारसे हटकर अब अपने अभ्युदयमे आ जायगा। कहाँ लगाना है इस उपयोगको? अपने अन्तस्तत्त्वमे, अपने अन्तःस्वरूपमे। जो स्वरूप कैसा है? अचलित है। कभी चलायमान नहीं हो सकता। जो जहाँ है सो उसका स्वरूप ही है। स्वरूप कभी चलित नहीं होता। जैसे पुद्गल है तो उसका रूप कभी चलित होता है क्या? रूप, रस, गध, स्पर्श आदि न रहे, ऐसा कभी कोई समय आता है क्या? तो मेरा जो अन्तः स्वरूप है ज्ञान दर्शनमय, क्या यह कभी चलित हो सकता है? कभी मुझमे ज्ञान दर्शन न रहे, ऐसी स्थिति आ सकती हैं क्या? कभी नहीं आ सकती। तो यह स्वरूप है अचलित। जो कभी भी चलायमान नहीं हो सकता। यह स्वरूप है चैतन्यात्मक। जिसका चेतना ही स्वरूप है, ऐसे अपने अन्तस्तत्त्वमे अपने आपको लगा दें यानं उपयोग जुटा दें तो ऐसे ज्ञान व्यापारसे एकदम उदित हो जाता है यह अविनाशी सौम्य, ज्ञानप्रकाश, जिसके प्रकाशमे, अभ्युदयमें जो विलक्षण आनन्द होता है उस आनन्दसे तृप्त होकर यह आराधक आशीर्वाद देता है कि हे सौम्य ज्ञानप्रकाश! सदा जयवन्त होवो, सदा उपयोगमें जुड़ो और उसके प्रति

नमनका भाव होता है। ॐ नमः सर्वविशुद्धाय, परमशरणय, समयसाराय।

( २५ )

मै ज्ञानमात्र हूं, किसी परज्ञेयके जाननपर मुझ ज्ञानतत्त्वका अस्तित्व नहीं ज्ञान अपने स्वभावसे ज्ञेयज्ञानलहरोको उछालता रहता है, परमार्थतः यही ज्ञान है, यही ज्ञेय है, यही ज्ञाता है। जयवन्त होओ मेरे स्वातन्त्र्य।

स्वत सहजसिद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके उपयोगसे सकटोकी समाप्ति—एकदम सीधे किस तत्त्वपर उपयोग जाय कि सारे संकट विनष्ट हो जाते हैं ? वह तत्त्व है अपना ज्ञानमात्र स्वरूप। मै ज्ञानमात्र हूं, खुद हूं, अपने आपसे हूँ। अपने स्वरूपसे हूँ। यद्यपि इस ज्ञानका काम है कि ये सारे पदार्थ जाननेमे आ जाते है। सभी पदार्थ ज्ञानमें आते है। सब कोई तत्त्व हैं, सबकी जिन्दगी है। ये पदार्थ सब ज्ञानमे ज्ञेय बनते हैं सो बनें, ऐसा ही यह एक सहज योग है कि लो मै ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपसे ही हूं। कही इन परपदार्थोको जानता हूं सो इस जाननेके कारण मेरा स्वरूप बना हो, सो बात नहीं। जाननेकी तो एक साधारण कला है। सो जाने बिना रहता नहीं यह, पर जो पदार्थ जाने जाते है उन पदार्थोके कारण जानना बन रहा हो या स्वरूप बन रहा हो, सो बात नही है। मैं ज्ञानमात्र हू, किसी भी ज्ञेयके जानने के आधारपर इस मुझ ज्ञानमात्रका अस्तित्व नहीं, परपदार्थ पर हैं, बाहरी हैं, भिन्न हैं। मै ज्ञानमात्र आत्मा स्वतःसिद्ध हूँ, स्वरूपको लिए हुए हूं। अब यह ज्ञानकी एक सहज कला है कि ज्ञान द्वारा समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। सो ज्ञात होनेपर जो जाने गए वे वे अपनी सत्तापर आधारित है। जो जानने वाला मै हू सो अपनी सत्तापर आधारित हूँ। ज्ञान क्या कर रहा है और ज्ञेय क्या कर रहे है, इन दोनोकी पृथक् पृथक् बात दृष्टि रहती है। ज्ञानीके ज्ञान क्या कर रहा है ? अपने स्वभावसे ज्ञेय जाननरूप उछाल लेता रहता है। ज्ञेयोको कुछ नहीं कर रहा है। जैसे बाहरमे ये पदार्थ हैं, ये अपनी सत्ताको लिए पडे हैं, इनको यह ज्ञान कुछ नहीं करता। क्योकि ज्ञान तो आत्माके प्रदेशमें है। ज्ञान जो कुछ पर पाता वह अपने प्रदेशोमे ही कर पायगा, परक्षेत्रमें नहीं कर सकता। तो ज्ञानने पर-पदार्थको कुछ नहीं किया, किन्तु परपदार्थको जाना। ऐसा जो जानना चल रहा है इस जाननरूप लहरको मै उछालता हूँ याने ज्ञानकी वृत्तियाँ उठती हैं और उसमे ज्ञेय ज्ञात होते रहते हैं। इतना काम मेरे ज्ञानका है और ज्ञेय क्या करता है ? ज्ञेय अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे परिणमता है। वे मुझ ज्ञानमे कुछ नहीं किया करते। वे ज्ञानके विषय बनते हैं।

ज्ञानतत्त्वकी ज्ञानमय उछाले—भैया ! वास्तविकता तो यहाँ इतनी है कि सभी पदार्थ खुदके खुदमे हैं, ज्ञान ज्ञानरूपमें है। पर अज्ञानी जन कुटुम्ब बढ़ाकर अनेक अन्य विकल्प

करके अन्यको विषय बनाकर अज्ञानरूपमे प्रवर्तन कर रहा है। वस्तुतः तो जीव अपनेमे ज्ञान-परिणति करता है और ज्ञेय पदार्थ न जानते हुए, अपने स्वरूपमे परिणमते हुए अपनी सत्ता बनाये चले जा रहे हैं। परमार्थसे देखो तो वास्तव मे ज्ञान यही ज्ञान है जो ज्ञानमात्र रहे, ज्ञातादृष्टा रहे, परपदार्थमे विकल्प न मचाये, वह ज्ञान वास्तवमे ज्ञान है, यही ज्ञान है और उस समयमें परमार्थसे जाना क्या गया यही ज्ञान जाना गया। ज्ञानने ज्ञानको जाना, ज्ञानने इस खम्भेको नहीं जाना। देखिये यहां निश्चय और व्यवहारकी बात चल रही है। ज्ञानने निश्चयसे तो ज्ञानको जाना और व्यवहारसे इस खम्भेको जाना। इसका अर्थ यह नहीं कि खम्भेका जानना झूठ है या यह खम्भा नहीं है, अन्य कुछ है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान अपने प्रदेशोसे हटकर इस खम्भेमे फंसे और इस ज्ञानसे इसको जान ले, ऐसी बात नही है। ज्ञान तो अपने ही स्वाभावसे जानता है। किसको जानना है? अपने ही ज्ञानके परिणमनको जानता है, पर वह ज्ञानपरिणमन मुझमे ऐसा हुआ जैसे कि बाह्य पदार्थ मौजूद हैं। उनके विषयकी ही तो जानकारी है। तो निजमे उठने वाला जो विकल्प है, ज्ञान है उसका तो यह ज्ञाता है। पर निश्चयसे बाह्य वस्तुका ज्ञाता नहीं है। फिर भी जिस तरहसे हमने अपने आपको जाना, जिस रूपमे हमने अपने आपको जाना वह रूप क्या है? जैसे कि कोई दूर पदार्थ है उस प्रकारका यह ज्ञेयाकार परिणमन है, सो व्यवहार असत्य है, ऐसा कहकर न बढ़ें, किन्तु व्यवहारमे तथ्य क्या है उसे जानकर, इस तथ्यका विकल्प भी त्यागकर अपने ही ज्ञानस्वरूपको जानते रहे, ऐसा यही ज्ञेय बन रहा है। निश्चयसे ज्ञान कौन? मै, निश्चयसे ज्ञेय कौन? मैं, और निश्चयसे ज्ञाता कौन? यह मै। जानने वाला कौन? यह मै, जो जानने वाला सो मै। और किससे जाना गया, मुझसे ही जाना गया।

उदाहरणपूर्वक निश्चय और व्यवहारके कथनमे स्वभावके दर्शनकी शिक्षा—जैसे दर्पणके सामने कोई चीज रखी है और प्रतिबिम्ब आ गया दर्पणमे लाल कपडा रखा है तो लाल प्रतिबिम्ब आ गया, सो वह लाल प्रतिबिम्ब दर्पणकी ललाई है। उसे किसने किया? तो सब जानते हैं कि लाल कपडा सामने आया तब प्रतिबिम्ब हुआ। तो न्यास होता उस प्रतिबिम्बको लाल कपड़ेने कर दिया और यो भी इसपर दृढ जानकारी होती है कि इस लाल कपड़े को जितना जल्दी हिलाते हैं, हटाते हैं वैसे ही वैसे उतना ही उतना जल्दी-जल्दी उस दर्पणमे उस प्रकारका प्रतिबिम्ब पड जाता है। उससे भी यह ही समझें कि वह प्रतिबिम्ब इस कपड़ेका है, दर्पण तो स्वच्छता मात्र है। लेकिन जब निश्चयदृष्टिसे देखते हैं तो उसका प्रयोजन है अभिन्न प्रदेशको निरखना। प्रतिबिम्ब किसका परिणमन है उसे देखो। प्रतिबिम्ब कपड़ेका परिणमन नहीं, प्रतिबिम्ब दर्पणका परिणमन है, और प्रतिबिम्ब दर्पणके क्षेत्रमे

प्रदेशमें ही उद्गत हुआ है, तब वह प्रतिबिम्ब किसका परिणमन है ? तो कहा जायगा दर्पण का। देखो व्यवहारसे जो समझा उससे भी स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलती है। निश्चयसे जो समझा उससे भी स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलती है। ऐसा यह मेरा ज्ञानस्वरूप परमार्थत यह ही ज्ञान है, यही ज्ञेय हो रहा है, यही ज्ञात हो रहा है। कैसा स्वातंत्र्य है कि आत्म-पदार्थ स्वयं अकेला अपने आपमे अपनी परिणतियोंकी उछाल लगाता चला जा रहा है। इसमें किसी दूसरे द्रव्यका प्रवेश नहीं है। तो जो ऐसी ज्ञान उछालोंको देख-देखकर तृप्त रहता है, बाहरी पदार्थोंके विकल्पको नहीं करता है ऐसा संतपुरुष ही अपने आपमें सतोष पाता है। भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंका प्रक्षय करता है। आगे सुगति पायी जाती है जहां धार्मिक वातावरण मिलेगा और वहाँ और प्रगति करेगा तो मुक्ति बहुत निकट हो जायगी। ऐसा जो अपना स्वातंत्र्य है उसे देखें और ज्ञान ज्ञानरूपसे ही परिणमे, ऐसी भावना रखते हुए स्वातंत्र्यका जयवाद करें।

( २६ )

अनन्तशक्त्यात्मक होने पर भी स्वयको नयदृष्टिसे लखने लग जाता हूं, तो बुद्धिसे खण्डित होकर परमस्थितिसे भ्रष्ट हो जाता हूं, अत. यही ध्यान जयवंत होओ---मै अखण्ड सहज शान्त अचल चैतन्य तेज हू।

अखण्ड निज तत्त्वको खण्डित कर परमार्थच्युतिमे सकटो का अनुभव---लोग अपने आपको अनेक रूपोंमें देखा करते हैं। कालकी अपेक्षा अनेक रूप। जैसे मै बालक था, जवान हुआ, बूढ्ढा होऊँगा, अमुक गतिमें था, अमुक गतिमें होऊँगा। अपने आपके बारेमें काल दृष्टि से अनेक रूप यह जीव सोचता है और गुणदृष्टिसे भी अनेक रूप सोचता है। मै ज्ञान वाला हू, दर्शन वाला हू, चारित्र वाला हूं, आदिक, पर वास्तवमें देखा जाय तो क्या मुझमें या किसी भी सत्में अनेकरूपता होती है ? प्रत्येक सत् अखण्ड है, उसके समझनेके लिए व्यवहारसे भेद किए जाते है। व्यवहारसे भेद किए जाना असत्य नहीं, क्योकि आचार्य सतोंने व्यवहारसे भेद करके ही जीवतत्त्वको पहिचान कराई है। अगर असत्य हो तो असत्य मार्गसे सत्यस्थान पर पहुंचना कठिन होता है तो वस्तु निश्चयसे अखण्ड है और व्यवहारसे उसके खड किए जाते हैं समझनेके लिए। तो अपने आपको विचारें कि मै अखड हू। अखण्ड होकर भी समझ में तो आ ही रहा है कि मुझमें अनन्त शक्तियाँ हैं, अनन्तशक्त्यात्मक होकर भी मै अखण्ड हूं, अखण्ड होकर भी मै अनन्तशक्त्यात्मक हूं। तो नाना विचित्र अनन्त शक्तिरूप हू और अखड हू। ऐसे इस निज तत्त्वको मै अपने आपको जब नयदृष्टिसे निरखता हू तो उसकी विधि मे उसके खड (अश) बन जाते हैं। सो जब मै इन अशोको तकता हूं तो मै परमार्थसे च्युत

हो जाता हू । परमार्थसे तो ज्ञानमें आता है एक अखड और व्यवहारसे ये नाना अशोमे (खडों में) विदित होते हैं । और जब एक परमार्थ स्थिति उसके उपयोगमे नहीं रहती, अपनेको जब नानारूप सोचता है तो इस जीवके व्याकुलता जगती है । देखो यदि बाहरके किसी पदार्थका विकल्प हो रहा हो तब कितनी अधीरता रहती है ? सो भैया ! आत्महित देखो और समझो, सुनो, बाहरी पदार्थके विकल्प छोड़ दो कुछ अपने आपपर दया करके । क्योंकि ये विकल्प अपनेको मददगार नहीं, सहायक नहीं, मिट जाने वाले हैं विकल्प । तो एक बार तो सारे विकल्पोको छोड दो ।

विकल्पपरिहार मेलाभका दिग्दर्शन—इतना भीतरमे साहस जगाओ, ज्ञानबल बढ़ाकर कि मै सब विकल्प छोड़ दूँ तो उसमे न दूसरेका नुक्सान, न मेरा नुक्सान । क्योकि घरके लोग या जिन-जिनकी व्यवस्था सम्बन्ध है उन सबके अपने-अपने उदय हैं और सभी जीव अपने-अपने उदयके अनुसार ही अपना जीवन भविष्य पाते हैं, उनका विकल्प मै छोड़ दूँ तो उनका कोई नुक्सान नही । केवल सोचता ही है यह जीव कि यदि मै न करूँ तो इसका क्या होगा ? अरे जब उनका पुण्योदय है तो आपको उनकी नौकरी करनी ही पडेगी । आपके चिन्तायें करनेसे कहीं उनको सुख नहीं हुआ, किन्तु उनके ही पुण्यविपाकसे ऐसा समागम मिला कि उनको सुख होता है, तो उनका तो कुछ नुक्सान नहीं और विकल्प छोड़ दें तो इसका भी क्या नुक्सान ? विकल्प छोड़नेपर भीतरमे निर्विकल्प परमात्मप्रभुका दर्शन होता है । विकल्प न जगें तो यह हृदयकी बात स्वच्छ कहलाती है, और जब हृदय स्वच्छ हो तो वहाँ परमात्मप्रभुका विलास बनता है । तो विकल्प छोड़कर सो लाभ ही लाभ पाया । जरा अपने भीतरका ख्याल करो । यह मैं आत्मा कोई ज्ञानवान, ज्योतिवान, प्रकाशवान, चकचकायमान कितना विलक्षण पदार्थ हू । उसमे न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है । मुझको न कोई पकड़ सकता है, न जला सकता है । न बाँध सकता है । मैं अमूर्त हू, फिर भी कैसा स्वरूप, कैसा स्वभाव कि इसका जानन स्वभाव है । इसकी महिमा कितनी ही समझायी जावे, यह कितना महान् है, यह मै कैसा विलक्षण पदार्थ हू कि मेरेमे मेरे ही स्वरूपसे सारा विश्व प्रतिभासमान हो जाता है, ऐसी अलौकिक शक्ति है । तो ऐसा ज्ञान ज्योतिर्मय मैं परमात्म पदार्थ हू ।

मेरा स्वरूप और मुझपर बीत रही घटना—अब भीतर विचारें कि मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानज्योति मात्र हूं । सो इसका जो काम बनेगा वह ज्ञान ही ज्ञान बनेगा । हिसाबसे, गणितसे, युक्तिसे, अनुभवसे तो यह बात सोचनी है कि मै तो स्वतत्र हू, ज्ञान-ज्योतिस्वरूप हूं, आनन्दमय हू, क्लेशका वहाँ काम क्या ? लेकिन बीत क्या रही है, सो भी

देख लो, क्लेश, विपदा, विकल्प, ये ही सारी विपदायें बीत रही हैं। सो ये आपत्तियाँ कैसे आयी हैं ? पहलेके बांधे हुए कर्म उदयमें आ रहे हैं। और चूंकि यह आत्मा चेतन है, यही उदयमें आ रहे है। तो उदयमें क्या आ रहा है ? वे कर्म, उनका अनुभाग खिल रहा, उनमें क्षोभ चल रहा, उनमें कुछ विलक्षणता, एक बवण्डरसा चल रहा। तो मेरे क्षेत्रमें, मेरे निमित्तनैमित्तिक भावमे बांधे हुए कर्मोमे इतना बवण्डर चले तो यहाँ उसकी छाया तो होगी, झांकी तो बनेगी, अबुद्धि पूर्वक बनी, अब एक और बढ़ावा दिया, अपनाया, विकल्प किया, अपना समझा, तो बस यह जीव उद्विग्न हो जाता है। इतना तो ध्यान दो कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हू, मेरेमे खुद कोई कषाय जगी, ऐसा विकल्प जगा, ऐसा क्यो हो ? होता सो है। तो उसका अर्थ यह है कि विकल्प क्या है ? कर्मोदयका जो खेल है वही इसकी झांकीमें आया और उसमें उद्विग्न होकर इस जीवने उस कर्मविपाकके नोकर्ममें उपयोग दे डाला।

स्पष्ट भिन्न पदार्थोसे ममताकी मूढता— भैया ! जरा विवेक तो बनाओ, हम दुःखी क्यो होते है। अरे मोटीसी बात इतनी तो विचार लें कि मर गए सो अकेले जायेंगे कि कुछ यहांसे समेटकर ले जायेंगे। कोई यहांसे मरण करके यहांका कुछ साथ ले जा सकेगा क्या ? अरे मरनेके बाद तो साथ कुछ नहीं जाता। तो जिन्दामे इन परवस्तुवोंके प्रति क्यो सोचते है कि ये मेरे हैं ? यह तो एक कोरा विकल्प है। दस-पाँच वर्षोको आपने सोच लिया, मान लिया, विकल्प कर लिया और मर गए, सब छूट गया, तो यह ही तो गोरखधंधा है संसारका कि जब तक जिन्दा है तब तक मन नहीं मानता और मर गए तो सब छूट गया। जहां गए सो फिर कुछ मिला, वहाँ भी मन नहीं मानता। मर गए, फिर आगे बढे। यह ही तो संसारका गोरखधधा है, इसमें मिलता क्या है ? फिर क्यो नहीं चेतते ? अन्याय करनेकी बात मनमें क्यो आती है ? तो देखो अपने आपके भीतर यहांकी व्यवस्थापर ये बाहरी बातें आधारित हैं। बाहरी बातोपर सुख-दुःख आधारित नहीं, किन्तु इन भीतरी विकल्पोंपर ये बाहरी बाते आधारित हैं। भेदविज्ञान कहते किसे हैं ? यहीं भीतरमें ऐसी दो टूक बात जंचे कि यह तो मै ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा हूं और ये सब कर्मविपाकके चित्रण है। इनमें मै क्यो लगूं ? मै तो अपने सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनामे लगूं, तो यहां भीतरमे भेदविज्ञान करना है और यहां अपनेको खालिस ज्ञानप्रकाश ूप हूँ ऐसा अनुभवना। जब बाहरमें कहीं कोई मददगार नहीं तो वहां ही क्यो दृष्टि उठाये फिरते हैं ? वहांसे दृष्टि संकोचें और अपने आपके भीतर के अन्तःस्वरूपमे दृष्टि ले जायें।

अचलित चैतन्यज्योतिका आशीष— कोई किसी बातमे फंस गया हो तो कहते हैं कि

इसे युक्तिसे निकालो। और जब खुद इतना तेज फसा हुआ है कि इसके इस उपयोगस्वरूपपर सारे विकल्प लदे चले आ रहे हैं तो इसमे इसकी विडम्बना नहीं है क्या ? विडम्बनामे पड़े हैं तो इसे धीरे से-निकालें, युक्तिसे निकालें। वह युक्ति यह ही है कि भेदविज्ञान करें। उपयोग यही बने तो ये सब विडम्बनायें दूर हो सकती हैं। हां बात यह चल रही है कि मैं तो जो हूं सो ही हूँ, अखण्ड हूँ, एकरूप हूँ। पर तीर्थप्रवृत्तिके लिए नयोके द्वारा इस अखड आत्माके अंश करके समझाये जाते हैं। सो जब हम इस भेदपर दृष्टि रखते हैं तो निर्विकल्प अवस्थामे नहीं रह पाते। सो भेदको समझकर उन्हे गौण करें और अखड अभेद जो ज्ञानस्वरूप है उसकी आराधनामें लग और भीतरसे इस स्वरूपके प्रति आशीर्वाद प्रकट करें कि हे अखण्ड ज्ञानज्योति स्वरूप ! तुम जयवन्त प्रवर्तो, क्योकि इसके आश्रयसे ही सही मार्ग बनता है। बराबर भावना बनाओ, यही भाव जयवन्त हो। देखो अपना समा जिसमे अखण्ड चैतन्य ज्योतिस्वरूपका भाव समा जाय। मै अखण्ड एक सहज शान्त अविचल चैतन्य तेज हूं। मैं तो जो हूं सो हूँ और समझने समझानेके प्रसगमें सर्वप्रकारसे समझना पड़ता है। मै अखण्ड हूं, यह तो स्पष्ट है, क्योकि मैं कोई टुकडा बन-बनकर जुदा तो नहीं पड़ा रहता। मै एक हूं भले ही इसमें नाना विचार जगते हैं, पर आधार तो मैं एक ही पदार्थ हू, सहज शान्त हूँ। जैसे समुद्र तो शान्त रहता है मगर वायुकी प्रेरणा मिली कि वहां अशान्ति प्रकट होती है। मै शान्त हूं और अविकल तेज हूँ। जा ज्ञानज्योति है वह विचल नहीं होती, ऐसे अविचल चैतन्य तेजमय प्रभुकी उपासनामे ही अपना कल्याण है।

( २७ )

साध्य समयसारकी साधनाकी धुनमे अन्य धुन छूट जाती है तब एकदेश व सर्वदेश त्यागरूप श्रावकलिङ्ग व श्रमणलिङ्ग अनिवारित है; तथापि अन्तस्तत्त्वके दर्शन, ज्ञान, आचरणरूप ज्ञानसंचेतनसे साध्यकी सिद्धि होती है।

अपना सार समयसार—परखा, अपना सार कहां मिलता है ? बाहरमे नहीं। खुदमें ही सार देखो और खुदमे ही शरणपना देखो। खुदमे सार क्या है ? समयसार याने अपना सहज चैतन्यतेज। इस चैतन्यतेजकी साधना बनावें याने अपने ज्ञानमे यही चैतन्यस्वरूप समाया रहे, उसकी धुन बन जाय, मेरेको तो सहज आत्मस्वरूप चाहिए। सो जो ज्ञानी पुरुष है, जिसने अपना एक ही प्रोग्राम रखा है कि मुझे सिद्ध होना है, जितने भव लगें, लगें। जो भव शेष है वह इसही धुनमें जाय। मेरेको तो सिद्ध होना है, भगवान होना है, ऐसा सोचकर कोई तो करेंगे आश्चर्य कि क्या नन्हे मुख बड़ी बात करते हैं कि मै भगवान होउँगा। और कोई सोचेगा ऐसा कि मै भगवानस्वरूप अभी नहीं हू। उसका विकास नहीं। उसका आचरण है

पर मेरेमें कैवल्यस्वरूप न हो तो मै कभी केवल हो ही नहीं सकता। भगवान होनेका नाम यह है कि मै खालिस मै हो मै रह जाऊँ, इसीको कहते हैं भगवान होना। आवरणसे गदा है कषायोसे मलिन है, फिर भी स्वरूप तो चैतन्य ही है। उस ही की धुन बने, दृष्टि बने तो ये मल कर्म दूर हो सकते हैं।

अपना साधन साध्य समयसार—देखो अपनेको साध्य क्या है ? समयसार याने दृष्टि में क्या लेना है और अन्तिम स्थिति हमारी क्या बननी चाहिए ? सो कार्य समयसार और कारणसमयसार—ये दो बातें समझिये, मुझे क्या बनना है ? कार्यसमयसार। किस तरह बन सकेगा ? इस कारणसमयसारकी दृष्टि रखकर बन सकेगा। तो देखो समयसारकी धुन रखता है ज्ञानी जीव। जिस धुनमें ससारकी बाकी धुन छूट जाया करती है एक ही धुन रहती है—मुझे तो यह ही ज्ञानस्वभाव दृष्टिमें रहे। तो जिसको अपने कवल्यस्वरूपकी इतनी धुन बन जाय वह बाहरी और बातोमे फसेगा क्या ? धुन इसकी बन गई अपने आपके स्वरूपको उपयोगमें लेनेकी। इसका प्रमाण यह है कि बाहरमें बाह्य वस्तुओका सम्पर्क कम हुआ या दूर हुआ ? तो जिनको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन बन जाती उसको दुनियाकी बाकी धुन छूट जाती है और जिनको जगतकी बाकी धुन छूट गई उनके बाह्यपदार्थोका त्याग बन जाता है। जब किसी बाहरी बातकी धुन ही न रहे तो ये बाहरी बातें मेरे पर कब तक लदी रहेंगी ? तो बाह्य वस्तुवें छूट जातीं ना ? जिसमें अपने ज्ञानकी साधनाकी धुन बनी है।

त्याग व्रतमे से गुजरकर ही सिद्धिका लाभ—जब बाहरी वस्तुवें छूट गई तो जहाँ कुछ छूटी उसका नाम है श्रावक और जिसका सब छूटा उसका नाम है मुनि। क्यों छूटीं कि उसको केवल स्वरूपसाधनाकी धुन है, अन्य कुछ धुन है ही नही। तो देखो जो साध्य समयसारकी धुनमें रहता है उसके श्रावकधर्म और मुनिधर्म ये तो आते ही हैं। मुनिधर्मके आये बिना, इसमें गुजरे बिना मोक्ष किसीको नहीं मिला, न मिल सकेगा। किसीको कुछ समय लगा, किसीको ज्यादा समय लगा। उसके ये सब श्रावकधर्म, मुनिधर्म बीचमें आते ही हैं। आते तो है, पर इनमे अटकनेको बात नही करनी है, ये तो आयेंगे। जब हम अपने ज्ञानस्वरूपकी धुनमें रहते हैं तो वहाँ तो परिहार, आकिञ्चन्यका रूप, संयम, व्रत ये सब भाव आते हैं। तो यह ही कहलाया द्रव्यलिग। जिसके भीतरकी प्रगति होती है, शुद्धता है उसकी बाहरी मुद्रामें भी ये बातें आ जाती हैं। जैसे लोकमें कहते हैं ना—"मनभूपतिके हृदयको दृग दिवान कह देय।" किसके मनमें क्या बात है ? यह उसकी स्वयकी आंखें बता देती हैं। बहुत मुश्किल पड़ती है मनकी बानको छुपानेके लिए। इन आंखोको कहाँ ले जायें, किसी तरहसे कीजिए बहुत मुश्किल पड़ती है। जो मन की बात है उसे आंखें

बता देती हैं। तो देखो बाहरी मुद्रा बनी ना। कषायमें भी बाहरी मुद्रा बनती है। किसीके क्रोध आया तो बताओ कौनसे स्कूलमें सिखाया जाता कि इतना ओठ भी हिलना चाहिए, गाल थोड़ा भी कप जाना चाहिए, सिर भी हिल जाना चाहिए, आंखें भी टिमटिमा जानी चाहिएँ। भीतरमे कषाय जगे तो उसकी मुद्रा आती ना सामने। तो भीतरमे जिसके वैराग्य जगे तो बाहरी मुद्रा आयगी नहीं क्या सामने ? बाहरी मुद्रा अगर नहीं आती और भीतरकी बात बढ़-बढ़कर करते तो सबका नाम कह दो गप्प। मुद्रा आये बिना रहती नहीं और उसी मुद्राके आधारपर यह तीर्थपरम्परा चलती है। तो जो साध्यसमयसारकी धुन रहती है उसकी बाकी धुन छूट जाती है और तब जब बाकी धुन न रही तो बाह्य पदार्थ कब तक उससे चिपटे रहें, वे दूर होते हैं। थोडा दूर हुए तो श्रावकलिङ्ग बना, सब दूर हो तो साधुलिंग बना, यह भाव आता है तो भी इस व्यवहारको परमार्थ नहीं मानते वे साधकजन। वे उसी मुद्रामे से गुजरते हैं और द्रव्यलिंग मुद्रामे प्रीति नहीं रखते, प्रीति तो उनको स्वभावमे है, ज्ञानाराधनामें है। उस भेषमे रहकर भी ये ज्ञानी साधु योगीजन अपने अन्तरमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इनकी ही साधना करते हैं और वहाँ एक शुद्ध ज्ञानका ही चिन्तन होता है। तो अपना सहज ज्ञानस्वरूप प्रकट हो ही जाता है तो ज्ञानचेतना, मेरा मै ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता, ज्ञानको ही भोगता, ज्ञान ही सर्वस्व और फिर उस ज्ञानका सहजस्वरूप ज्ञानमे आये तो यह जो अन्तर बल है बस यह ही इस ससारसमुद्रसे पार करा देता है।

सारांश इतना कि हम अपनेको ऐसा अनुभव करें कि मै ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ज्ञान सहजस्वरूप, जिसका शुद्ध काम है जानना। बाकी मलिनता तो कर्मोदयकी बात है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभावका दर्शन करानेके लिए होता। परतंत्रता नहीं बताती है निमित्तनैमित्तिक भाव, किन्तु स्वरूपदर्शनके लिए तैयारी बनाती हैं। यह भाव हटे, नैमित्तिक है, औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं। तो यों अन्तस्तत्त्वके दर्शन कर अपनेमे तृप्ति पायें और भव-भवके बन्धनसे छुटकारा पावें।

( २८ )

जितने क्षण सहजात्मध्यानमे गुजरें उतने क्षण सार्थक हैं, जितने क्षण विषयकषायमे गुजरें उतने क्षण व्यर्थ हैं, अनर्थ हैं। प्रियतम ! अपने सहज शौर्यको संभालो, व्यर्थका कष्ट मत भोगो।

उपयोग लक्षण वाले जीवका ससार अवस्थामे ध्यान व्यापार—आत्माका स्वरूप उपयोग है। उपयोगका कार्य कुछ न कुछ जानते रहना है। अब यह विचारें कि हम क्या

जानें कि हमारा समय सफल हो और क्या जानें कि हमारा समय व्यर्थ जाय। यहांका जिसने विवेक किया बुद्धिमान वही है। बाहरी अनेक बातोंमें कोई विकल्प करे, लौकिक बहुत बड़ी समस्यायें सुलझाये तो वह कोई बुद्धिमानी नहीं है। यह तो एक ससारका यहांका परिणमन है, जो हो सो हो, लेकिन अपने उपयोगमें इस बातका विवेक बना लेना कि मेरा हित किस विचारमें है और अहित किस विचारमें है? ऐसा अगर विवेक बन जाय तो इसमें जीवनकी सफलता है। अब विचारो आत्मा विचार करता है ना कुछ और यह ही विचार जब कुछ निरन्तर रहता है तो इसीका नाम कहलाता है ध्यान। चित्तका विचारका एक विषयकी ओर रुक जानेका नाम ध्यान है। ध्यान अच्छे भी हो सकते, बुरे भी हो सकते। ध्यान १६ प्रकार के बताये गए हैं—४ आर्तध्यान, ४ रौद्रध्यान, ४ धर्मध्यान और ४ शुक्लध्यान। इनमें से धर्मध्यान और शुक्लध्यान तो मोक्षका हेतु बताया है। अब भले ही उनमें किन्हीं ध्यानोंमें परपराकी बात लगती है कि कौनसा ध्यान कितना पीछे है? कौनसा ध्यान कितना आगे है? लेकिन सूत्रजी में बताया गया—परे मोक्ष हेतू, अन्यके दो ध्यान याने धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये मोक्षके हेतु होते हैं और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान ये दो ध्यान ससारके कारण हैं।

आर्तध्यानका विस्तार—आर्तध्यान, जिस ध्यानमे पीड़ा हो, वेदना हो उसे आर्तध्यान कहते हैं। तो पीड़ा होती है जीवको चार प्रकारसे, या तो किसी इष्टका वियोग हो जाय या किसी अनिष्टका संयोग हो जाय अथवा शरीरमें कोई पीड़ा आ जाय या किसी बाह्यपदार्थकी आशा, ध्यान, तृष्णा लगाये रहे तो इन चार भावोमें क्लेश होता है। क्लेशका फल क्या है? दुर्गति। जब अपने काल्पनिक इष्टका वियोग हो गया तो यह जीव उस इष्टके समागमके लिए बहुत-बहुत चिन्तन करता है। उस चिंतनमें बड़ा क्लेश भरा पड़ा है। इष्ट कोई है नहीं जीव का, लेकिन कल्पनामें तो मान रखा है। कल्पनासे जिसको इष्ट मान लिया उसका वियोग हुआ तो उसके संयोगके लिए निरन्तर ध्यान बना रहता है। इस ध्यानमें कष्ट ही पाता है जीव। जिसको अनिष्ट मान लिया, अनिष्ट वास्तवमें जीवका है कुछ नही, बाहरमें पदार्थ है, अपना स्वरूप लिए हुए है। मेरा अनिष्ट क्या है? कुछ भी नहीं, पर जिसको अनिष्ट मान लिया उस पदार्थमे जिसके विकारके लिए निरन्तर ध्यान बना रहे सो वह अष्टिसयोगज ध्यान कहलाता है, इसमें भी बहुत क्लेश है और शरीरमें पीड़ाहो, कोई फोड़ा भी हो जाय तो उसीसे ही यह बड़ा दुःख महसूस करता है और हरएक रोगके लिए यह कहता है कि यह रोग न होता, इसके बजाय कोई दूसरा होता तो अच्छा था। जो भी रोग होता है उसी रोगके प्रति बहुत पीड़ाका अनुभव होता है। छोटेसे छोटा भी रोग हो, जुकाम, खांसी जैसे तो इनमें भी इसको बड़ी पीड़ा मालूम होती है तो शारीरिक पीड़ा हो, उस पीड़ाका अनुभव बने तो

भी आर्तध्यान कहलाता है। और ये जीव किसी वस्तुके इस भवके लिए आशा बनायें, परभव के लिए निदान बाँधें, किसी वस्तुकी आशा बनायी जाती रहे तो उसमें भी बहुत क्लेश होता है। ये चार कहलाते हैं आर्तध्यान।

रौद्रध्यानका विस्तार— चार हैं रौद्रध्यान—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द। हिंसा करानेमे, करनेमें आनन्द मानना, कोई दूसरा हिंसा करे तो उसे देखकर खुश होना—ये सब हिंसानन्द रौद्रध्यान हैं। जैसे लोकव्यवहारमे बड़े मौजमें आकर किसीकी मजाक उड़ाते, हँसी करते तो यह हिंसानन्दध्यान कहलाया। दूसरा वह दु:खी हो रहा, उसके दिलमे जो तड़फन हो रही और यह उसमें मौज मान रहा तो यह हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। इसमे बड़े क्रूर विचार होते हैं। भले ही वे मौज मान रहे और नहीं समझ पा रहे कि मुझमे बड़ी दुष्टताका भान हो रहा, मगर इसमे बड़ा क्रूर परिणाम होता है। रौद्रध्यान पुरुषका नरक व तिर्यंचगतिमें गमन बताया है। दूसरा रौद्रध्यान है मृषानद- झूठ बोलनेमे आनन्द मानना। कितने ही पुरुष ऐसे हैं जिनको झूठ बोले बिना चैन नहीं पड़ती। यहाँकी वहाँ भिड़ाते। जिसे कहते हैं चुगल और दोगला। चुगल और दोगलमे बताओ कौन बड़ा है? चुगल बड़ा है, क्योंकि दोगलका अर्थ है दो गले वाला और चुगलका अर्थ है चार गले वाला दो—गलेके तो दो ही गले हैं, इसकी बात उससे कहा, उसकी बात इससे कहा। गला तो एक ही है, मगर किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ, ऐसा जो बोले सो दोगला और जो चार जगह याने चार गलोसे बोले सो चुगल। उसी मामलेमे इसको कुछ कहा, दूसरेको कुछ, तीसरेको कुछ और चौथेको कुछ, ऐसा दोगलापन और चौगलापन करने वाला पुरुष अपने चित्तमे शल्य रखता है वहाँ शान्तिका, धर्मका प्रवेश नहीं हो पाता, पर कर्मविपाक ऐसा है कि इस चुगलोंमे ही लोग आनन्द पाते हैं। झूठ बोलनेमे आनन्द मानना मृषानन्द दुर्ध्यान है। चौर्यानन्द— किसीकी चीज चुरा लेना, छुपकर लेना, बहाकाकर लेना, डकैती करके लेना, धोखा देकर लेना, किसी भी प्रकार दूसरेकी वस्तु हड़प लेना इसे कहते हैं चौर्यानन्द। वह भी दुर्ध्यान है और चौथा है विषयसरक्षणानन्द। ५ इन्द्रिय और मनके विषयभूत भावोकी, पदार्थोंकी रक्षामे ही जो आनन्द मानते हैं, वैभवको गिनते, इतना लाभ हो गया, उसको देख देखकर खुश हो रहे। यह सब विषयसरक्षणानन्द है, अथवा अपनी यश कीतिमे मौज मानना यह सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान कहलाता है।

आत्मध्यानके क्षणोकी सफलता व विषयध्यान के क्षणोकी व्यर्थता—ये आर्तध्यान रौद्रध्यान तो हैं ससारके हेतु और धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दो हैं मोक्षके हेतु। अब इन सब ध्यानोमे से इनके दो विभाग बनाये। एकका नाम रख लीजिए आत्मध्यान, दूसरेका नाम

रखो विषयध्यान । जितने आर्तध्यान और रौद्रध्यान हैं वे सब विषयध्यान कहलाते हैं । इन्द्रिय व मनके विषयभूत पदार्थोमें भावों में किसी भी प्रकारका ध्यान बना हुआ है और तो धर्मध्यान, शुक्लध्यान हैं उनका सम्बन्ध आत्माके साथ है, वे सब आत्मध्यान कहलाते हैं। आजकल हम आपमें आत्मध्यान भी सम्भव है, उसकी अपेक्षासे देखें तो जितने क्षण आत्माका ध्यान रहता है उतने क्षण इस जीवके सफल कहलाते हैं, क्योंकि आत्मध्यानके समयमें शान्ति सतोष, समताका अनुभव होता है और ऐसा ध्यान सुगतिका कारण है । देखो किसी पदार्थके प्रति रागका आ जाना यह बहुत बड़ा भारी कष्ट है । तो बाह्यपदार्थोमें राग न जाय और अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपमे ही 'यह मै हूं,' इस प्रकारका भाव रहे, यह सब है आत्मध्यान । जितने क्षण आत्मध्यान रहेगा उतने क्षण इस जीवके सफल कहलाते हैं और जितने क्षण विषयोमे ध्यान रहेगा, स्पर्श, रस, गध, रूप, शब्द, इनमें ही ध्यान रहेगा, इनका रखना, बढ़ाना, उनसे प्रीति लगाव करना, ऐसा अगर ध्यान बना रहा तो जितने क्षण यह विषय ध्यान चलता है वे क्षण सारे व्यर्थ समझिये । इस जीवको हित क्या करेंगे वे क्षण और हितकी तो बात जाने दो, ये क्षण तो अहित ही करेंगे । इससे यह निर्णय रखिये कि जितने क्षण मेरेको विषयोके प्रति ध्यान रहता है वे क्षण सारे हमारे विपत्तिकारक है, विडम्बनारूप हैं । यह अपने व्यवहारकी बात कही जा रही है । हमारा मानसिक व्यवहार कैसा हो और कायिक व्यवहार कैसा हो ? उसका यह सब निर्णय है। जितने क्षण आत्माका ध्यान है उतने क्षण तो सफल हैं और जितने क्षण विषयोमें ध्यान है उतने क्षण इसके व्यर्थ हैं ।

गुरुकी आनके क्षणोमे विनय रहनेके कारण जीवमे शान्तिकी पात्रता—अब जरा एक मानसिक बात और देखिये—लोगोंकी प्रवृत्ति प्रकृत्या स्वच्छन्दताकी हुआ करती है। नियम, संयम या किसी प्रकारका नियत्रण इनको पसंद नहीं करते जीव। यह आदत बच्चों से लेकर वृद्धतक सभीमे पायी जाती है । कुछ ही विवेकी ऐसे होते हैं जो अपनेको सयत बनाते है, संयममें अपना नियत्रण रखते है, मगर प्राय करके बहुतसे जीव तो एक असयमकी ओर ही बढ़ते हैं और इसके ही द्वारा गौरव मानते हैं । देखो अपनी भलाईके लिए सबसे पहली आवश्यकता है गुरुकी, शिक्षा देने वालेकी । मार्गदर्शन करने वालेके प्रति आन रहे, विनय रहे । जिसे कहते हैं आँखमें शरम रहे । तो जितने क्षण इस जीवको गुरुके प्रति आन रहती, अपनेसे जो बड़ा है, रक्षक है उसके प्रति आन विनय रहती है उतने क्षण इसके सर्व कार्य योग्य चलते रहते है, क्योंकि उस समय वह विनयवान रहता है ना ? जो विनयवान पुरुष है उसकी चेष्टा सुखकारी है । जो विनयरहित पुरुष है उसकी चेष्टासे उसको भी दुःख होता है और दूसरेको भी दुःख होता है । जो आनमे है वह बिगड़ा नहीं कहलाता । जो आन

से अलग हो जाता है वह बिगडा हुआ कहलाता है। बिगडेका जीवनभर पंत नहीं पडता और जो सुधारकी ओर है वह कुछ बिगड़ गया हो तो भी सुधार उसका अन्तिम फल है। प्राचीन कालमें बडे-बडे महापुरुषोके चरित्र मिलेंगे उनमे नम्रता कितनी भरी हुई थी, उनमे आन बडोके प्रति कितनी रहती थी, जिसके फलमे कदाचित् कष्ट भी भोगना पडा तो आखिर अन्तिम जीवन तो सुखकारी रहा और प्रसन्नता तो कष्टके समय भी रही। श्री रामने भी अपने पिताकी आज्ञा मानी, राज्य छोड़ा, स्वय जंगलमे बसे, पर चूंकि न्यायपर थे, उनका आत्मा प्रसन्नताकी ओर ही रहा। आनमे कष्ट भी हो तो भी प्रसन्नता और आनसे विपरीत हो जाय कि वहाँ कितने ही मौजके साधन हो तो प्रसन्नता नही रहती। एक बार ऐसे ही एक मित्रने सेठसे कहा कि सेठजी तुम्हारा लड़का तो वेश्याके घर जाता है, बिगड गया है तुम्हारा लड़का, तो सेठ बोला कि अभी हमको विश्वास नही है कि बिगड़ गया। तो मित्र बोला—चलो इसी समय दिखाये तुम्हे, वेश्याके घर है कि नहीं। सेठको ले गया। दूरसे देखा सेठने और उसी समय बालकने भी अपने पिता सेठको देखा, वेश्याके घर तो खडा ही था, सेठने लडकेको देखा, उस लडकेने सेठको देखा तो लडकेने क्या किया कि अपनी आँखो के आगे दोनो हाथ लगा लिये, सेठ वापिस आया, तो मित्र कहता है देखो बिगड़ गया ना तुम्हारा बेटा ? तो सेठ बोला—नही हमारा लडका नहीं बिगडा ? अरे कैसे नहीं बिगड़ा ? यो कि उसने हमारी लाज रखी, हमे देखकर शर्मिन्दा हो गया। आँखके आगे हाथ लगा लिया। तो देखिये जब तक बेटेमे पिताकी आन है तब तक उसे बिगडा नहीं कहा, बालक आया घर अनेक बातें सोचता हुआ, और पिताके पैरोमे गिरकर कहने लगा—पिताजी माफ करो, आजसे कभी मै ऐसा काम न करूँगा। तो भाई इस आनकी बड़ी महिमा है। जितने क्षण गुरुकी आन रहती है उतने क्षण यह पुरुष विनयवान रहता है। जब तक विनय रहेगी तब तक यह जीव शान्तिका पात्र है। जब यह अविनयी हो जाता है तो वहाँ शान्ति नही रहती और न कल्याणकी पात्रता ही रहती है।

अन्य जीवोको तुच्छ मानकर अपना बडप्पन समझनेमे आतरिक बेईमानी—जब इस जीवके मानकषाय जग जाती है तो मानमे फिर यह दुनियाको किस तरह देखने लगता है कि दुनियामें मै ही महान हूं बाकी लोग तो सब तुच्छ हैं। पहली बात तो यह समझिये कि घमड करने वालेकी यह बडी बेईमानी है कि जब जगतके सब जीव एक समान स्वरूप वाले हैं तो उसने यह बात मान ली कि मै तो इनमें महान हूँ और बाकी सारे जीव तुच्छ हैं। तो यह बेईमानी जब तक चित्तमे रहती है, मनमे ऐसा घमड रहता है कि बस मैं ही हूँ सब कुछ ऐसी जब चित्तमें बेईमानी रहती है याने अपनेको सबसे महान मानना और दूसरे जीवोको

तुच्छ समझना या पर्यायको अपनानेकी बुद्धि रहती है तब तक यह जीव शान्ति नही पा सकता। शान्ति प्राप्त करना है तो पहला पाठ यह सीखें कि जगतके सब जीव एक समान हैं। जैसा मेरा स्वरूप है, ऐसा समस्त जीवोका स्वरूप है। तो जब जितने क्षण मान रहता है उतने क्षण इस जीवको शान्ति नही रहती। व्यवहार अपना इस ढंगका होना चाहिए कि वहाँ मानकषाय न बढ़े, न प्रवर्ते, मान किस बातका ? ज्ञानका मान। ज्ञान क्या मिला ? बड़े बड़े गणधर भी जो चार ज्ञानके धारी हैं, वे भी जानते है कि इस केवलज्ञानके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। ज्ञानका क्या अभिमान ? यदि कुछ चला प्रतिष्ठा मिली, लोगों पर कुछ प्रभाव बनता है तो उस चला प्रतिष्ठाका भी क्या मान ? जहाँ ससारमें ऐसी बदलें चलती है कि जो ५ मिनट पहले राजा है वह मरकर कीडा मकौड़ा, कुत्ता, गधा, सूकर जैसी खोटी पर्यायको धारण कर सकता है। अथवा जो अभी सूकर गधा आदि है वह भी मरकर क्षण भरमे ही देव हो जाय। देवोमे वैक्रियक शरीर अनेक सुविधायें हैं ये सब बातें जग जाये ? तो जहाँ इतनी बदलें चलती हैं वहाँ किस बातका घमंड किया जाय ? कुलका घमड, यह भी ऐसा एक भीतरी विभाव है कि ऐसा आशय हो जाता है--मेरा कुल, मेरी जाति बहुत उत्तम है। बड़ा हूँ, यह छोटा यह है व्यर्थ कल्पना। अरे यह कुल क्या सदा रहनेका है ? यह शरीरके साथ कुल है। शरीर गया कुल गया। पता नहीं आगे क्या मिलेगा ? यह कोई घमड करने लायक बात नही है। जातिकाबल--मेरी माता बड़े ऊँचे घरानेकी है, मेरा मामा बहुत धनिक है, इस प्रकारका भी लोगोके घमड रहता। अरे यह कोई घमंड किए जाने लायक बात नहीं। शरीरमें बल मिला, ताकत मिली कुछ को तो उसका ही घमड होता है। मै बहुत बलशाली हूं। अभी देखो जिस बच्चेमें कुछ ताकत होती है वह अपनेसे कमजोर बच्चोको कैसा सताता रहता है ? वह किसीके वश नही होता। वह अपने बलका बड़ा साम्राज्य समझता है। तो यह बलका भी घमंड बड़ी दुर्वासना है। किसीको ऋद्धि मिली, यश मिला तो उसका भी घमड उत्पन्न होता। ध्यान हो, व्रत हो, सयम हो उसका भी घमंड, शरीर सुन्दर हो उसका भी बडा मान। अब शरीर क्या सुन्दर है ? अरे भीतरमे खून मांस मज्जा, हड्डी आदिक सारी अपवित्र चीजें भरी हैं, ऊपरसे एक पतला चाम चढ़ा है। अब यह चाम जिस चाहे रंगका हो गया तो उसमे गर्व किस बातका ? अरे यह रूप अगर मान लो लोकमे एक महनीय हुआ तो गंध तो दुर्गन्ध हो सकती, स्पर्श भी रूखा रह सकता, और और भी अनेक अपवित्रतायें बसी हुई हैं। और फिर विनाशीक चीज। और एक मांसकी पतली चमड़ी बन गई उसीको मानते सुन्दरता। तो जगतमें कुछ भी चीज ऐसी नहीं है जो अभिमान किए जाने योग्य हो। लेकिन जीव जब मान रखता है तो सब जीवोंसे अपनेको महान समझता है, ऐसा

मान रखने वाला पुरुष बेईमान है ।

लोभ और रोषमे जीवका अहित और अहितसे हटनेके प्रयासमे भलाई—जब-जब इस जीवको लोभका रग सताता है उतने क्षण उसपर ऐसी विपत्ति दिखती है कि जैसे कोई विष खा ले और विह्वल हो जाय और उसपर जैसे आपत्ति दिखती है ऐसे ही लोभ तृष्णाके रगमें जगतके जीवोपर विपत्ति छायी हुई है। जहाँ ऐसा कुध्यान बनता है, कषायोकी बाधायें बनती हैं वहाँ इस जीवको कल्याणका मार्ग कैसे मिल सकता है ? ये कषायें ये दुर्ध्यान ये सब इस जीवको बरबाद करने वाली चीज है। इष्ट मिला, राग किया। अनिष्ट मिला, द्वेष किया बस रागद्वेष इतना ही धंधा होता रहा है संसारी जीवोका। यह सब टोटेका धधा है। राग करते जावो, बढ़ाते जावो, सम्पदा होती जाय, आखिर किसी न किसी दिन तो छूटेगी ही और दुर्ध्यानसे मरण होगा। और सम्पदाका त्याग कर दीजिए तो मरण समयमे शान्ति समता होगी। जिस जीवको सुबुद्धि आती है उसके तो होता है प्रिय त्याग और जिसमें दुर्ध्यान आता है उसको प्रिय होता है लोभ। जोड़ते जावो, यही प्रिय रहता है। जिसका होनहार खोटा है उसे धनका जोड़ना प्रिय लगता है और जिसका होनहार भला है उसको त्याग प्रिय है। अरे यह सम्पदा कभी न कभी तो छूटेगी ही। जरा अपना कुछ सही ज्ञान बनाकर अपने मनसे छोड दें कुछ तो। जो कुछ-कुछ छोडते रहते, त्याग करते रहते, यह जिसकी आदत बनती है उसको मरते समय फिर क्लेश नहीं होता है। स्वामी कार्तिकेयने बताया है कि तीन बातें होती हैं—दान, भोग और नाश। जो पुरुष ऐसा कृपण है कि दान भी नहीं दे सकता और अपने भोगनेमे भी नहीं खर्च कर सकता उसको मरण समयमें बडा संक्लेश होता है, क्योंकि वह सोचता है कि हाय मेरा यह सब धन यों ही छूटा जा रहा है। वहाँ दुर्ध्यान होता है और कोई पुरुष ऐसा हो कि जिसने जीवनमे दान भी किया हो, लेकिन अपने खाने-पीने शौक आदिमे खूब खर्च किया हो तो बताते हैं कि उस कजूससे तो भला है, जो न दान कर सकता, न भोग सकता, ऐसा जो दोनो ओरसे कजूस है। उसको तो मरण समयमें बहुत वेदना होती है। वह सोचता है कि हाय यह सब यो ही छूटा जा रहा है और जिसने दान तो नहीं किया, किन्तु भोगमें लाया वह कमसे कम इतनी बात तो सतोषमें रखता है कि मैने खूब भोगा, खूब खर्च किया। आखिर हैं दोनो ही गल्तीपर, क्योंकि भोग भी लोभ ही है, मगर अपेक्षाकृत बात कह रहे हैं। तो लोभकषाय पाप है, पापका जनक है। जितने क्षण लोभ रहता है उतने क्षण जीवको विडम्बना रहती है और क्रोधमे तो सारे ही गुण भस्म हो जाते हैं। क्रोधसे महान सकट आते हैं। जिस क्षण क्रोध आता है उस क्षण यह क्रोध अपने अन्तरको जला देता है, चैन नहीं पड़ती। तो ये कषायें, विषयोका ध्यान इस जीवके लिए अहितकारी है। इनसे

हटकर अपने आत्माके ध्यानमें लगें, यही कल्याणका सही पथ है।

( २९ )

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा, विकार निमित्त-सान्निध्य विना न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा। इन दोनों तथ्योंके परिचयसे परमात्मतत्त्वकी कृपा जगती है।

दृश्योमे मूल अदृश्य देखनेका उपक्रम––जो आत्मकल्याण चाहता है, जिसको संसार के समागमोसे, सुखोसे ऊब हो गई है, जिसको जन्ममरणका चक्र महान् संकट दिख रहा है जन्ममरणसे छुटकारा पानेकी ही उमग बनी रहती है, ऐसा पुरुष कहाँ दृष्टि लगाता है, उसको कहाँ दृष्टि देनी चाहिए और इस जगतमें दिख क्या रहा है, इन सब बातोपर विचार करें तो संक्षपमे यह कहो कि ज्ञानी दृश्यजगतमें अदृश्यकी खोज कर रहा है। जो जगतमे दिखता है वह सब दृश्य है, पर इस दृश्यको नही देखना चाहता, इस दृश्यमे आस्था नहीं है। इस दृश्य मे अदृश्य तत्त्वके प्रति आस्था है। तो अब क्या करता है? दृश्यमे अदृश्यकी खोज करता है। अच्छा, यदि अदृश्यकी खोज करना चाहते हो तो दृश्यका भी सही परिचय जानना होगा और अदृश्यका भी सही परिचय जानना होगा। कोई कहे कि दृश्यके निर्णय से इसका क्या मतलब? हम तो अदृश्यको ही जानते जायेंगे सो बात न बनेगी। कोई कहे कि अदृश्यको जाननेसे क्या फायदा है जो दिख रहा है उसे ही जानते रहे, तो यों भी काम न बनेगा। दृश्यका सही निर्णय करें और अदृश्यका अन्तः परिचय करें और दृश्यमें अदृश्यकी ओर बढ़ें। इसका एक सामान्य तरीकेसे अर्थ क्या हुआ? जो दृश्य है वह क्या है? वह सब विकार है, विषम, परिस्थितयाँ हैं। वहाँ भी देखना चाहिये शाश्वत तथ्य वह क्या है? एक मौलिक आधारभूत शाश्वत सहजभाव। और संक्षेपमें कहना है तो कहिये पर्यायमें स्वभावको निरखना है तो देखो पर्यायका भी सही बोध करें और सहज भावका भी सही बोध करें।

पर्यायनिर्माणकी विधिका निर्णय––अच्छा पर्यायोका सही बोध करें। जो कुछ यहाँ बीत रहा है आकार और भावरूप, द्रव्यपर्याय और भावपर्याय वह सब बन कैसे रहा है? तो इसके निर्णयके लिये दो दृष्टियां जगेंगी। एक तो वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टि, एक निमित्त-नैमित्तिक भावकी दृष्टि। स्वातंत्र्य तो बताता है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं, कभी न हुआ, न है, न होगा, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूप लिए है और निमित्तनैमित्तिक भाव यह कहता है कि कोईसा भी विकारपरिणमन निमित्त संग पाये बिना न हुआ, न है, न होगा। दोनोके अपने विषय ही अलग हैं। दोनो ही एक साथ रहते हैं और दोनोंके हुए बिना विकार बनता नहीं। जैसे वस्तुस्वातंत्र्यका एकान्त करके

कोई कहे कि भाई मुझमें जब विकार होता है तब विकारका नजर आता है। अपने सिलसिले में विकार होते चले जाते हैं। ऐसा एकान्त तो विद्वानोकी गोष्ठी मे न चलेगा, क्योंकि विद्वानो की गोष्ठीमे तो युक्तिसाध्य बात हुआ करती है। युक्तिसे सिद्ध करो, क्या मुझमे विकार मात्र मेरी योग्यतासे होते जाते हैं ? जब जो होना है सो होता है, इतनी बात करते है, तब तो व्यवस्था न बनेगी। क्रोधके बाद मान क्यो आया ? मानके बाद लोभ क्यो आया ? हमको क्यो आया ? साधुको क्यो नहीं आता ? और भी अनेक प्रश्न होते हैं। वहाँ कोई समाधान दे कि भाई जिसमें जैसी योग्यता है सो होता है। तो भाई उनमे यह योग्यता क्यो नहीं बन गई ? सिद्धोमे योग्यता क्यों नहीं हुई ? प्रश्न पर प्रश्न चलते जायेंगे। आखिर मानना पड़ेगा कि जो विषम पर्याय होती, जो विकारपरिणमन होता वह परसगका निमित्त पाकर ही होता है, परसंग बिना नहीं होता। जिसको समयसारमे भलीभाँति स्फटिक मणिका, रागादिक परिणमनका दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। कोई दूसरी बातका एकान्त करे कि भाई कर्मोदय जीवमें राग पैदा करते, जीव विचारा क्या करे ? जब कर्मकी मर्जी आती तब राग करता, मर्जी न आयगी तो राग नहीं करता। इसमे जीवका क्या वश है ? सारा निमित्तका ही साम्राज्य है। देखो इसमे भी बाधा है। निमित्त राग करता है तो निमित्त अपना भी काम करता और जो राग किया वह किसका ? जीवका। तो उसका भी काम किया। तो एक पदार्थ दो का परिणाम करने लगे तो अव्यवस्था बन जायगी। खुद कुछ न रहे, खुदका परिणमन न रहे तो खुदपर प्रभाव क्यो ? खुदकी बात क्यो रहे ? सो भैया ! दोनो ही तथ्य हैं ? कोई पदार्थ किसी अन्यका न कर्ता है, न होगा यह भी तथ्य है, क्योकि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशोमे ही अविभक्त है और दूसरा भी तथ्य है कि जो भी विकारपरिणमन होता है। वह अन्य पदार्थोंका सग पाकर होता है। स्वय अपने आप अपने अकेलेमे खुद ही निमित्त बनकर कोई विकार नहीं करता।

निमित्त व आश्रयभूत तथा उनका स्थान—अब परखिये कुछ थोड़ा भ्रम ऐसा क्यों हो जाता है कि जब जीवनिमित्तपर लक्ष्य दे तो राग होता, निमित्त पाकर राग नहीं होता, किन्तु यह किसी निमित्तपर लक्ष्य दें, उपयोग दें तो राग होता है। निमित्तकी क्या बात आयी ? यह तो खुद राग करता चला जा रहा है और यही निमित्तपर लक्ष्य देता चला जा रहा है। यह बात सब जगह घटाओ कि जो मनमें आता है उसके भ्रमका कारण क्या है भ्रमका कारण यही है कि निमित्तका नाम जीवविकारके प्रसंगमे दो प्रकारके पदार्थो पर पड़ता है—नोकर्मपर भी और कर्मपर भी। नोकर्मको भी निमित्त शब्दसे कहते हैं और कर्मको भी निमित्त शब्दसे कहते हैं। जिसको और सीधे अर्थसे समझें तो आश्रयभूत पदार्थ

और कर्मविपाक, तो इनमें से जो आश्रयभूत पदार्थ हैं, नोकर्म उनमें यह बात है कि उनमें उपयोग जोड़ें, उन निमित्तोंका लक्ष्य करें तो जीव राग करता है। जीवके राग करने की पद्धति यह ही चली आ रही है कि निमित्तपर लक्ष्य करता हुआ राग कर रहा है। तो यहाँ तो यह बात सत्य है कि वह निमित्त क्या निमित्त है, इसमें निमित्त ही नहीं है। वह तो जीवने उन बाह्यपदार्थोंपर लक्ष्य दिया और राग करने लगा। उनके निमित्तकी बात ही क्या रही ? यह बात तो सत्य है कि यह पर केवल आश्रयभूत है, पर दूसरा जो कर्मविपाकरूप निमित्त है वह तो वास्तविक निमित्त है, ज्ञान ही नहीं जीवोंको। जो एकेन्द्रिय आदिक जीव क्या कर्मविपाकको जानते हैं ? मनुष्योंमें भी कौन जानता कर्मविपाकको ? कुछ ने सीख लिया, आगमसे बताया है, बात करते हैं, पर कर्मविपाकको जाननेकी बात परमावधि ज्ञानी, सर्वावधि ज्ञानी और केवलज्ञानी, इनके ही सम्भव है। तो जिसका ज्ञान नहीं, जो अज्ञात है उसका कोई लक्ष्य कर सकता क्या ? उसमें कोई उपयोग जोड़ सकता क्या ? अरे उसका तो इस विकारके साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसे कि दो अजीव पदार्थोंमें सम्बन्ध रहता है। सो यह नोकर्म, एक अधिक है जो जीव विकारके प्रसगमें अलग निमित्त रूपसे कहा गया है। तो अब यहाँ यह विचार करे कि कर्मविपाकका सन्निधान पाकर जीवमें विकार हुआ, उस समय यदि जीवने इन बाह्य पदार्थोंमें उयोग न जोड़ा तब तो रहेगा वह अव्यक्त विकार अथवा कहो अबुद्धिपूर्वक विकार और यदि इन नोकर्मोंमें विकार जुड़ता है तो वह कहलाता है व्यक्त विकार बुद्धिपूर्वक विकार।

*शास्त्रोके वर्णनका प्रयोजन स्वभावके दर्शनकी प्रेरणा*—अध्यात्मशास्त्रमें जो चर्चा चलती है वह स्थूल चर्चा होती है याने बुद्धिपूर्वक आस्रवका अभाव, बुद्धिपूर्वक बधका अभाव आदि इसका ही चर्चा रहती है, पर जो समय-समयपर गुजरता है, जो अबुद्धिपूर्वक है, जो अव्यक्त विकार है उसकी चर्चा होती है करणानुयोगमें। ये तो सब कम चले, बुद्धिपूर्वक बने, ज्ञानमें तत्त्व आया। जो कुछ वर्णन होता है वह बुद्धिपूर्वक होता है। ऐसे सब वर्णनों का भी प्रयोजन अभी जानेंगे कि सबका प्रयोजन है स्वभावका दर्शन। स्वभाव दर्शन होना चाहिए। मेरा जो निज शाश्वत स्वभाव है उसकी दृष्टि बने, बस यह ही है आत्मकल्याणका प्रयोजन। जो प्रयोजन पर रहेगा उसको कहीं विवाद न जंचेगा और जिसको प्रयोजन है ही नहीं चित्तमें तो वह अनेक विडम्बनायें कर लेता है। तो हाँ देखते जाइये—वस्तुस्वातन्त्र्यने बताया कि प्रत्येक पदार्थ स्वय अपना अपना स्वरूप लिए हुए है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं होता, न है, न होगा। यह एक ध्रुव सत्य है। तीनों कालोमें ऐसी ही बात रहती है। एक तो यह है तथ्यकी बात और दूसरी बात यह आयी कि कर्मविपाकका

सन्निधान पाये विना जीवविकार नहीं होता, अब यहां दोनों तथ्योमे प्रयोजनकी बात निरखियेगा। पहले तथ्यमें जब यह जाना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं, उससे परखा क्या गया ? कुछ भी सम्बन्ध नहीं। सर्व पदार्थ स्वतत्र हैं, किसीका किसी पर कुछ प्रभाव नहीं, किसीसे कुछ सम्बन्ध नही। इस निश्चयमे उपयोगने केवल एक अद्वैत पदार्थको देखा और उसमे भी बढ़ तो अद्वैत खण्ड आत्मतत्त्वको देखा। सो यह उपाय स्वभावके दर्शनका स्पष्ट मिल ही गया। अब दूसरे तथ्यकी बात देखिये—जहां यह पहिचान किया कि जीव तो केवल सहज स्वच्छ ज्ञानमात्र है, जीवमे विकारका क्या काम ? कोई पदार्थ अपने विकारको करने वाला स्वभाव नहीं रखता। स्वरूप विकार उत्पन्न नहीं करता। जीव अपने आपमे अपने आप ही विकार करता। स्वरूप विकार उत्पन्न कर दे, ऐसा स्वरूप किसी भी पदार्थका नहीं होता। हुआ क्या फिर यहां ? यह आत्मा अपनेमे स्वच्छ चैतन्यमात्र है, याने स्वरूपकी निजको वात कही जा रही है, घटना क्या घट रही है इसको अभी बतावेंगे। अभी तो निज सहजस्वरूपकी बात कही जा रही है। है यह चेतन अपने आपमे एक शुद्ध चेतनारूप, अर्थात् किसी भी पदार्थमे किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश नहीं है, याने किसी के स्वरूप मे किसी दूसरेका स्वरूप नहीं लगा रहता है। अन्यथा उनकी सत्ता ही नहीं रह सकती है। इस निगाहसे जब आत्माको देखें तो आत्मा तो स्वय एक अपनी ज्ञानचेतना स्वरूप है। अच्छा और जो विकार आया सो। अरे ये विकार मेरे स्वरूप नहीं, मेरी चीज नहीं, मेरा काम नहीं, यह तो कर्मविपाकको छाया माया है। अब देखो निमित्तनैमित्तिक भावनिमित्तनैमित्तिक भाव कभी यह नही बताता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है।

उपचारकी असत्यता और उपचारमे तथ्यकी खोज—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता है—यह भाषा उपचारकी है और उपचार जिस भाषामे बोले उस भाषामे वैसा मानना यह ही है बात ठीक यो जानें तो यह मिथ्या है। पर उपचारका कोई तथ्य समझे कि ऐसा कहने का आखिर प्रयोजन क्या ? अटपट उपचार क्यो नहीं दुनिया करती ? किन्तु एक ही किस्म से लोग बोला करते हैं। जैसे कहते हैं ना—मदिरकी धोती ले आवो, घी का घड़ा ले आवो, टट्टीका लोटा ले आवो क्या क्या नही बोलते उपचार भाषामे ? अच्छा कभी कोई अटपट भीबोलता क्या ? १० पुजारी आयेंगे तो सब कहेंगे कि मदिरकी धोती लावो। अरे तो क्या मंदिरकी धोती होती है ? होती तो नहीं। तो जिस भाषामे बोला उसमे तो सत्यता नहीं दिखती, मगर उसमे कुछ तथ्य न हो, प्रयोजन न हो तो सब लोग एक समान ही क्यो बोल रहे हैं ? फिर तो पागलकी तरह कोई कहे कि लकड़ीकी धोती ले आवो, कोई कहे कि पेड़की धोती ले आवो। यो अटपट तो कोई नही बोलता। सभी ऐसा ही बोलते हैं कि मदिरकी

धोती ले आवो क्योंकि अभी मदिरमें पूजा करता है। तो प्रयोजन रहा ना सबका एक। प्रयोजन देखो तो उस दृष्टिको बताया है खुद समयसारमें कि वह ईषत् प्रयोजनवान है। तो बात निर्णयमे रखें। जिसको आत्महितकी कामना है वह सब जगहसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा ले लेगा और उसका अर्थ भावार्थ पद्धति नीति सब तरहसे निश्चित कर लेगा कि जिससे स्वभावका दर्शन करनेकी पात्रता होती है। हाँ बात क्या कही जा रही है दूसरे तथ्यकी कि विकारभाव परमिनित्त सग बिना नहीं होता। उससे हमको दीखा क्या कि ये विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरे स्वयसे उठे हुए, स्वभावसे उठे हुए भाव नहीं हैं, किन्तु पूर्वबद्ध कर्म का विपाक हुआ और उस विपाकमें स्वय रागद्वेष की मलीमसताका अनुभाग है। सो वहाँ यह भाव बना कर्ममें कर्मका। अब उसका हुआ प्रतिफलन उपयोग और उपयोगमें इस प्रकार मलीमसता बनी और उसे मान लिया जीवने अपना स्वरूप तो यों संसरण चलने लगा। निमित्तनैमित्तिक भावकी विविक्तता बहुत बड़ी पुष्टताको बताया है। मै इन विभावोसे निराला हूँ, ये नैमित्तिक है, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इस तरहसे वह परखता है कि रागादिक भाव मेरे स्वरूप नही। मै तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हू।

मुक्तिका प्रयोजन होनेपर विवादका समापन—भाई बात यह समझना कि अपना प्रयोजन है स्वभावकी दृष्टि। अगर प्रयोजन रहेगा तो विवाद न उठेंगे। अभी यहीं देख लो कि जो पुरुष अपना कोई प्रयोजन निर्धारित कर लेता है तो उस प्रयोजनकी साधनाकी धुनमें बहुतसी बातोंकी उपेक्षा कर जाता है। इसका क्या मतलब ? हम तो इस रास्तेसे चलेंगे। इसमें हमको लाभ है। लौकिक बातोमें भी आप यह समझेंगे कि प्रयोजन निश्चित कर लेने पर प्रयोजनसे बाहरकी जो बात है उनमे यह अपना दिल नहीं लगाता। तो यहाँ भी प्रयोजन एक ही बनावें कि मुझे यहाँ किसी भी परवस्तुका विश्वास नहीं। किसोमें मुझे लगाव नही रखना। मेरेको तो समस्त बाह्यपदार्थोंसे विविक्त होना है, मुक्ति पाना है। यों सीधा बोलो—हमको तो सिद्ध भगवान बनना है। एक बात निश्चयमें आये। शब्दोसे जाने, स्वभावसे जानिये—मुझमे तो केवल एक अन्वय आत्मतत्त्व रहे वह उपाय बनाना है। सो यह बात चित्तमें आ जाय तो वह जैन सिद्धान्तके सब कथनो मे अपने स्वभाव दर्शनकी युक्तिको पा लेगा और जिसे किसी प्रकारकी कषायका आग्रह है वह आग्रहमें डोलेगा, स्वभावके दर्शनका पात्र न बन सकेगा। तो यहाँ दो तथ्य कहे जा रहे हैं। पहला तथ्य एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही है, न हुआ न होगा। इसमें मिली हमको एक वस्तुके विविक्तपनेकी दृष्टि। सभी पदार्थ मुझसे निराले हैं, मै भी समस्त पदार्थोंसे निराला हूं। मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को कोई दूसरा नहीं करता, किसी अन्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको मै नही कर सकता, सब

की अपने आपमें अपनी फैक्ट्री चल रही है, अपना उत्पाद व्यय चल रहा है। यह एक तथ्य है। दूसरा तथ्य यह है कि स्वभाव परिणमन तो बराबर स्वप्रत्ययक होता है, उसमे पर-प्रसग की आवश्यकता नहीं होती, मगर जितने भी विषम कार्य हैं चूंकि वे विषम हैं, अतएव नैमित्तिक हैं।

विकारपरिणामो के नैमित्तिकत्वकी अनुमान प्रमाणसे सिद्धि— एक यहाँ अनुमान बना लें कि विकार भाव नैमित्तिक हैं, क्योकि विषम होनेसे। जो जो विषम होते हैं वे नैमित्तिक होते हैं, जो नैमित्तिक नहीं होता वह विषम भी नहीं होता। आप अनुमान प्रमाणके समस्त अगोको घटा लीजिए—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्यप्ति, अन्वयदृष्टान्त, व्यतिरेक दृष्टान्त आदि। दार्शनिक शास्त्रकी युक्ति, दृष्टि, सभी तथ्यो से घटा लीजिए। वह कैसे ? जैसे लौकिक दृष्टान्तमे लोग कहते हैं कि इस पर्वतमे अग्नि है धुवा होनेसे। अग्नि तो दिख नहीं रही थी, धुवां दिख रहा था। तो पुरुष कहता है कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। अब युक्तियो के सारे अंग बना लो। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है—अन्वय व्याप्ति, जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता—व्यतिरेक व्याप्ति, जहाँ धूम होता वहाँ अग्नि होती, जैसे रसोईघर——अन्वय दृष्टान्त। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवा नहीं होता, जैसे तालाब——व्यतिरेक दृष्टान्त और धुवां है——उपनय, अतः यहाँ अग्नि होनी चाहिए निगमन। जैसे लोक प्रमाणमें अनुमान प्रमाणमे सब युक्तियाँ घटित हो तो वह निश्चित प्रमाण। ऐसे ही विकारमे घटा लीजिए, विकार तो है कभी ज्यादा हो गया, कभी कम हो गया, कभी कुछ हो गया कभी कुछ। तो जो विषम कार्य है, जिसका आदि अन्त है, विषमता है जिसमे, वह कार्य नैमित्तिक होता है, निमित्त सग पाये बिना नहीं होता है। यह दूसरा तथ्य है।

नैमित्तिकताके तथ्यके परिचयसे स्वभावके दर्शनकी विधिका विवरण——नैमित्तिकता के तथ्यमे स्वभावका दर्शन कैसे मिलेगा ? अरे विकार नैमित्तिक है, परभाव है, औपाधिक है, मेरा नहीं है, मेरा स्वरूप नही है, मेरे स्वभावकी निधि नहीं है। इसमें क्यो लगाव करूँ ? मेरा स्वभाव तो चैतन्यमात्र है, जो अनन्त अहेतुक है वह मेरा स्वरूप है। स्वरूपदृष्टिकी ओर गया यह जीव। हाँ तो इन दोनो तथ्योके परिचयसे सहजपरमात्मतत्त्वकी कृपा जगती है। स्वभावका अभ्युदय होना, दर्शन होना, परिचय होना यही है हमारे सहज परमात्मतत्त्वकी कृपा। तो भाई जैसे अंधेसे पूछो कि तुम्हें क्या चाहिए ? तो वह कहता है कि मुझे दो नयन चाहिएँ। भूखेसे पूछो कि तुम्हें क्या चाहिए ? तो वह कहता है कि दो रोटी चाहिएँ। आत्मकल्याणार्थीसे पूछो कि तुम्हे क्या चाहिए ? तो वह कहेगा कि मुझे स्व-

भावदर्शन चाहिए। सहजस्वभावरूपमें निजको मेरे आत्माका परिचय रहे और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहे इसके सिवाय और कुछ न चाहिए। तो यही बात आगमके सभी वचनोंसे प्राप्त कर सकते है। एक मोह छोड़कर, कषाय छोड़कर, एक आत्महितकी धुन बन जाय, बस मेरे को तो यही चाहिए तो उसे आगमके वचनोमें स्वभावके दर्शनकी शिक्षा मिलती है।

( ३० )

**कोई भी जीव हमारा विरोधी नहीं है, हम सबका स्वरूप एक समान है, अपनी शान्तिके अर्थ ही ऐसा करता जिसकी चेष्टा हमें प्रतिकूल जचती वह उस प्रतिकूल चेष्टावान कर्माक्रात परमात्मस्वरूपका भी कल्याण हो।**

कल्याणके कदमोमे प्रथम कदम सकल प्राणियोमे स्वरूपकी समताका दर्शन—अपने समयको शान्तिमे गुजारनेके लिए सर्वप्रथम यह दर्शन आवश्यक है कि सर्व जीवोमें हमको समान शुद्ध चैतन्यस्वरूपका दर्शन हो। जिस प्राणीको देखा उस ही प्राणीमें मौलिक सहज तत्त्वका दर्शन हो। और जो कुछ गुजर रहा है। परिणमन, जो कुछ पर्यायें दिख रही हैं ये सब नैमित्तिक औपाधिक एक परिस्थितियाँ ही नजर आयें और भीतरका जो अन्तप्रकाशमान स्वरूप है, स्वभाव है वह दृष्टिमें रहे। कल्याणमें प्रवेश करनेके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है। भले ही कषायके उदय होते हैं, पूर्वबद्ध कर्मका अनुभाग खिलता है, उपयोग दूषित होता है, सारी परिस्थितियां सिरपर आती है, तिसपर भी भीतरमें प्रतीति यह होनी चाहिए कि ससार के सब प्राणी एक समान स्वरूप वाले हैं।

समस्वरूप जीवोमे विरोधित्वके दर्शनका अनवकाश—जब सर्व जीवोंका स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। तो अब उस स्वरूपकी ओरसे देखें कि ससारके क्या कोई प्राणी मेरे विरोधी हो सकते है? स्वरूपदर्शन करते हुए परखो। जगतमे कोई भी जीव मूलतः मेरा विरोधी नही है। द्रव्यस्वरूपकी ओरसे निगाह करें तो न कोई मेरा विरोधी है, न कोई मेरा समर्थक है। प्रत्येक पदार्थ है और अपने-अपने सत्त्वके लाभके लिए है। उनमें उत्पाद व्यय होता रहे यही उनके सत्त्वका निरन्तर लाभ है। कोई असत् न था, नया सत्त्व नहीं मिल रहा, मगर सत्त्व ही रहता है जब प्रतिसमय उत्पादव्यय होता रहे। तो प्रत्येक जीव एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। सभी अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए है और अपने उस स्वरूपका ही परिणमन करते हैं, पर विकट बात बन क्या जाती है कि अनादिसे अज्ञानवश हम आप शरीर और कर्म-इन दो के घिरावमे पड़े हुए हैं। सो कर्म जो पहले बाँधे हुए है उन कर्मोंका उदय उदीरणाके काल में अनुभाग खिलता है। उन कर्मवर्गणावोमें जान नही है नहीं तो जैसे हम आप विह्वल होते हैं उससे अधिक दुर्गति होती कर्मकी। कर्म अचेतन है। अनुभाग खिलते हैं कर्ममें, उस

समय जो कुछ अनुभागका आत्मामें, उपयोगमें प्रतिफलन हुआ, छाया प्रतिबिम्ब हुआ और उससे उपयोग जो अबुद्धिपूर्वक दूषित हुआ वहाँ ज्ञान है जीवको, सो बाहरी पदार्थमे उपयोग जोड़कर उसकी विडम्बना विकार व्यक्त बना लेती है। तो हो क्या रहा है ? इस ज्ञानने तो अज्ञानरूप परिणमन किया वह ज्ञानपरिणमन ज्ञानकी ही स्थिति है। ज्ञान ही इस प्रकारके विकल्प रूप परिणम गया। और वहाँ उस दोषको, उस प्रतिफलनको अपने रूप परिणमा लिया तो बस यह जीव विह्वल बन गया। बात इस समय खुदकी खुदमे कही जा रही है। इस जीवने क्या किया ? अपने उपयोगमे जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन हुआ उसको अपना डाला। इतना ही काम यह जीव कर रहा है। इससे आगे जीव और कुछ काम नहीं करता। यह लोगोंका भ्रम है, ज्ञानकी विडम्बना है जो बहुत बाते चित्तमे आतीं कि इसने यह विरोध कर डाला, मकान बना डाला, मिटा डाला, और-और बहुतसे काम कर दिये।

जीवका अज्ञानावस्थामे कर्तृत्व व ज्ञानावस्थामे अकर्तृत्व——भिन्न पदार्थोके बारेमे कर्म करनेका जो ख्याल बनता है यह जीवका भ्रम है। जीवने तो यहाँ इतना भर किया कि इस उपयोगमें जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन आया, उसमे सम्पर्क पाया, उसको अपनाया, उसमे जुड़ गया और उसमे अभेद अनुभव करने लगा और अपने आपकी सुध भूल गया। अज्ञानी जीव यह कर रहा है मूलमें। अज्ञानी भी किसी बाह्य पदार्थको करनेमे समर्थ नहीं है, किन्तु अपने ज्ञानको अज्ञानरूप परिणमाये, यह ही कहलाता है जीवका कर्तृत्व। सो जीव करता है अज्ञान अवस्थामे, सो भी बाह्य पदार्थका नहीं, किन्तु अपने अज्ञान परिणामका कर्ता है और उसमें बाह्य पदार्थके कर्तृत्वका विकल्प होता है, इस कारण अज्ञानीको कर्ता कहा है। जब इस जीवको अपने स्वरूपमे और कर्म अनुभागमे भेदविज्ञान हो जाता तब यह जीव अपने ज्ञानको ज्ञानरूपसे परिणमानेका पौरुष करता है तब यह जीव ज्ञानी है। तो देखो जीव करता क्या है ? अपने आपमे अपनी ही बातको यह कर रहा है। ऐसी ही सब जीवोकी बात है। जब सब जीव केवल अपने आपके आत्मामे अपने आपके व्यापारको ही करते हैं तो दूसरा मेरा क्या कर सकता है ? वह अपनेमे अपना परिणमन बनाकर अपनी पर्यायको पूर्ण करता है, अगली पर्यायको प्रारम्भ करता। यही तो कर रहे हैं सब जीव।

प्रतिकूल चेष्टाका प्रयोजन विरोध न होकर अपने सुखकी आशाका आधार——जब सब जीवोंका निज प्रदेशमे ही उपयोगका कर्तृत्व है तब फिर कोई जीव मेरेपर क्या करता है ? कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है, कोई मेरा विरोध नहीं करता। यदि कोई प्रतिकूल चेष्टा कर रहा हो तो हम ही तो समझते हैं कि मेरे प्रतिकूल कुछ चेष्टा कर रहा, वह तो अपनी शान्तिके लिए, अपने सुखके लाभके लिए जो उसकी बुद्धिमे आया, विकल्पमे आया उसकी ही

तो चेष्टा करता है कि मेरेमे वह कुछ कर सकता । यदि इस दृष्टिसे देखें तो कोई भी जीव किसीका विरोधी नहीं है । यदि गजकुमार मुनिके सिरपर उनके स्वसुरने आगकी अगीठी जला दी, तो इतना उपसर्ग होनेपर भी स्वसुरका जीव गजकुमारसे विरोध न कर सका । किन्तु वह तो अपनेमें अपना विकल्प बना सका । सो गजकुमारको दड देनेके लिए नहीं, किन्तु अपने को शान्ति पानेकी आशासे किया । अब कोई शान्त हो सके अथवा न हो सके, मगर जगतके जीव जो चेष्टा करते हैं वे अपनी सुख शान्तिके अर्थ चेष्टा करते हैं, दूसरेके लिए कोई कुछ चेष्टा नहीं करता । तब स्पष्ट विदित होता है कि कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है । अगर मैं किसीको विरोधी समझता हूं तो वह मेरा अज्ञान है और वह मेरे विघातके लिए है । जब कोई मेरा विरोधी हो ही नहीं सकता तो मैं भी ऐसा सच्चा ज्ञान रखूं कि जगतमे कोई जीव मेरा विरोधी नहीं ।

अन्यको विरोधी माननेके भ्रमका माध्यम विषयसाधनोमे बाधा—अच्छा फिर लोक में विरोधकी बात क्यो चित्तमें आती है ? उसका कारण यह है कि सभी जीव विषयकषायो से भरे हुए हैं । सबको अपने विषयोके साधनोमें सुख दिख रहा है । अच्छा स्पर्श मिले जो अपनेको सुहावना हो, कोमल कठोर, ठडा, गर्म, रूखा, चिकना, जैसा जो कुछ सुहावना लगे तो प्रीति जीवोके बसी हुई है । जिसको रस जैसा मीठा लगता, जो सुहावना स्वाद लगता उसकी प्रीति है सुगंध स्वरूप, अच्छे शब्द, प्रशसा इसमे जीवोके रुचि जगी हुई है । तो जब इन विषयके साधनोमें बाधा आती है तो जीव कष्ट मानता है ना । अब वह बाधा आती है तो उसमे कोई पुरुषकी चेष्टा निमित्त बनती है । तो जिस पुरुषकी चेष्टा निरखकर हमने अपने विषयमें बाधा समझी तो बस वही जीव विरोधी जचने लगता है । उसने तो विरोध नहीं किया । उसने तो अपनी सुख शान्तिके लिए अपना परिणमन किया, लेकिन दूसरे जीवने अपने विषयसाधनमें बाधाका निमित्त समझकर उसे विरोधी समझ लिया । तो देखो सत्य ज्ञान रहे तो भीतरमे कषायकी अग्निका सताप न रहेगा ।

विरोधित्वकी मान्यता दूर करनेके दो उपाय—बाह्यमें सर्व जीवोमे अन्तः तो यह निरखें कि सबमें चैतन्यस्वरूप है, समान है और बाह्य चेष्टामे यह निरखें कि इस जीवके इस प्रकारके कर्मका उदय हुआ है, उस कर्मोदयमे उपयोग दूषित हुआ और वहां अपनी सुख-शान्तिके लिए उसको ऐसी चेष्टा करनेका बुद्धि उपजी, तो इसीका निर्णय सामने रखना चाहिए, पहले तो आन्तरिक यह निर्णय है कि सर्व जीव मूलमें एक समान ज्ञानस्वरूप हैं । सर्वस्वरूप समान है और संसारी जीवोका ही समान नहीं, किन्तु जितने जीव हैं, मुक्त हैं, भगवान हैं, अन्तरात्मा हैं, बहिरात्मा हैं, एकेन्द्रिय हैं निगोद हैं, सर्व जीवोका अर्थात् सत्त्वके

कारण होने वाला स्वरूप स्वरूपमें समान है। एक तो निर्णय यह होना है, दूसरा निर्णय यह रहता कि जो लोग जो कुछ चेष्टा करते हैं वे दूसरेका विरोध करके नहीं करते। दूसरेमे तो कोई कुछ करनेमे समर्थ ही नहीं होता। न विरोध कर सकता कोई किसी अन्यका और न दोस्ती ही कर सकता है याने न सुख दे सके, न दु ख दे सके। कोई जीव अपने प्रदेशसे बाहर अपनी क्रिया नहीं कर सकता। तो जो भी जो कुछ चेष्टा करते हैं वे अपनी इच्छासे ताड़ित होकर अपनी विषयसाधनाकी रुचिसे पीड़ित होकर जैसा उनको जंचा वैसी वे चेष्टा करते है। सो ऐसी चेंष्टा वाले जीवको देखकर हम उसके अहितकी बात मत विचारें। किन्तु यह भावना बनावें कि इस जींवमे ऐसा ज्ञान जगे, ऐसी सद्बुद्धि बने कि यह अपनी अज्ञानता की हठ छोड़ दे और अपने आपमे शान्तिका लाभ ले। यह जीव भी परमात्मस्वरूप है, पर वर्तमान परिस्थितिमे कर्मसे आक्रान्त है, यह मेरा विरोधी नही, किन्तु खुद यह दयनीय है।

कर्माक्रान्तता निरखकर हितार्थ चिन्तन--जैसे दर्पणके सामने हाथ कर दिया तो दर्पणमे जो हाथके अनुरूप छाया एकदम छोड़कर आयी, दूरसे देखकर नहीं आयी, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जिस कालमे दर्पणके सामने हाथ हिलाया, यह छाया बननेमें देर नहीं लगती। तत्काल छाया प्रतिबिम्ब हो गया तो यह तो प्रकृष्ट दौड़ है। दौड़ में भी समय लगता। मगर यहाँ समयमे अन्तर नहीं पड़ा तो जैसे दर्पणके सामने हाथ आया तो दर्पणमें एक आक्रमण हुआ। साफ दिखता है तो जैसे वहाँ दर्पणमें निमित्तभूत पदार्थका आक्रमण कहलाता, प्रदेशसे निकलकर आया कुछ यह बात नहीं है। किन्तु जैसा तात्कालिक निमित्तनैमित्तिक योग है—अनिवारित, उसको देखकर परखिये कि जैसे दर्पणके सामने हाथ आया तो दर्पणका प्रतिबिम्ब रूप हाथका आक्रमण बना, ऐसे ही इस उपयोगमे पूर्वबद्ध कर्म का जब विपाक आया तब यह कर्मविपाक सन्निधानमें हुआ, उस समय तो तुरत एकदम उपयोग दूषित हो गया। उपयोगमे प्रतिविम्ब हुआ, प्रतिफलन हुआ तो यह कर्मका आक्रमण कहलाया। हम आप लोगोपर भव-भवके बाँधे हुए कर्मके आक्रमण चल रहे हैं कि उस ओर तो कुछ ख्याल नहीं करते और बाहरमे जगतके जीवोको यह मेरा प्यारा, यह मेरा अनिष्ट यह मेरा मित्र, इस तरहके विकल्प बनाकर अपने आपके उपयोगको मथे जा रहे हैं। किसी भी जीवको विरोधी मान लें, शत्रु मान लें तो इसका असर उसपर कुछ होता है क्या ? वह तो जो है सो ही है, पर जो विरोधीकी मान्यता रखता है बुरा तो उसका ही उपयोग हो जाता है। कोई शिकारी शस्त्र लेकर किसी जीवका वध करनेके ख्यालसे चला और रास्तेमे उसे मुनिके दर्शन हुए। तो साधुदर्शन करके शिकारीके मनमे रोष आता है-आज तो असगुन हुआ है, आज तो शिकार नहीं मिलनेका यह साधु सामने पड़ गया। शिकारोको साधुके प्रति

क्या घृणा, विरोध, ईर्ष्या नहीं जगती ? जगती, मगर इस दुर्भावके कारण कुछ मुनिराज पर भी बात बीती क्या ? वह तो अपने शुद्ध ज्ञानानन्दरसका ही स्वाद ले रहा है। वहां शिकारी की दुर्भावनाका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तो ऐसे ही समझिये कि जगतके जिन-जिन जीवों पर अपना दुर्भाव बना रहता है उस दुर्भावका फल स्वयको ही भोगना पड़ता है, कोई दूसरा नहीं भोगने आता।

अपनी विडम्बना बनानेमे खुदका उत्तरदायित्व—भैया ! एक मोटी बात हृदयमें लो, हम पाप करें तो उसका फल हमको ही भोगना पड़ेगा। भले ही इसके पूर्व पुण्यका उदय है, जो अन्याय करे, पाप करे, फिर भी उसे कोई लौकिक बाधायें नहीं आ रही हैं, ऐसा ही पूर्व पुण्यका उदय है और उस घटनामें हम अन्याय करें, पाप करें, अनाचार करें तो जो कर्म काबन्धहोगा वह कर्मका बध छोडेगा नहीं। कर्मबधसे निवृत्त होनेमें, असमयमें ही कर्मबधके फल को तोड़देनेमें महान तपश्चरणकी आवश्यकता होती है। उत्कृष्ट समाधिभाव ही पूर्वबद्ध कर्मको टालनेमें समर्थ हो सकता है। केवल एक उस अलौकिक स्थितिके अभावमें सारी स्थितियां ऐसी हैं जो पूर्वबद्ध कर्मको टालनेमें समर्थ नहीं है। तो हम जो कर्म बांधते हैं, कर्मका सचय होता है, भलेही कोई यह सोचें—हमारे इतना बड़ा ज्ञान है, हमारा इतना बड़ा वल है, इतना बड़ा चला है, ये कर्म मेरा क्या करेंगे? लेकिन कर्मको जब उदय उदीरणा होती है उस समय इस जीवको क्लेश भोगना पड़ता है। भोगता है वह अपने आपके विकल्पको, मगर निमित्तनैमित्तिक भावकी अनिवारिता तो देख लीजिये।

विरोधभावना तजकर स्वपरहित शिवमय आशीषकी भावना रखने का परिणाम—भैया ! हम कुछ अपनेमें भय रखें, हमसे बुरा काम न बनना चाहिए, क्योंकि मेरा जो बध होगा वह मुझे ही भोगना पड़ेगा, कोई दूसरा न भोगेगा। सो अपने आपपर दया रखते हुए अपने आपकी ऐसी सद्भावना बनायें कि यह मोक्षमार्ग मेरेको मिले और कभी सदाके लिए इन संसारके संकटोंसे छूट जायें। ऐसी एक शुद्धवृत्ति पाने के लिए मेरेमें कुछ ज्ञानका व्यापार करना होता है। उनसबमें पहला नम्बर है इस बातका कि हम जगतके सब जीवोंमें स्वरूप समान देखें और उसे निरखकर यह निर्णय रखें कि कोई जीव किसी दूसरे का विरोधी नहीं है। कोई मेरा विरोधी नहीं, जो करता है वह कर्मसे आक्रान्त होकर पायी हुई बुद्धिसे ऐसी-ऐसी चेष्टायें करता है, मेरे विरोधसे नहीं करता। ऐसा जानकर उन विरोधी जनोके प्रति दयाभाव रखें और उसको एक आशीष दें कि कर्मसे आक्रान्त हुये इस जीवको अपने आपके अन्तःप्रकाशमान परमात्मस्वरूपका दर्शन हो और अपने सहज शुद्ध परमात्मतत्त्व का दर्शन करके अपना कल्याण पावे। उसके प्रति कल्याणकी भावना बनायें। विरोधी किसी भी जीव

को न निरखे तो इसमें हम आपकी सुरक्षा है।

( ३१ )

किसी भी जीवके प्रति विरोधभाव रखनेसे मेरी ही बरबादी है, क्योंकि विरोधभाव पाप है, उससे स्वयको सक्लेश होता है, अतः किसीके प्रति विरोधभाव न जगे और सभी जीवो में परमात्स्मवरूप दिखे।

विकारपरिणमनसे जीवकीही बरबादीकी सम्भवता—समस्तपदार्थ ६ जातिके हैं—जीव,पुद्गल, धर्मअधर्म आकाश और काल। इनमेंसे चार द्रव्य तो सदा शुद्ध रहते हैं—धर्म,अधर्म,आकाशऔरकालइनपदार्थोंमें न कभी विकारपरिणमन हुआ, न है, न होगा। विकारपरिणमन केवल दो प्रकार के पदार्थोमे ही सम्भव है—जीव और पुद्गल। सो पुद्गलतोअचेतनहै,उसमेकुछभी विकार हो उससे उसका क्या नुक्सान पड़ता है ? कैसा हीपरिणमलो,जबदुःखकाअनुभवनहीं,जब किसी प्रकारका विकल्प नहीं तो पुद्गलकी कुछ भी परिणति बने उससे पुद्गलको क्या नफा-टोटा है ? एकजीव ही द्रव्य ऐसा है कि उसमेविकारहोतोउसकाप्रभावइसपरपडता है। सुख हो, दुःख हो, क्षोभ हो, विकल्प हो, यों इसपर विकारका प्रभाव होता है। तो जीवकेबारेमे ही सोचना है, यह जीव दो प्रकार के पदार्थोंको विषय करता हुआ अपने में क्षोभ मचाता है—जीव और पुद्गल। सो न तोवास्तविकपुद्गलकोयहजानताहैऔर न वास्तविक आत्माको जानताहै। पर्यायरूप ही पुद्गलसे,पर्यायरूपहीजीवमेयह कुछआस्था करता, विकल्प करता। तो यहां जीव जीव और पुद्गलकेअतिरिक्तनिकृष्टजीवऔरपुद्गलमें अपना उपयोग जोडकर अपनेको क्षुब्ध बनाये रहता है। अब उपयोग जुड़नेपरदोप्रकारकी बुद्धियां तो होती हैं—इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि,रागऔर द्वेष।सोरागभी इस जीवकेलियेझझट है और द्वेष भी जीवके लिये झंझट है, क्यो झझट है कि ये जीवके स्वरूप नही हैं, स्वभाव नही है, पर निमित्त पाकर हुए हैं। सो जैसे यह मै जीव वस्तुतः न किसीसेदोस्तीरख सकता, न किसीसे विरोध रख सकता, अपने ही विकल्पमे हमइसतरहका भाव बनायें अथवा विरोधका भाव बनायें, ऐसी ही सब जीवोंके साथ बात है। कल्पना से वह मित्रता और विरोधका भाव बनाता। तो जब हमारा अन्यकिसीपदार्थसे कोई सम्बन्ध नही, वे मेरेको कुछ करतेनहीं, मै अन्यमे कुछ करता नहीं तो ऐसा निर्णय पाकर अपनेको ऐसा स्वच्छ बनावें कि यहसदा भान रहे कि जगत में मेरा कोई जीव विरोधी नहीं है, अविरोध है। कोई मित्र भी नहीं और विरोधी भी नहीं।

विरोधभाव रखनेसे विरोधभाव रखने वालेकी बरबादी—जब जगतमें कोई जीव

मेरा विरोधी नही, जैसा उक्त निबंधमें आया था कि जितने जीव चेष्टा करते है । वे अपनी सुख शान्तिके लिए करते हैं वे मेरे विरोधके कारण नहीं करते । विरोध कहां मिलेगा ? यह सिद्धान्त नहीं, किन्तु इष्ट बुद्धिमें राग होना यह उनकी मौलिक बात बन गई मूलमें । सो लोकमें जिनसे बाधा जचती है उन्हे यह विरोधी समझता है । वस्तुतः इस जीवका कोई जीव विरोधी नही है । किसी भी जीवके प्रति विरोध भाव रखना या विरोधकी बुद्धि बनाना यह तो अपनी बरबादीके लिए ही प्रवृत्ति है, दूसरेकी क्या बरबादी ? धन्यकुमार ही तो था ना, जिसके भाई ने कितना ही कोई मारनेका उपद्रव रचा और उन्हीं घटनाओमें उसे धन लाभ हुआ, वैभव लाभ हुआ । श्रीपालको ही तो धवल सेठने समुद्रमें गिराया । गिर गया, किसी तरह किनारे आया तो वहां आधे राज्यका लाभ हुआ, राजपुत्रीके साथ विवाहकी बात हुई । तो धवल सेठने सोचा कि यदि मै इसे समुद्रमें गिरा दूँगा तो यह मर जायगा, सो समुद्र मे पटक दिया, पर हुआ वही जो उसके उदयमें था । तो कोई भी जीव किसीका अनिष्ट नहीं करता । कोई जीव मेरा विरोधी नहीं, मुझको किसी जीवके प्रति विरोध भाव न रखना चाहिए । हाँ कोई परिस्थिति है और कुछ बात बनती है तो वह एक घटना है, मगर भीतर मे श्रद्धान यही रखना चाहिए कि जीव-जीव तो सब समान हैं, किसीका कोई विरोधी नही होता । यह बात सब अपनी दयाके लिए कही जा रही है। किसी दूसरे के ऐहसानके लिए धर्म नहीं हुआ करता । धर्मपालनका प्रयोजन है खुदको शान्ति और समताका लाभ होना । धर्म करके जैसे कोई समझता कि मैं महान् हू, ये लोग हमें पूजें, हमें मानें, हम इनके धर्मका बड़ा काम कर रहे हैं, ऐसी कुछ भी ऐहसानकी बात नहीं है । जो धर्म करता है वह एक अपने हितके लिए करता है । हाँ तो किसी जीवके प्रति विरोधभाव रखनेसे बरबादी किसकी है ? जिसके प्रति विरोध रखा उसकी या जिसने विरोधभाव बनाया उसकी । जिसने विरोध भाव बनाया उसकी बरबादी है । क्योंकि विरोधीभाव पापभाव है और सक्लेशका करने वाला है । सर्वजीव एक समान स्वरूप वाले हैं, रहा ऊपरका अन्तर सो यह सब कर्मलीला है, यह अन्तर किसी जीवके स्वरूपमें नहीं बसा है, तब फिर मेरा विरोधी कौन ? किसके प्रति मुझे विरोध होना चाहिए । विरोधीकी बात यह जगती है कि जब अपनेको कषायमें आग्रह रहता है तो उस कषायके आग्रह के कारण नाना स्थितियाँ बन जाती हैं । यदि दुःखसे मुक्त होना है तो कषायोंका आग्रह छोड़ना पड़ेगा ।

जीवके व्यक्त विकारके प्रसगमे उपयोग सम्बन्धित तीन बाते—कषायभाव, बाह्यभाव, परभाव जैसा अनुभाग खिला वैसा इस उपयोग दर्पणमें वैसा ही यहां प्रतिबिम्बका प्रतिफलन हुआ । तो देखो जैसे कहा जाता ना कि किसी पदार्थमे उपयोग जुड़ा तो निमित्त कहलाता है,

यहाँ तीन बातें समझनी चाहिएँ, किसी बाह्य पदार्थमें उपयोग जुडा तो निमित्त कहलाता है यह बात घटित होती है बहिरग निमित्तपर। है ही ऐसी बात। जगतमे विचरने वाले मनुष्यो पर, अन्य प्राणियोपर या अजीव वैभवपर, जिसपर भी उपयोग जाय वहाँ यह जीव अपनेमे विकार करता है और ये पदार्थ निमित्त कहलाते हैं। दूसरी बात क्या समझें कि ये बहिरंग पदार्थ उपचरित निमित्त हैं, लेकिन कर्मविपाक पूर्वबद्ध कर्मका उदय यह है विकारमे वास्तविक निमित्त, अन्तरग निमित्त, क्योकि उसके साथ विकारका है अन्वयव्यतिरेक सम्बध याने कर्मोदय होनेपर ही, कर्म अनुभाग होनेपर ही विकार बनता है, कर्मविपाक न होनेपर विकार नही बनता। तो यो कर्मविपाक है वास्तविक निमित्त उनमे कोई उपयोग नहीं जोडता, जुड़ ही नही सकता। वे कर्म भिन्न हैं, सूक्ष्म हैं, उनपर कोई उपयोग नहीं जोडता। अब तीसरी बात समझनी है कि कर्मविपाक जो कर्मकी परिणति है, कर्मका कार्य है उसमे तो जीव उपयोग नही जोड पाता, किन्तु उपयोगमे जो प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब होता है उसकी तो बीत रही पद्धतिकी खबर है ना। उसमे सम्पर्क बनता है। पर कर्मविपाकमे सम्पर्क नहीं बनता। देखो कर्म सूक्ष्म चीज है या रागद्वेष जीवभाव सूक्ष्म चीज हैं। इन दोका ही मुकाबला देखो—कर्म रागद्वेष जिसका नाम है क्रोधादिक, ऐसी कार्माणावर्गणाओके स्पर्धक ये सूक्ष्म हैं या जीवमे जो भाव रागभाव, द्वेषभाव उठते हैं वे सूक्ष्म हैं। कहना होगा कि सूक्ष्म तो जीवभाव है, विभाव है। कर्म सूक्ष्म नही जीवविभावके सामने, क्योकि कर्म तो पौद्गलिक हैं मूर्तिक हैं और जीवभाव ये अमूर्त आत्माके परिणाम हैं। तो कर्मसे भी अधिक सूक्ष्म होनेपर भी यह जीव अपने रागद्वेष क्रोधादिक भावोमे तो स्पष्ट परिचय रखता है और कर्मोंसे इसे परिचय नहीं बनता। इसका कारण क्या है कि कर्म यद्यपि जीवके रागद्वेष भावसे मोटे हैं, लेकिन हैं तो भिन्न पदार्थ, इसलिए उनका ज्ञान तो नहीं बना, पर उन कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमें जो छाया माया प्रतिफलन दोष आया यह तो खुदपर, गुजरा ना, तो उसकी पहिचान जल्दी हो जाती है, उसका सम्पर्क जल्दी हो जाता है। तो तीसरी बात यह है कि कर्मविपाक के प्रतिफलनमे उपयोगका सम्पर्क होना यह बात है जीवविकार होनेकी विधियोमे।

कर्मविपाकके प्रतिफलनका विवरण—हाँ तो उन्हीं उपयोगोमे से एक विरोध वाले उपयोगकी बात कहीं जा रही। द्वेषविकार, यह द्वेषविकार मुझमे हुआ। कैसे ? कि हुआ तो कर्ममें याने पहले कर्म बाँधे थे उनमे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंधा था तो हुआ ता वह कर्मविपाक, अब उसका निमित्त पाकर जो प्रतिफलन हुआ वह जीवपर गुजरा। तो वह उपयोगकी खबर हुई, ज्ञानमे आयी, ज्ञानमे कैसे आयी ? ज्ञान जैसा ज्ञानमे नहीं आया, मगर अधेरा जैसा झलका। दर्पणमे दूर रखी हुई चीज झलकती कि नहीं। पिछो रखी हो, घड़ा

रखा हो, कुछ भी चीज रखी हो वह झलकती है। और यदि बहुत घनी अंधेरी रात हो और उस अंधेरी रातमें दर्पण रखा है तो बताओ उस दर्पणमे भी कुछ झलका कि नहीं ? झलका तो है। क्या झलका ? अंधेरा झलका। तो अंधेरेमें क्या मिला ? मिला क्या, वह तो अंधेरा है तो जैसे दर्पणमे लाल चीज भी झलकती है और अंधेरा भी झलकता है, पर अंधेरेकी झलकमें कुछ झलका—यह विदित नही होता। इसी तरह जीवमें, उपयोगमें ये बाहरी पदार्थ भी झलके, ये विषयभूत पदार्थ और कर्मविपाक भी झलका, मगर इस झलकमे ऐसा ही अन्तर है कि जब ये विषयभूत पदार्थ झलके तब तो कुछ-कुछ खबर है और जब कर्मविपाक झलका तो इसको कुछ खबर नहीं। मगर अंधेरेकी तरह वह झलका, उसमे सम्पर्क बना। तो यह जीव इस प्रकार दोषो बन जाता है।

विरोधभाव न रखकर अन्तस्तत्त्वके दर्शनके पौरुषका कर्तव्य—कर्तव्य यह है कि किसी जीवके प्रति विरोध न रखना चाहिए। कलह भी हो जाय घरमे, विरोध भी हो जाय तो भी जैसे भीतर कुछ गुंजाइश बनाये रहते ना क्षमाशील होनेकी। किसी लड़केने कोई काम विगाड़ दिया या कुछ उपद्रव कर दिया तो बापको, माँको, भाईको क्रोध तो आता है, मगर ऐसा क्रोध नहीं आता कि इसे निकाल दूँ, मार दूँ। भीतरमें ऐसा राग बसा रहेगा, प्रेम बसा रहता कि उसे कभी पीटेंगे भी तो पोले हाथोंसे पीटेंगे। शत्रुपर जैसे हाथ चलते वैसे हाथ इसपर भी चलते क्या ? अपने बालकपर या अपने इष्टपर क्या इस ढगसे कोई हाथ उठाता है जैसे कि लोकमे कोई बैरीपर उठाता है। तो बात क्या है वह परिस्थितिवश कषाय जग रही, मगर मूलमे इनका उच्छेद करनेका भाव नही बनता। तो ज्ञानी पुरुषके वे पहले बाँधे हुए कर्म उदयमें आये तो वहाँ कुछ विकार जग जाता है, लेकिन मूलमें ज्ञानीको सच्ची सुध बनी रहती है। नट खेल दिखाता ना, ऊपर रस्सी बाँध देता है एक ओरसे दूसरी ओर तक और वह नट उस डोरपर, रस्सीपर चलता है, तो चलता है रस्सीपर, पर उसका उपयोग कहाँ रहता है, कैसा केन्द्रित रहता है। और तो जाने दो—देखा होगा कि महिलायें अपने सिरपर तीन चार घड़े तक रखकर कुवेंसे जल भर लाती हैं, वे हाथसे पकड़ती नहीं, दो-तीन महिलाये हुई तो बीच-बीच गप्प-सप्प भी करतीसिर भी हिलता, पर उन घड़ोपर कुछ भी जोखिम नहीं आती। तो वहाँ क्या हुआ ? वहाँ ऐसी साधना है, सिरका ऐसा सयम है कि वहाँ घड़ोपर कुछ भी जोखिम नहीं आने पाती। ऐसे ही बहुतसे नाच नाचने वालोंको भी देखो होगा, कई-कई घड़े अपने सिरपर रखकर बिना उन्हे पकड़े सब तरहसे नृत्य कर लेते हैं। तो वहाँ बात क्या है ? केवल एक सिरका संयम। ठीक ऐसे ही ज्ञानी पुरुषका ध्यान एक निज अन्तस्तत्त्वमे ऐसा संयत रहता है कि परिस्थितिवश अनेक घटनायें आयें तिसपर भी

किसी भी घटनामें आसक्त नहीं होता। परिस्थिति आये कुछ विरोधकी, आक्रमणकी, झझट की, तिसपर जो ज्ञानी पुरुष है वह तो मूलमे उस जीवस्वरूपका आदर रखता है। तो विरोधभाव जगे तो इसमे बरबादी। किसकी बरबादी ? दूसरेकी नहीं, किन्तु खुदकी बरबादी है। अपने लिए भी भावना और समग्र जीवोके लिए भी भावना कि कभी भी किसीके प्रति विरोधभाव, विनाशभावना न जगे और क्या बने कि जीवोमे सहजपरमात्म तत्त्वका दर्शन हो।

( ३२ )

कितना भी दुःख आवे, समझो यह दुःख तो अनन्तदुखियों के सामने थोड़ासा ही है तथा समागत दुःख भी मात्र माननेका दुःख है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र अमूर्त है, इसमे तो दुःखका काम ही नहीं।

घबडाहटमे मरण न हो एतदर्थ जीवनमे धीरताकी आवश्यकता— यह सब ससार है, सकटोका घर है। संकट एक भी नहीं, फिर भी सकटोंका घर है। यह ही तो कहलाती है एक समस्या, गोरखधधा, विचित्र बात, आश्चर्यकी चीज। सकट तो यो नहीं है कि सब जीव अपनी-अपनी सत्ता रखते है और सुरक्षित हैं, किसी जीवका विनाश नहीं होता। कोई यदि ऐसी मनमे दृढता कर ले कि अगर देह भी घटती है तो मेरा क्या है ? मैं तो अमर हू, अविनाशी हूं, यहां न रहा, और जगह चला गया, लेकिन बताओ कि जब कोई ऐसी स्थिति आती है कि जहां यह लगता है कि अब तो मेरा मरण ही होगा, होने ही वाला है उस समय में शान्ति और समतापूर्वक कौन जीता है ? विरला ही ज्ञानी जो सकता है, पर प्रायः करके घबड़ाहट बनती कि नहीं ? अच्छा बतलाओ मरनेमे घबड़ाहट क्यो की जाती है ? उस घबडाहटके मुख्य दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह सोच होना कि यहां जो कुछ पाया, जो कुछ बात बन सकी वह सब मिट रही है, उसका वियोग हो जाने वाला है। फिर अपनेको उसका उपभोग नहीं मिलनेका। ऐसा ध्यान लगता है तो यह जीव घबड़ाता जाता मरते समय और कोई थोड़ासा बुद्धिमान हो, कुछ धर्मरुचि वाला हो तो वह घबड़ाता है यो कि वह सोचता है कि मेरा जीवन व्यर्थ गया। मै शान्ति समतासे जीवन न चला सका। ज्ञानमे मैं अपना जीवन न ढाल सका। मेरा यह मनुष्यभव व्यर्थ गया, यों ख्याल कर घबड़ाता है।

तो ऐसा उपाय तो बनावें कि मरते समय घबड़ाहट न रहे। वह क्या उपाय है ? यह उपाय है कि जीनेके समयमें भी घबडाहट न रहे तब तो मरणसमय घबड़ाहट न रहे, यह बात तो सोची जा सकती है। जीनेके समयमे घबड़ाहट न रहे, इसके लिए दो बातें समझनी चाहिएँ। एक तो यह हम निर्णय पहलेसे कर लें कि जो मिला है वह सब मिटनेके लिए

मिला है। जैसे बरसातके दिनोंमें बच्चे लोग रेतीली नदीपर जाकर जो पांवके ऊपर रेत चढ़ाते हैं, थपथपाते हैं और फिर धीरेसे पैर निकालते है और घरसा बना लेते हैं तो बताओ वे उस घरमें रहनेके लिए घर बनाते हैं या मिटानेके लिए बनाते हैं ? मिटानेके लिए खुद ही मिटा दिया तो कुछ झगड़ेकी बात नहीं और कोई दूसरा मिटा दे तो लड़ाई हो जाती है। है तो सब मिटनेके लिए ना ? मिटनेमे दूसरा कोई निमित्त बने तो उसपर विरोध करते। और अपने आप मिट जाय या खुद मिटा दे तो किसका विरोध करते ? इस जीवको आदत है ऐसी कि प्रत्येक घटनामें दूसरेके दोप देखते। कोई सेठ है और गद्दीपर काली स्याही की दवात रखते हैं ना और सेठजीकी लात लग जाय तब तो यह कहता सेठ कि देखकर दवात नहीं रखते मुनीम जी, और मुनीमसे वह स्याही बिखर जाय तो सेठजी उसपर यो कहकर नाराज होते है कि देखकर नहीं चलते। तो जब ऐसी दृष्टि रहती है कि खुदका विचार नहीं दूसरेके दोष देखना और अपने आपके दोषका चिन्तन नही तो बतावो प्रगति कैसे हो सकती है ? तो ऐसे ही विकल्पके कारण यह सारा संसार संकटमय हो रहा है।

ज्ञानबलसे अपने सकटको न कुछ सकटसा समझकर दु ख दूर करनेका सन्देश—— भैया ! यहाँ बहुत सकट है। यह जो निबन्ध पढ़ रहे हैं तो यह किस घटनाके समयमें बनाया हुआ है ? अहमदाबादमें एक सुभाष अग्रवाल जैन हैं तो उनका बच्चा चार वर्षका था। वह बडा चतुर था, सबसे बड़े प्यारसे बोले। मेरे पास वह बहुत बैठता था, उसे हम अच्छे लगें और हमें भी वह अच्छा जंचे। एक दिन अचानक ही वह छतसे गिरकर मर गया तो उस बच्चेका बाप सुभाष उसके पोछे पागलसा बन गया। उस प्रसगमे एक यह बात सम्बोधी गई कि देखो यहाँका कोई भी दुःख कुछ भी दुःख नहीं है। यद्यपि उसपर था बड़ा कठिन दुःख, मगर सोचना चाहिए कि जीवपर किसी समय कितना भी दुःख आये, मगर वह न कुछसा है। कैसे समझें कि हमपर यह दु ख बहुत थोड़ासा पड़ा है ? आप इससे अनेक गुणा दुःख वालोंको और अनेक घटनाओंको देख डालें, आपको विश्वास हो जायगा कि मुझपर तो यह दुःख बहुत ही थोडा है। दृष्टिकी बात है। जब अपनी दुःखपर दृष्टि है तो यह लगता है बड़ा और जब दूसरे अनन्तगुणे दुःखोपर दृष्टिकी है तो दुःख लगता है थोड़ा। जिससे आराम मिले, शान्ति मिले, ज्ञान मिले, धैर्य मिले वह काम करना चाहिए कि नही। तो यह जगत है तो सकटमय अपनी कल्पनासे, मगर यहाँ कितने ही प्रकारका संकट आये उन सब सकटोको थोड़ा जानें। प्रथम तो ऐसा समझें कि संकट है ही नहीं। वाह्य वस्तु है, आया, गया, रहा, जो हुआ सो हुआ। क्या ठेका है, आज यहाँ पैदा हुए, मरकर दुनियाके किसी और छोरमें पहुंच गया तो उसके लिए यहाँ क्या है ? अनेक सम्बोधन हैं, जिससे यह समझना चाहिए कि मुझ

पर सकट कुछ नहीं, और न सहा जाय तो इतना तो समझ लेवें कि और दुःखियोके मुकाबले में तो मुझपर ये कुछ भी सकट नहीं, थोड़ासा ही सकट है, और जो भी सकट है यह भी केवल माननेका सकट है । हर एक सकटके प्रति ऐसा ही वार्तालाप करें । दुःखीका दु.ख दूर करनेके लिए कोई दूसरा न आयगा, कोई दूसरा दुःख दूर न कर सकेगा । खुदको ही ज्ञान बनाना होगा और अपने ही ज्ञानसे अपने दुःखको शान्त कर सकेगा । तो यह ध्यानमे लाना कि मुझपर कुछ दुःख नहीं । और तो हमसे अनेक गुना दु खी हैं और जो दु ख आया है वह भी एक माननेका दुःख है ।

स्वरूपकी आराधना करके सकटोसे अलग होनेका अनुरोध— भैया ! वास्तविकता तो यह है कि मै तो अपनी ओरसे अपने सत्त्वके कारण सहज चैतन्यज्योतिमात्र हूँ, इसका भवन ही है कि यह परिणमता रहे । सो ईमानदारी तो यही है कि यह ज्ञानरूपसे ही परिणमता रहे, मगर अनादिसे योग्यता खराब, मलीमसता, कर्मबन्ध प्रतिसमय, उदय उदीरणा, उसका झलक, उपयोग दूषित हुआ तो वहाँ विकल्परूप परिणमने लगा । तो यह विकल्परूप परिणमन तो औपाधिक बात है, मेरे स्वरूपकी बात नहीं हैं । मै तो चैतन्यज्योति मात्र हूँ । मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है जो कि है अमूर्त । जिसे कोई पहिचानता नहीं, जिनका विकल्प कर हम परेशान होते, उनमेंसे कोई भी इस मुझको नहीं जानता । ऐसे इस अमूर्त चैतन्यस्वरूपमे दुःखका नाम ही नहीं, काम भी नहीं, ऐसा अपना अन्तर्ध्यान बनायें और जो दुःख आया वह कुछ नहीं है, ऐसा समझकर सर्वसकटोसे अपनेको अलग बनाये रहे ।

( ३३ )

जितना भी दुःख होता है वह अपने अज्ञान और रागके अपराधसे ही होता है । यदि दुःखसे दूर रहना चाहते हो तो ज्ञान और वैराग्यको पुष्ट करो, ज्ञान और वैराग्य ही दुःखसे छुटकारा पानेका उपाय है ।

दु खका जनक अज्ञान और राग——ससारमें ये सभी जीव अपनेको दुःखी अनुभव कर रहे हैं, कोई किसी पदार्थका विकल्प करके दु.ख मानता है तो कोई किसी भावका विकल्प करके दुःख मानता है । उन दुःखोके होनेका कारण क्या है ? क्या ये दुःख किसी बाहरी पदार्थके कारणसे हुए हैं ? कोई बाहरी पदार्थ किसी तरह परिणमे या हुए, क्या किसी पदार्थ के कुछ भी परिणमनसे इस जीवको दु ख होता है ? तो विचार करो तो स्पष्ट विदित होगा कि बाहरी पदार्थ के किसी परिणमनसे जीवको दुःख नही होता, क्योंकि वह तो बाहरी पदार्थ है और बाहरी पदार्थसे दुःख होता तो बाहरी पदार्थ ये जिस जिसके निकट हो उस उसको दु ख होना चाहिए । पर काम वही है, उसको कोई दुःख मानता, कोई सुख । घर वही है

उसे कोई दुःख मानता, कोई सुख मानता। बाहरी पदार्थसे दुःख नहीं होता। दुःख होता है तो वह अपने ही अपराधसे होता है। वह अपराध क्या? अज्ञान और राग। अज्ञान और रागके अपराधसे समस्त दुःख है। किसी भी दुःखकी बात सामने रख लो और यह विचार करो कि मेरेको दुःख क्यो हो रहा है? तो उत्तर मिलेगा कि इस जातिका तो अज्ञान है और इस जातिका राग लगा है, अज्ञान और राग इनका अपराध लगा है इससे दुःख हो रहा। अज्ञान तो क्या है इसके अनेक उत्तर हो सकते है। पर मौलिक उत्तर यह सब जगह मिलेगा कि अज्ञान यह है कि मेरा जो सहज स्वरूप है उसका हम इन कर्मविपाक देश प्रदेशो से न्यारा परिचय नही कर पा रहे और उन कर्मोकी माया छायामे लिपटे हुए अपने आपको देख रहे। यह एक मौलिक अपराध हैं। जिस कारण हमको दुःखी होना पड़ता है। अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान न होना अज्ञान कहलाता है और जब-जब अपने वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि नहीं होती, ज्ञानमे वह स्वरूप नहीं रहता तब तब इस जीवमें विकल्प होते हैं और उन विकल्पोसे क्लेश होता है। तो जीवको जो कुछ दुःख होता है उसका कारण है अज्ञान और साथ ही लगा हुआ है राग, इस जीवने जब अपने आत्माके अनुभवका आनन्द नहीं पाया। ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया, अन्य विकल्प हुआ ही नही, ऐसी परिस्थितिमें होने वाला जो अनुभव आनन्द हैं, जब वह सत्य आनन्द प्राप्त न हुआ तो चूंकि आनन्दका लेना ही तो जीवका प्रयोजन है, जब खुदसे आनन्द न मिला, जब निरपेक्ष सत्य सहज आनन्द न मिला तब यह आनन्द पानेके लिए बाह्यमे मन, वचन, कायकी चेष्टा करता है, बस वही कहलाया राग। तो जितना दुःख होता है वह अज्ञान और रागसे होता है।

जीवके क्लेशका कारण स्वकृत अपराध——

आप थोडा और विचार करेंगे, सोचेंगे कि मामूली जीवोमे तो यह बात घटित हो जाती है, मगर जो न तो अज्ञान रखता और न कोई घर गृहस्थीका राग बनाये हैं, योगी है, साधु सत जन है उन पर भी तो बड़े-बड़े उपसर्ग आते, बड़े-बड़े कष्ट आते तो उनको यह दुःख क्यो होता? न वहाँ अज्ञान है और न राग है. फिर उन्हें दुःखका कारण क्या? तो समाधान मे यह सोचें कि उपसर्गके समय यदि उनका दुःख जग रहा है तो उस दुःखमें अज्ञान और राग कारण पड़ेगा और अगर दुःख नही जग रहा तो यहाँ कोई नियम न रहा कि कोई उपसर्ग कर रहा, पीटता तो दुःख ही हो। यह तो अपने-अपने ज्ञानकी पुष्टता और निर्बलतापर आधारित है। कोई जरासी आँख दिखाता और यह मनमें बड़ा दुःख महसूस करता और कोई शस्त्र भी मारे फिर भी ज्ञानी योगीजन उसमें दुःखका अनुभव नहीं करते। तो दुःख कोई अनुभव करे तो उसमें सोचना पड़ेगा कि कुछ न कुछ अज्ञान और राग है। जैसे किसी

योगीके सम्बन्धमें निरखा जाय, जो किसीसे विरोध नहीं रखता, मौन रखता, अपनी आत्म-साधनामें लगा है और कोई पूर्व भवका बैरी या किसी कारणसे क्रोधी कोई हो जाय और वह उस योगीको सताने लगे तो वहाँ तो योगी कुछ दुःख अनुभव करता, तो उसमे देखो राग कारण है। क्या विकल्प जगा कि मैं कुछ अपराध नहीं कर रहा और यह व्यर्थ ही मुझे सता रहा है। किसी न किसी प्रकारका राग तो चल रहा है और उस कालमे चूँकि विकल्प मच रहा तो उस विकल्पके समय इस जीवको अपने स्वरूपकी सुध नहीं, वहाँ दृष्टि नहीं, अनुभव नहीं, भले ही प्रतीति रहे, सम्यक्त्व भी रहा, मगर जब जब भी विकल्प है तब तब सहज ज्ञानस्वभावमे अनुभूति नहीं है। तो यह एक निर्णय रखें कि जिस जीवको भी दुःख होता है उसको अपने विकल्पके कारण होता है। और भी विशेष बात समझें, उस योगीने क्या अपराध किया जिससे दूसरे लोग सता रहे। तो अपराध समझिये क्या? पहला अपराध तो यह कि वह दुःख मान रहा तो उसने कर्मविपाकके प्रतिफलनमे सम्पर्क बनाया, और मोटे रूपसे सोचो कि उसे उपद्रव क्यो आया? उपसर्ग क्यो आया? ऐसा ही कोई पूर्वबद्ध कर्मका उदय आ गया। तो जितने भी क्लेश होते हैं वे सब जीवोको अपने अपराधसे होते। जिसमे दुःख अनुभव हो वह तो मुख्यतया वर्तमानके अपराधसे है, और जिसमे बाहरी सकट मात्र हो वह पूर्वकालके अपराधसे है। जो वर्तमान दुःख है उसमे भी पूर्वका अपराध और वर्तमान का अपराध दोनो ही कारण पडते हैं। जहाँ दुःख नहीं हो रहा, उपद्रव उपसर्ग है वहाँ मात्र पूर्वके अपराधसे बाँधे हुए कर्मके उदयमे चल रहा है यह।

क्लेशोके दूर होनेका उपाय ज्ञान और वैराग्य——जितने भी क्लेश होते हैं जीवको वे अपने अपराधसे ही होते हैं, ऐसा निर्णय कोई बना ले तो उसको जीवनमे सकट नहीं आता। जिस जीवकी दृष्टि रहती है विपरीत कि देखो मेरेको यह व्यर्थ सता रहा, इसने मुझे कष्ट दिया, इस प्रकार के विकल्प उसने किये जिससे उसे कष्टका अनुभव हुआ। तो यदि कष्ट न चाहिए, दु खसे दूर रहना चाहते हो तो अज्ञान और राग——इन दो अपराधोंकर दूर करना होगा। जब अज्ञान न रहा तो ज्ञान जग गया, जब राग न रहा तो वैराग्य जग गया। तो दुःख दूर करनेका उपाय है ज्ञान और वैराग्य। चीजोका सचय, सग्रह, परिग्रहका समागम यह दुःख दूर करनेका उपाय नहीं, किन्तु ज्ञान और वैराग्य के भाव ही दुःख दूर करनेके उपाय हैं। जहाँ यह ज्ञान जगा कि जगतके ये समस्त पदार्थ मेरेसे अत्यत भिन्न हैं, इन पदार्थों में मैं क्या करूँ, इनसे मेरा क्या मतलब? ऐसा जब ज्ञान जगता है तब मोह रागद्वेषकृत दुःख नहीं रहता और इसी ज्ञानके बलपर वैराग्य भी बनता है। जब ये सब जुदे हैं तो मुझे लगावसे क्या मतलब? ज्ञानी जन बाह्य पदार्थोंसे लगाव हटा लेते हैं और अपने आपमे अपना

अनुभव करते हैं। तो दुःखसे दूर रहनेका उपाय है ज्ञान और वैराग्य। जब जीवके कुबुद्धि रहती है तो वह ज्ञान और वैराग्यमें तो क्लेश मानता है और अज्ञान और रागमें मौज मानता है, पर इस असार ससारमें काल्पनिक मौजोसे क्या गुजारा चलेगा? काल्पनिक मौजका विकल्प छोड़कर ज्ञान और वैराग्यको ही पुष्ट बनायें, ज्ञान और वैराग्य ही दुःखको उत्पन्न करनेका उपाय है। सबसे निराला ज्ञानमात्र यह मै परमात्मस्वरूप हूँ, जिसमे सहज ही असीम ज्ञान ओर आनन्द भरा पड़ा है। भरा भी क्या पड़ा यहं? आनन्दस्वरूप ही मै हूं। मेरेमें अपूर्णता क्या? अधूरापन क्या? झझट क्या? कमी क्या? जहाँ यह ज्ञान जगता है वहॉ विषयोका राग हटता है और अपने आपके आनन्दस्वरूप ज्ञानभावमे दृष्टि लगती है, अनन्त आनन्द झरने लगता है। तो अज्ञान और राग दूर करें और ज्ञान और वैराग्य भावसे अपने आपको यही अनुभव करें।

( ३४ )

मै ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानपरिणमनको ही करता है, ज्ञानपरिणमनको ही भोगता हूँ, मुझमें किसी भी परका प्रवेश नही, फिर बाधा कहांसे आये? निज सहजानन्दको भूलकर बाहर कष्ट बनाये जानेका प्रोग्राम कॅन्सिल।

परपदार्थोंके कर्तृत्वके आशयसे क्लेश——स्वहितके अर्थो भव्य जनोको यथार्थ मनन करना होगा कि मै क्या हूँ और मै क्या करता हूं, मै क्या भोगता हूँ——इन तीन बातोकी धुन भी रहतो है सबको। इन तीनके आशय बिना कोई मनुष्य है भी नहीं, पर यहां यह सोचना है कि हम कैसे अपने आपको इन तीन बातोमें लगाते कि क्लेश होता और कैसे इन तीन बातोको यथार्थ समझें तो कष्ट मिटेगा। जब यह जीव किसी पर्यायमे 'यह मै हूँ' ऐसी मान्यता करता है तो उसे कष्ट होता है, क्योकि पर्याय है, क्षणिक पर्याय है, औपाधिक पर्याय है, और उसे मान लिया कि मै यह हू तो उस पर्यायकी अदल-बदलसे यह जीव अपनेको बड़ा कष्ट मानता है। जब यह जीव ज्ञानभावकोछोड़कर अन्य भाव और पदार्थमे 'मै करता हूं' ऐसा विकल्प बनाता है तब यह जीव कष्ट भोगता है। ज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थको मै कर नहीं सकता। कैसे? ऐसे अर्थ दो प्रकारके हैं——पर और परभाव। पर पदार्थ तो वे कहलाते हैं जिनकी स्वतंत्र सत्ता है, हमसे निराले है, ऐसे पदार्थमें मै करता हूं, ऐसा आशय रखे तो वह कष्टका ही कारण है। क्यो कष्टका कारण है कि परपदार्थमें कुछ करनेका अधिकार तो है नही, और अधिकार यह समझता है, तो अपने मनके अनुकूल जब परपदार्थमें परिणति नहीं हो पाती, तब यह कष्ट मानता है। जैसे कोई ५०-६० मनकी गाड़ी बैल खीचे चले जा रहे हो और पीछे दो बालक गाड़ीपर हाथ लगाये कल्पनामें ढकेल रहे तो वे यह

मानते है कि इस गाड़ीको मैं चलाता हूँ। तो क्यो जी, ऐसा मानने मे कुछ हर्ज है क्या ? मानने दो, कुछ हर्ज है क्या ? आखिर बच्चे ही तो हैं, अरे हर्ज है। उनसे अपराध यह हो गया कि वे झूठी मान्यता कर रहे हैं। जब गाडी खड़ी हो जाती तो वे बच्चे बड़ा कष्ट मानते। अरे मै इस गाड़ीको चला रहा था, अव यह क्यो नही चलती ? तो माननेमे क्या अपराध है ? सो किसी को तो यो लगता कि क्या अपराध कर रहे ? वैठे हैं अपने घरमे सिर्फ मान भर रहे तो जैसा चाहे मान लें, मगर सारा दुःख तो इस खोटी मान्यतामे ही है। तो यह जीव ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोमे, परपदार्थोमे करनेकी वुद्धि रखता है और दुःखी होता है।

परभावके कर्तृत्वके आशयसे क्लेश—अच्छा परपदार्थ तो अत्यन्त भिन्न हैं, उनमे यदि करने की बुद्धि रखते हैं तो यह तो हमको अपराध जच गया, और जब अपराध करता है तो दुःखी हो रहा, लेकिन परभावोको करता हूँ—इस मान्यतामे क्या अपराध ? तो समझिये परभाव मायने क्या ? क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, ये जो विभाव हैं ये सव परभाव कहलाते हैं। परभाव क्यो कहलाते कि पूर्वमे बंधे हुए कर्मका उदय आता है और उस उदयका विपाकका, अनुभागका इस उपयोगमे प्रतिफलन होता, झाँकी होती, तो यह जो झाँकी हुई, उपयोगमे दोष आया, आया है चेतनाके विकाररूप, मगर यह परपदार्थका, कर्मका, विपाकका निमित्त पाकर हुआ है। अतएव परभाव है, आत्माके निज गुणका भाव नहीं है। तो परभावको मै नहीं करता क्योकि मै तो उसका करने वाला हूँ जिसके करनेमे मैं स्वतन्त्र हूँ। व्याकरणमे भी कहते "स्वतंत्रः कर्ता"। जो क्रियामे स्वतत्र हो उसे कर्ता कहते हैं। यद्यपि इस कर्ताकी परिभाषा समझनेके भी दो रूप हैं। पहला रूप तो यह कि जैसे सिद्ध भगवान प्रभु वीतराग अपने भावोके कर्ता हैं तो वे स्वतत्र हैं अर्थात् परनिमित्त वहाँ नहीं होता, पर निमित्तके बिना ही वे सब पर्याय हैं, सो स्वतत्र कर्ता है। और दूसरी दृष्टि यहा लगाया ससारी जीवोमे जो विकार परिणमन कर रहे हैं वे भी यद्यपि निमित्तका सग पाकर कर रहे हैं, पर जो किया जा रहा है वह तो आत्मामे आत्माके परिणमनकी ही तो बात है। कहीं दो द्रव्य मिलकर जीव विकारपरिणमनको नहीं करते। तो एक स्वतंत्रता वहा भी सिद्ध हुई। अब पहली स्वतन्त्रताकी बात तो शुद्ध पर्यायकी है, विकारको नहीं। दूसरी स्वतत्रताकी बात है तो वह जो विकार है वह परनिमित्त पाकर हुआ है। इतना तो कलक सग लगा ही हुआ है। तो मैं स्वय अपने आप अपनी ओरसे परसग पाये बिना मैं इस विकारभावका करने वाला नहीं हूँ, इसलिए मैं परभावोका कर्ता नही हूँ। तब मैं निरपेक्ष स्वतत्र निःसन्देह बाधा रहित रूपसे किसका करने वाला हूँ ? ज्ञानभावका करने वाला हूँ, ज्ञानस्वरूप हू, तो ज्ञानका व्यापार चल रहा। जितना निरपेक्ष परिणमन होता रहे उतना तो मै करने वाला हूं, पर

उसके अतिरिक्त अन्य कुछ परभावोंका या परका करने वाला नहीं हूँ। जिसको अपने कर्तापन के रहस्यका परिचय हो जाता है वह जीव अपराध नही करता, उसको फिर कष्ट नही होता।

परके भोक्तृत्वके आशयसे क्लेश––अब तीसरी समस्या जानें कि मै किसको भोगता हूँ? सारा जगत कहता है कि मै स्पर्श भोगता हूँ, रस भोगता हूं, गध भोगता हूं पर एक द्रव्य किसी भिन्न प्रदेश वाले द्रव्यको क्या भोग सकता है, क्योकि भोगनेका अर्थ है अनुभवना। अनुभवन खुदका खुदकी पर्यायरूपमे होता है, किसी अन्यकी पर्यायमे अनुभवन नही होता। तो किसी भी बाह्यपदार्थको मै भोगता नहीं हूं। हाँ बाह्यपदार्थका उपयोग करते समय यह जीव अपनेमें भोगनेका विकल्प करता, ज्ञान करता है, उस विकल्पको भोगता है, अनुभवता है तो यह जीव किसी बाह्यपदार्थको भोगता नहीं, किसी बाह्यपदार्थका निमित्त पाकर विकल्प को भोगता है, ऐसा वह भी कर्मविपाक होनेसे परभाव है, शुद्धनयसे तो मै परभावका भी भोक्ता नहीं हूं।

कष्टके प्रोग्रामोको नष्ट करके सहज आरामके पानेका कर्तव्य––जब मैने, कर्तृत्व, भोक्तृत्व इन तीन प्रकारोमे वस्तुका परिचय किया, तब यह स्पष्ट जाहिर हो गया है कि मेरेमें किसी भी परकाप्रवेश नही। जब कभी परका मेरेमे प्रवेश हो नहीं सकता तब उससे बाधा कहाँसे आ सकेगी? मै निर्बाध हूं, सहज अनादि अनन्त हूं। बस इस निज सहज आनन्दको जो भूल गया और इस सहज आनन्दको भूल जानेके अपराधको यह बाहर ढूंढने लगा। यहाँ सुख मिला, यहाँ सुख मिलेगा। जैसे किसी बालकको कोई घरसे निकाल दे तो वह यत्र तत्र डोलता फिरता है, कहीं बुआके घर, कहीं मौसीके घर, कहीं मित्रके साथ। तो जैसे घरसे निकाल दिये जानेपर बालक असहाय होकर यत्र तत्र डोलता है ऐसे ही जब इस अज्ञानी जीवके यह भाव बना है कि मेरेमे आनन्द कहाँ है भीतर? खुद कहाँ है? खुदके आनन्दका परिचय नहीं और बाहरी पदार्थोंमें जान बूझकर ढूक ढूककर शान्तिकी खोज करता है। मुझको यहाँ सुख मिलेगा, यहाँ शान्ति मिलेगी, यों जगह जगह डोलता है तो उस परिभ्रमणमें कष्ट ही मिलता है, आनन्द नहीं मिलता। जहाँ अपना वश नहीं चल सकता, जहाँ अपना ठिकाना नहीं रह सकता। यो बाहरी पदार्थोंका आश्रय करे तो वहाँ शान्ति और आनन्द कैसे मिल सकेगा? यहाँ तो ज्ञानी सोचता है कि अनादिसे मैंने अपने सहज आनन्दस्वरूपको भुला दिया और बाहरमें अनेक पदार्थोंके निकट उपयोग घुमाकर कष्ट बना, सो बना लिया अज्ञानमे कष्ट, लेकिन उस अज्ञानका प्रोग्राम अब हम खत्म करते है और ऐसा कष्ट भोगनेका प्रोग्राम भी हम खत्म करते है। व्यर्थ ही, है कुछ नही इस जीवका और बाहरी पदार्थोंमें

विकल्प करता, ममता करता, बाहरी पदार्थोंसे अपने आप विडम्बना करके कष्ट बनाया जा रहा है। अब इस कष्ट बनाये जानेके प्रोग्रामको हम कैन्सिल करते हैं और अपना जो सहज ज्ञानभाव है उसका आश्रय करते हैं।

( ३५ )

आध्यात्मिक व शारीरिक ब्रह्मचर्यका पालनहार ही पुरुष पवित्र है। परमे कर्तृत्व भोक्तृत्व व स्वामित्वका व्यर्थ विकल्प करके मूढ़ मत बनो तथा देहवीर्य नष्ट करके अपनी विडम्बना मत बनाओ।

कल्याणसाधक उपयोगविषयकी जिज्ञासा—जीवका लक्षण उपयोग है। उसके उपयोग लक्षणरूप होनेसे यही तो बात आयगी कि यह जीव कहीं अपना उपयोग लगाता है। उपयोग मायने ज्ञान और दर्शन। कहीं यह जीव ज्ञानको लगाता है। सो ज्ञानको लगानेके लिये ज्ञान चाहिए और ज्ञानको कहीं लगाया तो विश्वास भी चाहिए। तो उपयोगस्वरूप रहनेसे ही तीन बातें आ जाती हैं। विश्वास है, ज्ञान है और चारित्र है अर्थात् यह अपने आपमे अपने या परके प्रति कुछ विश्वास बनाये रहता है और जानता रहता है और कहीं न कहीं लगा रहता है। तो यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि यह जीव कहाँ उपयोग लगाये तो इस जीवका भला है और कहाँ उपयोग लगाये तो इस जीवकी बरबादी है। जो भले वाली बात है वह पवित्रता वाली बात है, जो बरबादी वाली बात है वह अपवित्रताकी बात है। तो अपने से बाहर उपयोगको अभिमुख करके जो कुछ लगाव बनता है वह तो है अपवित्रता और अपने स्वरूपकी ओर जो लगाव बनता है वह है पवित्रता। भगवानको क्या कहे? परपदार्थ कहें कि निजरूप कहें? देखो यद्यपि परमात्मा एक आत्मा है, मुझसे भिन्न पदार्थ है तो भी जिसकी दृष्टि यहाँ तक ही है कि वह तो परपदार्थ है, वह तो भगवानको भक्तिमे ठीक न बन सकेगा, और परपदार्थ होकर भी जो स्वरूपकी सम्पदा तकता है और उस नाते भक्ति करता है उनकी भक्ति होती है। तो जहाँ स्वरूपका नाता नहीं ऐसे परपदार्थ तो कहलाते हैं कषायके नोकर्म। और जहाँ स्वरूपकी समता है, स्वरूपकी दृष्टिका नाता है वे कहलाते हैं हमारी भक्ति के विषय। हम कहाँ ध्यान जोड़ें, कहाँ उपयोग लगायें कि हम पवित्र बनें? इसके दो उत्तर है—एक उत्तर है परमार्थतः, एक उत्तर है व्यवहारतः। व्यवहारसे तो यह उत्तर है कि प्रभु गुणगानमें लगाओ चित्त, परमेष्ठियोकी भक्तिमें लगाओ चित्त, जो प्रभुताके मार्गपर चल रहे हो ऐसे संतजनोकी भक्तिमे लगाओ जीवन। यह तो है व्यावहारिक पवित्रताकी बात। और निश्चयतः अपना जो एक सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूप है उसमे चित्त लगावें, यह है परमार्थत. पवित्रता।

आन्तरिक व वहिरग ब्रह्मचर्यमे स्वकल्याण—यदि थोड़े शब्दोमे कहो तो कहो, ब्रह्मचर्य ही पवित्रता है। आन्तरिक ब्रह्मचर्य और बाह्य ब्रह्मचर्य—आन्तरिक ब्रह्मचर्य तो है आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य का पालन। सो निजके सहज चैतन्यस्वरूपको जानकर उसमें मग्न होना यह है आन्तरिक ब्रह्मचर्य। और बाह्य ब्रह्मचर्य है। शारीरिक ब्रह्मचर्य। तो ऐसे दोनो ही प्रकार के ब्रह्मचर्योंका पालनहार पुरुष पवित्र कहलाता है। अब इन दोनोके खिलाफ वाली वृत्तिकी अपवित्रता देखिये, जहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नहीं है अर्थात् निजका सहज ज्ञानस्वरूप परमब्रह्म रूप नहीं निरखमें आता और बाहर ही विश्वास बनाये है, कुछ तो उसमें बुद्धियां जगती हैं परके स्वामित्वकी। मै इसका मालिक हू। जीवोके बारेमे भी सोचते हैं कि मै इन जीवोक मालिक हू। ये मेरी आज्ञासे खिलाफ क्यों चलेंगे? चलते हैं तो क्रोध करता है। मेरा तो आदमी है और आज्ञा नहीं मानता, परके स्वामित्वका आशय बनना यह आन्तरिक ब्रह्मचर्यका घात है। इसी प्रकार परका कर्तृत्व मानना, मै परको कर दूंगा, मैने परको किया, इस प्रकार अत्यन्त भिन्न परपदार्थो मे कर्तृत्वका अहंकार होना जहाँ यह भाव है वहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नहीं है। तीसरी बात है परका भोक्तृत्व। तो जहाँ परपदार्थके बारेमें मै इसे भोगता हू, मैं इसे खाता हूं, इस प्रकारका जो विकल्प है, जहाँ जिसके विकल्प है वहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नही है। जहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य है वहाँ कष्टका नाम नहीं।

परमब्रह्मचर्य को धारण करके सदाके लिये सकटमुक्त होनेकी भावना—भैया व्यर्थ ही परका स्वामित्व, परका कर्तृत्व, परका भोक्तृत्वका व्यर्थ विकल्प क्यों करके मूढ़ बनें और क्यो दुःखी हों? कहीं बात विशेष अड़चनकी आ जाती और बहुत उल्झन बन जाती है तो कहते है कि मैंने इसका टंटा निपटा दिया, सदाके लिए झंझट तो मिटे। अपने बारेमें क्यों नही सोचते कि एक बार तो भीतरका टटा एकदम खत्म कर दें, सिद्धभगवानकी लिस्ट में अपना नाम लिखायें। अब बतलावो थोड़ा मिला वहाँ भी ममता है। अरे थोड़ा क्या, तीन लोकका वैभव मिल जाय तो उससे भी क्या पूरा पड़ेगा? जीवका पूरा पड़ेगा तो सम्यग्ज्ञानसे। सर्व पदार्थोंसे विविक्त केवल एक ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वकी प्रतीतिसे सकट टलेगा। एक बार टंटा तो मिटे। अनन्तकाल व्यतीत हो गया बात करते-करते भी, कहीं धर्मध्यानकी बात भी करते, सोचते, पर एक बार ऐसा कड़ा जी करो, साहस बनाओ, भीतरमें ध्यान बनाओ और जो अपना सहजस्वरूप है उस स्वरूपमें आस्था आग्रह बनाकर ऐसा साहस बना लो कि बस मै तो यह हूं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। मेरा सर्वस्व तो यह सहजस्वरूप है, इसके आगे कुछ नहीं। तो एक बार साहस जगा लें तो सदाके लिए दुःख इसके दूर हो सकते हैं। तो यही है आन्तरिक ब्रह्मचर्य—अपने स्वरूपको निहारकर अपने स्वरूपमें मग्न होनेका

पौरुष करना। तो आंतरिक ब्रह्मचर्यका घात मत करो याने विकल्पमें उपयोग मत फसाओ और दूसरा है बाह्य ब्रह्मचर्य। शारीरिक ब्रह्मचर्यके विरुद्ध चलकर अपनी देहशक्तिको नष्ट मत करें। तो जो प्राणी आन्तरिक और शारीरिक दोनो प्रकार के ब्रह्मचर्योंमे रहकर तृप्ति पाता है तो सर्व अपनी विडम्बनाओंको समाप्त कर देता जो कि अब तक चला आया है, तो बस यह दृष्टि होनी चाहिए, मेरेको मेरा स्वरूप दीखे, स्वरूपमें ही मैं तृप्त रहू बाह्यमें रचमात्र भी किसी भी परपदार्थसे अपनायत न लाऊँ और अपने शारीरिक व आन्तरिक ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके समस्त विडम्बनाओको समाप्त करूँ।

( ३६ )

प्रत्येक जीवमें सहजपरमात्मतत्त्वको देख यथोचित विनयशील रहो। केवल जीव तो शुद्धस्वभावी है, उसमे विकार अपराधका काम नहीं, मात्र ज्ञाता न रहकर विकल्प वनाया जाना तो कर्मविपाकका नाच है।

जीवोमे परमात्मस्वरूपका दर्शन करने वालेके असुविधाकी विडम्बनाका अभाव—जो भी ससारको असार जानकर इस देह सम्बंधी विकल्पको अपनी विपत्तिका हेतु जानकर आत्मकल्याणके मार्गमे लगना चाहे वह रहे कहाँ? रहने के दो ही तो स्थान—समागममें रहे या निर्जन वनमे। दोनो ही एक कठिन समस्यायें थीं। जब तक ज्ञानबल नहीं बढ़ता तब तक दोनो ही समस्यायें हैं। निर्जन वनमें रहे अकेला, तो वहाँ अनेक बाधायें हैं। सुविधाओ का यह जीव आदी बन गया है। जगलमे कब खाना, कहाँ रहना? वहाँकी असुविधाओसे मन घबड़ा सकता और समागममे रहता है तो समागम मे रहकर जो अनेक व्यवहार चलते हैं ऊँचे-नीचे, कटुक प्रहार और चूंकि कषायें बसी हैं, दूसरा कुछ बोलता है, दूसरा भी कुछ बोल उठता है तो ऐसी स्थितियाँ हैं, उनसे असुविधायें मिली हुई हैं। तो वनमे रहे तो असुविधा, समागमोमे रहे तो असुविधा। अब तीसरी बात क्या हो सकती, सो बताओ? जब कुछ तीसरीं बात हो नहीं सकती तो इन्हीं दोनो प्रसंगोमें मार्ग निकालना चाहिए। निर्जन बनमे रहनेका संहनन हो, शक्ति हो, वैराग्य हो तो उत्तम तो वह है और उसे फिर बड़ा उपसर्ग-विजयी होना चाहिए। किसी और बातकी परवाह ही न हो। केवल एक आत्मानुभवकी धुन हो, ऐसा पुरुष निर्जन वनमे अपना समय अच्छा व्यतीत कर सकता है और साथ ही शरीर भी ठीक चाहिए, सयम भी ठीक चाहिए। अच्छा और समागममे रहे तो वहाँ कमसे कम इतना ध्यान तो होना ही चाहिए कि जब जिससे बोलें, व्यवहार करें तो एक बार यह तो समझ लें कि यहाँ भी परमात्मस्वरूप विराजमान है जिससे हम बात कर रहे। चाहे कुछ पागलसा लगता हो, चाहे कम बुद्धिवाला हो, चाहे प्रतिकूल मार्ग वाला हो, चाहे किसी ढंग

का हो, पर एक बार तो उसमें अपना इतना ध्यान बनायें कि यहाँ एक अपना जैसा सहज परमात्मस्वरूप है। तो प्रत्येक जीवमें सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन करके फिर उसके प्रति विनयशील बनकर वार्तालाप करें।

जीवमे परमात्मस्वरूपके दर्शनसे तथा विकारपरिणामको कर्मविपाकलीला समझ जाननेसे असतोषका निरसन—परमात्मस्वरूपका दर्शन बहुत बड़ा तपश्चरण है, अपनी कषायो की बलि पहले देनी होती है तब ऐसा व्यवहार बन सकता है कि जीवोंमे परमात्मस्वरूपका ध्यान करे, उसके प्रति विनयशील रहकर व्यवहार करे और उसका व्यवहार उचित बनता है और फिर जिसने परमात्मस्वरूपका दर्शन किया वह दूसरे जीवके प्रति यह सोचता है कि यह तो केवल शुद्ध चैतन्यस्वभावी है। भीतर मे स्वरूप जब खुद है, अस्तित्व है उस परमार्थ सत्का स्वरूप क्या है ? केवल ज्ञानज्योति। निजके अस्तित्वमें विकार है क्या ? वह तो स्वय निरपेक्ष जैसे पारिणामिक भाव वाला होना चाहिए, सो ही है। तो जब दूसरे जीव में परमात्मस्वरूपका दर्शन किया तो उसका ध्यान बनावें कि यह है सहजपरमात्मतत्त्वरूप। जीव तो शुद्धस्वभावी है। उसमें विकार अपराधका काम नहीं। देखो दूसरेको देखकर ध्यान जाता है कि अपराधी है, दोषी है, न कुछ है, बुद्धिहीन है, इस प्रकार का भाव जाता है तो क्षोभ होता है। और जब यह विचार कर लिया दूसरे जीवके प्रति कि यह तो शुद्ध ज्ञान वाला है अर्थात् अपने स्वरूपसे अपने ही सत्त्वके कारण स्वयमे विकार नहीं होता और खुद जो मेरा स्वरूप है बस वैसा ही मात्र इसका स्वरूप है। उसमें अपराधका क्या काम ? दूसरे जीवको देखकर बात कही जा रही है—भीतरकी बात, ऊपरकी बात। जैसा दूसरे जीवको देखा उसके भीतरकी बात निहारो, बाहरको बात निहारो। तो भीतरकी बात तो यों कि अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण तो वह एक प्रतिभास मात्र है और प्रतिभासन का काम जाननहार है। उस ओर से अपराधका कोई काम नहीं। अपराध मायने विकार। जो अपने आपको शुद्धिसे अलग करे, तृप्तिसे अलग करे, कल्याणसे अलग कर दे, वही तो कहलाता है अपराधी। तो वह क्या है अपराध ? विकार। तो ज्ञानी सोच रहा है जीवको निरखकर कि यह तो शुद्ध चेतनास्वरूप है अर्थात् स्वरूपतः यह अविकार है। इसमें विकार अपराधका काम नहीं। अच्छा और बाहरमे तो सब दिख रहा है कि यहाँ रागादिक कुटेव रहा करती, खुद अनेक विकल्पोंमे चल रहा है। क्रोध भी है, मान भी है, माया भी है, लोभ भी है, वचन बड़बड़ाहट है, नाना प्रकारकी देह चेष्टायें हैं। तो ये सारे विकार अपराध दिख तो रहे हैं, सो कहते हैं कि जो कुछ दिख रहा है वह सब कर्मविपाकका खेल है, कर्मविपाकका नाच है। स्वय तो एक ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमात्र परमात्म तत्त्व है, ऐसा दूसरे जीवमें

निरखे तो फिर उसके प्रति इसे असतोष न होगा। दूसरेकी विकट क्रियाको देखकर खुदमे असतोष होना यह ही तो दु:खका कारण बनता है। तो ऐसा ज्ञान बनाना कि दूसरेको देख कर हमको असतोष ही न हो। तो दूसरेको किस तरह देखें कि हम असंतोषमे न रहे, बस वे ही दो बातें हैं भीतरसे, तो देखो कि यह तो अपने स्वरूपमात्र है, इसमे विकार अपराध नहीं है, फिर इसमे हमको असतोष क्यो? ऐसे अतस्तत्त्वकी साधना तो हमारी प्रसन्नताके लिए है। अब बाहरकी बात देखो तो जो बाहरमें चेष्टायें हो रही हैं, दोष हो रहे, विकार जग रहे हे, वह सब कर्मविपाकका प्रतिबिम्ब है और उसमे भूल गया, अज्ञान कर लिया, उस प्रतिफलनमे लग गया, सो यह कर्मका खेल है। इसका क्या अपराध? दोनो दृष्टियोमे जीवको निरपराध देखनेकी जो कला है बस उस कलासे असतोष दूर हो जाता है।

सहज अन्तस्तत्त्वके परिचयसे निर्बाध होकर स्वरूपमग्न होनेका अनुरोध—जिसको आत्माके सहज अन्तः स्वरूपका परिचय हो गया उस पुरुषको अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि करना लीला मात्र है, और जिसको अन्तस्तत्त्वका परिचय न हो वह कोई सरल पुरुष धर्मके नामपर भक्ति करे, व्रत करे, तप करे, सयम करे तो पाप करने वालेसे तो भला है ही। हां, सम्यक्त्व नहीं है, इसलिए वह मोक्षमार्गमें नहीं आता। ऐसे जीवको क्या यह कहे कि तू व्रत, संयम छोड दे, ये विकार हैं, ये कामके नहीं हैं, पहले तू सम्यदर्शन ही धारण कर। तो लो अब उन्हें छोड़कर बाह पसारकर सम्यग्दर्शन धारण करने चलेंगे तो कर लेंगे क्या? अरे उन्हे सम्बोधो कि तुम जो कर रहे हो सो ठीक है, मंद कषाय है, सुगतिका कारण है, यह धार्मिक वातावरण का एक आधार है, पर तुम इसमे तृप्त मत होओ। अपने अन्तः खोजो, सहज ज्ञायकस्वरूपको उसमें लगाते हुए उसका आनन्द पावो तो उन्हें अन्तः प्रयोगके लिए उत्साहित करना है। दुनिया अन्तस्तत्त्वका निरीक्षण नहीं करती। धार्मिक व्यवहार जो होता है वह सब प्रवृत्तिमे होता है। यदि प्रवृत्तिका लोप कर दिया जाय तो इसके मायने हैं कि जो भावी सन्तान होगे समाजमे, उन सब पर अदया की है, क्योंकि वे फिर कोई पेटसे सोखकर तो आये नही निश्चय की बात। अरे जो निश्चयको बात सीखी है, वह देखो व्यवहारमे था। माताके साथ मदिर आये, विनय सीखा, गुरुजनोकी भक्तिमे रहे, अनेकानेक बातोमे रहे और आज हम सीख गए परमार्थकी बात तो हम दूसरोको तो उल्झनमें नहीं लगायें। जैसे हम बने वैसे ही दूसरोको बतावें। तो प्रवृत्ति और व्यवहार इन सबको करते हुएमें एक भीतरका ज्ञानप्रकाश बनानेका ध्यान रखें। मै आत्मस्वरूपको जानूं, आत्मस्वरूपमें तृप्त होऊँ, इसमे कौन बाधा देगा? प्रभु की भक्ति करें, सयम करें, व्रत करें, चारित्रको न खोवें, तो क्या ये आत्माके सम्यक्त्वमे बाधा डालते हैं? अरे ये कार्य तो एक मदकषाय वाले हैं, इनमे बाधाका सवाल ही क्या? बल्कि

ये तो पात्र बनाते हैं।

अब हम अपना ज्ञानबल बढ़ावें और अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारें और अनेको ज्ञानमात्र निरखकर अपने आपमें प्रसन्न होवें। यह अपना भीतरी पुरुषार्थ बनावें। काम देगा भीतरी पुरुषार्थ। बाह्य बातें तो साधनाके लिए है। तो ऐसा जो एक आन्तरिक पुरुषार्थ है उस पुरुषार्थकी ठीक व्यवस्था और प्रयोग बनानेके लिए पहले जो एक बाधा थी ना बहुत समागममें रहनेकी वहाँ पहले शुद्धता बनावें और समागमकी शुद्धता तब बन पायगी जब हमारे चित्तमे ये दो बातें जच जायें कि ये जीव, समागममें आये हुए लोग अतरंगमे तो अविकारस्वरूप हैं, निरपराध हैं, प्रभु समान हैं और बाहरमें जो कुछ हो रहा है वह सब कर्मका नाच है, यह तो निरपराध है, ऐसी दृष्टि रहे और फिर व्यवहार चले तो योग्य व्यहार बनता है। जैसे हो हमारे मुक्तिके मार्गमे बाधा न हो और निकट कालमें हम सर्वझझटोंसे छुटकारा पाकर एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ही तृप्त रहें, ऐसा हमारा प्रोगाम और निर्णय होना चाहिए।

( ३७ )

हलाहल विषपानसे तो इसी भवमें एक बार मृत्यु होती है, विषयविभोगसे अनेक भवोंमें मृत्यु होती रहती है, अतः बार-बार मृत्युका काम तजकर, ज्ञानामृत पीकर अमर हो जावो।

हालाहलविषपानसे एक भवमे मरण और विषयविषभोगसे अनेकभवोमे मरण—— ये संसारी प्राणी मृत्युसे बहुत भय खाते हैं। हरएकका अनुभव बता रहा होगा कि इस जीवको सबसे बड़ा डर है तो मरणका, पर एक अचम्भेकी बात है कि यह जीव एक मरणका डर करता है, अनेक मरणोका डर नहीं करता। ि स भवमे यह जीव है उस भवके मरणका भय है इसे, पर अनेक जन्म मरण होगे, उसका ख्याल ही नही करता, भय भी नहीं करता याने संसारमे रुलनेसे इसको वैराग्य नहीं है। हमको आगे कभी जन्ममरण न धारण करना पड़े, ऐसी बात चित्तमें नही समाती। बस जिस भवमे गया उस भवका मरण न चाहिए। अब यहाँ यह बात देखो कि एक भवमे मरण किस कारण होता है, भव-भवमें मरण किस कारण होता है ? एक भवका मरण निश्चयसे तो आयुकर्मका क्षय होनेसे होता है, पर बाह्य साधनोमे रोगसे हो, विषपानसे हो, शस्त्र छेदसे हो, अनेक साधन होते हैं, तो यहाँ किसी एक खास कारणको लीजिए। मानो विषपान, विषका भक्षण करनेसे जीवका मरण होता है याने यह छूटता है, सो ठीक है और अनेक भवोमें मरण किस कारणसे होता ? इन्द्रिय और मनके विषयके भोगनेसे आगे भव-भवमें मरण होता है। तो यहाँ दो बातें सामने हैं। हालाहल विषके खानेसे तो एक बार मरण होता और विषयभोग, विषय

साधन मौजसे भव-भवमें मरण होता है। तो अब जरा यहाँ छटनी तो करो। एक बार मरण हो ले वह चाहिए या अनेक बार मरण करते रहना पड़े वह चाहिए ? वहाँ एक सीधे गणित के हिसाबसे तो झट कह देंगे कि भव-भवमें मरण होना अच्छा नहीं, मगर दिलसे तो पूछो, भव-भवके मरण होनेके साधनमें राग करते हो या नहीं ? और एक भवके मरणके साधनमे राग नहीं करते। विषसे सब कोई भय खाता है, विष न खाना, मगर विषयोसे कोई नहीं डरता कि विषय न भोगें। तो विषके भक्षण करनेसे तो इस ही भवमे एक बार मृत्यु होती है, किन्तु विषयविषोके भोगनेसे अनेक भवोमे मृत्यु होती है।

बारबार मरणके कामसे विरक्त होकर भवरहित होनेका उपाय करनेका अनुरोध— अब क्या करना है ? बारबार मरण होवे, ऐसा काम नहीं करना है। बारबार मरण होनेका साधन क्या है ? इन्द्रियविषयोको भोगना। ये ही रोजके काम बन रहे—रोज खाते हैं, रोज स्वाद आता है, रोज अच्छा लगता है, रोज नया-नयासा जचता है, उससे ऊब नहीं आती, वैराग्य भी नहीं बनता। यह तो भव-भवका भोग है। इसमें नवीनता क्या है तो विषयोके भोगके अनुरागसे तो भव-भवमे मरण होता, तो उसका अनुराग छोडें याने बारबार मरणका काम छोड देवें और वस्तुके स्वभावका ज्ञान करें, यही है अमृतका पान। तो ऐसा ज्ञानामृत पीकर अमर हो जावें। अमर तो हैं ही सब जीव। कोई भी पदार्थ मरता नहीं है, पर यह जीव कल्पनामे समझता है कि मै मर गया, एक इस शरीरसे निकलकर चला उसको यह मरण मानता है। वस्तु तो जो है सो ही है। आत्मा तो ज्ञानदर्शनात्मक है वह अपने सत्त्वको कैसे त्यागेगा ? अविनाशी है, सदा रहने वाला है। बस अज्ञानी जन शरीरके वियोगको मरण मानते हैं और इस शरीरवियोगका भय खाते हैं, यह सब अज्ञानका प्रताप है। मरण समयमे भय किस बातका ? और मरण समयमे भय माननेसे क्या मरणसे छुटकारा मिलता है ? लोग मरण समयमे भय करते हैं तो अज्ञानमे मान रखा था ना कि मेरा प्रताप है, मेरा वैभव है, मेरेको परिजनसे, मित्र जनोंसे बड़ा आनन्द आता है। विषयोको भोगते रहे, उनमे मौज मानते रहे, अब परिचित यह समागम कुछ नहीं रहनेका है, मिट जाने वाला है। वियोग होगा, इस जीवको अकेले जाना पड़ता है।

तो इन समागत पदार्थोंमे मोह रखने के कारण इसको क्लेश होता है, अब जब यह ज्ञानामृत पी लेवे याने मै सहज चैतन्यस्वरूप हूं, चेतनामात्र प्राण है, यह चैतन्यप्राण मेरेसे एक क्षण भी अलग नहीं होता, चैतन्यमय ही मैं हू, मैं कुछ अलग चीज नहीं हू, मैं कोई अलग हू और फिर मुझमे प्राण आयें, ऐसा है ही नहीं। अरे चैतन्यस्वरूप ही यह जीव है। जहाँ इसने जाना कि मेरा स्वरूप तो चेतनामात्र है तो ऐसे बाह्य पदार्थोंके वियोगका दुःख न

होगा। उसके तो दृढ़ निर्णय रहेगा कि जो मेरा प्राण है वह मुझसे कभी छूट नही सकता। जो मेरा प्राण नहीं, किन्तु परिस्थितिवश संयोगको लिए बन गए वे मेरे प्राण नही कहलाते। तो यह दृष्टिमें एक मोटो बात रही कि हलाहल विषपान हो जाय, शस्त्रसे सिर छिद जाय, ऐसी स्थितियाँ विषयविष भोगनेसे अच्छी है, क्योकि विषपान आदिकसे तो एक भवमे मरण होता और विषयविष भोगसे भव-भवमें मरण होता। तो अनेक बारके मरणका काम छोड़ें और अपने आपका जो निज सहजस्वरूप है उस ज्ञानको पाकर अपनेको अमर अनुभव करें।

( ३८ )

कोई पुरुष कैसी ही लौकिक उन्नति कर रहा हो, उसकी आकांक्षा मत करो, वह सब तो मायाजाल है, विपरीत परिश्रम है, अनर्थकारी है। निज ज्ञानानन्दधाममें बसकर तृप्त होओ व सहज आनन्द भोगो।

दूसरोकी उन्नति देखकर आकाक्षा करनेकी विडम्बना—इस मनुष्यलोकमें इन मनुष्यो को एक बैठे-बैठेका कठिन दुःख बड़ा गजबका है और व्यर्थका है। वह क्या दुःख है कि अनेक लोग उन्नतिमें बढ़ रहे हैं, कोई करोड़पति बन रहा है, किसीका सरकारमें बहुत बड़ा प्रभाव बन रहा, किसीके विद्याचातुर्य इतना विशेष हो गया कि सब लोग प्रायः उससे हार जाते हैं, ऐसी कुछ लौकिक उन्नतियाँ दूसरेकी कोई देखता है तो यह जीव अपने लिए उस लौकिक बड़प्पनकी इच्छा कर बैठता है। यह जीवमें बहुत दुःख है। कोई बड़ा धनी बन रहा तो बनने दो। बहुत धन हो गया तो यह समझ लो कि वह बहुत अधिक कीचड़में फसा हुआ है। रहता तो किसीका कुछ नही। कोई बहुत बड़ा धनिक हो गया तो उसके भी कुछ साथ नही रहनेका, कोई गरीब है उसके भी साथ नहीं रहनेका। आखिर फैसला तो एक है। चाहे धनी रहे, चाहे गरीब रहे, जितने दिनका जीवन है उतने दिनका काल्पनिक सुख है। आखिर फैसला एक है कि करोड़पति हो तो उसे भी छोड़कर जाना है, खोमचा वाला हो तो उसे भी अपनी सारी चीजें छोड़कर जाना है। फिर यह लौकिक उन्नतिकी आकांक्षा क्यो? दूसरे लोग धनमें, यशमें, कलामें बढ़ रहे हैं तो कौनसी बड़ी करामात पा ली है? यह तो संसारका एक संसरण है, रुलाव है। उसमें इस जीवको क्या मिल गया? तो किसीको लौकिक उन्नति देख करके आकांक्षा न करना, क्योकि आकांक्षा ही दुःख है।

इच्छाके परिहार बिना परमविश्रामकी असम्भवता—भैया! बाहर अपना कुछ नहीं है। जो इच्छा है उसीका नाम दुःख है। दुःखसे बचना है तो इच्छा मत करो। इच्छा दुःख है सो देख लो। जब छोटे थे, बचपन था तबका जीवन कैसा सुखमय था, सबको अपना-अपना मालूम है और जो वर्तमानमें बालक हैं उनको देख लो, दुखसे बचे हुए तो न थे।

दुःख तो था ही। इच्छा उनके भी थी। मगर जिस ढंगकी इच्छा अब जवान और बूढ़ोंके चल रही है उस इच्छाको ऐसा पकड लेते हैंकि छोड़ ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थिति बना ली है। ऐसा इच्छायें बचपनमें नहीं रहती। सुबह इच्छा की, घटे भरमें भूल गये, मगर अब जो इच्छा चलती है आपकी वह तो कभी भूलती ही नहीं। रात-दिनदिलपर सवार रहती है तो देखो इच्छा ही तो दु.ख है। बालक थे तब और तरहकी इच्छा। वहाँ बिल्कुल बेढगी इच्छा, मगर वह इच्छा घर न करती थी, बस यही बचपनकी विशेषता थी। बालक तो ऐसी इच्छा कर बैठे कि जिसकी पूर्ति होना ही असम्भव है। जैसे एक घटना है कि एक बच्चा इस बातपर मचल गया कि हमको हाथी चाहिए। हाथी वालेसे कहकर उसके पिताने द्वारपर हाथी खड़ा करवा दिया। फिर बालक इस बातपर मचल गया कि हाथी हमको खरीद दो। तो पिताने हाथीको अपने वाडेके भीतर खडाकर दिया और कहा—लो बेटा खरीद दिया। फिर वह बालक मचल गया कि इस हाथीको हमारी जेबमे धर दो। भला बतलावो, उस बालककी इस इच्छाकी पूर्ति कैसे हो सकेगी ? तो जैसे उस बालकने अटपट इच्छा की, ऐसे ही ये बड़े-बूढे लोग भी तो अटपट इच्छायें कर रहे हैं। अब किसी परपदार्थ पर किसीका कुछ अधिकार है नहीं कि वह उसकी इच्छाके अनुसार ही परिणमन करे, और वह चाहता है अपनी इच्छाके अनुसार परिणमन। जब उसकी इच्छाके अनुसार बात होती नहीं तो उसे दु खी होना प्रकृतिक बात है। अब तो एक ऐसा ज्ञान बनावें कि ये इच्छायें न जगें। ऐसा किए बिना किसी को आराम न मिलेगा। योगी साधु-संतोंकी पहिचान ही क्या है ? यही तो विशेषता है कि उनके इच्छाओंका अभाव हो गया। सब कुछ जान लिया, सब समझ लिया। इच्छा ही क्लेश है, इच्छा ही डाइन है, इच्छा ही पिशाचिनी है। जो इस जीव के बीच ऐसी लग गई कि इसे चैन नहीं लेने देती। भला बतलावो—किसी किस्मकी इच्छा करें तो क्या बिगाड होता है सो बतलावो। जिसके मनमे जिसकी इच्छा हो वह इच्छा न करे तो क्या बिगडता है ? क्या विपत्ति आती है ? क्या कष्ट होता है ? फिर क्यो नहीं इच्छा का त्याग करते ?

मायाजालके लगावका महान् क्लेश—जीवोको यह महान् दु.ख लगा हुआ है. लोगो को देखते हैं, पुण्यके उदय हैं। जिसका जैसा उदय है उसके अनुकूल उसका वैभव, उसकी चला, प्रतिष्ठा, उसका अधिकार, उसका प्रभाव। उसे निरखकर यह इच्छा जग जाती है कि मेरा भी ऐसा प्रभाव हो, मेरे भी इतना वैभव हो, बस इस इच्छाके कारण इस जीवको निरन्तर क्लेश रहता है। सो भाई इच्छाके बारेमे ठीक निर्णय बनावें। इच्छा क्या चीज है? इच्छा क्या कोई वास्तविक वस्तु है, परमार्थ सत् है या मायाजाल है। वे इच्छा तो मायाजाल

है, कर्मका उदय हो, उसकी अनुभूतिका प्रतिफलन हो और उसमें इस जीवने विकल्प बनाया, इच्छा बन गई, तो यह मायाजाल है। यह कोई परमार्थ वस्तु नहीं, जीवका स्वरूप नहीं, यह तो कृत्रिम चीज है। कर्मविपाकके प्रसंगमें इच्छाका जागरण है। यदि मायाजाल मालूम पड़ जाय तो उससे कोई मोह नहीं रखता। यह तो मायाजाल है, इससे क्या मोह रखना ? बादल कभी-कभी देखते है तो उनमें शक्ल बन जाती है। हाथी की, घोड़ेकी, पालकी की या मन्दिरकी, मकानकी, उन बादलों में शक्ल बन जाती है। तो उन शक्लोंको देखकर कोई रीझता भी है क्या ? बादलका फैलाव है, यह मायाजाल है। आधा मिनटमें शक्ल बिगड जाती। तो जैसे बादलका आकर मायाजाल है, ऐसे ही जो खुदमें इच्छा जगती है वह भी मायाजाल है। उस इच्छाको छोड़ें और सुखी हो लें। तो यह इच्छा मायाजाल है, जो विपरीत परिश्रम है, उल्टा काम है। इच्छासे तो बनता है क्लेश और यह इच्छाको समझता है सुखकी चीज। इच्छा करता है सुख साधन मानकर तो दुःखी होता है।

विडम्बनाओंका मूल इच्छा—एक पुरुष नारियल खरीदने गया, बाजारमें पूछा—नारियल कितनेका दोगे ? ८ आनेका। अरे ४ आनेका नहीं दोगे ? ४ आनेका लेना हो तो नागपुर चले जावो। नागपुर गया। वहाँ पूछा—नारियल कितनेका दोगे ? ४ आनेका। २ आनेका नही दोगे ? अरे दो आनेका लेना हो तो पूना चले जावो। पूना गया, वहाँ पूछा—नारियल कितनेका दोगे ? दो आनेका। १ आनेका नही दोगे ? अरे एक आनेका लेना हो तो मैसूर चले जावो। मैसूर गया, पूछा नारियल कितनेका दोगे ? १ आनेका। दो पैसेका नहीं दोगे ? अरे २ पैसे भी क्यो खर्च करते ? पासके इन पेड़ोंपर चढकर चाहे जितने नारियल तोड़ लावो। वह पहुचा एक नारियलके पेड़के पास। पेड़पर चढ़ गया, नारियल भी तोड़ लिया, मगर उसके दोनो पैर ऐसे फिसल गए कि वह उस पेड़पर लटक गया, उतर ही न पाये। वहाँसे निकला एक हाथी वाला। सो हाथी वालेसे वह बोला—भाई हमे उतार लो, हम तुम्हें ५००) देंगे। उस हाथी वालेने हाथीपर खड़ा होकर उसके पैर पकड़कर उतारना चाहा, पर वह उसे पकड़ न सका, क्योकि वह करीब १ बिलस्त ऊँचा था, सो उचककर उसके पैर पकड लिये, इतनेमे हाथी खिसक गया, वह भी उसीमें लटक गया। अब दो व्यक्ति लटक गए। फिर वहांसे निकला एक ऊँट वाला। वे दोनो ऊँट वालेसे बोले—भाई हम दोनोंको इसपेड़से उतार लो, हम दोनो तुम्हे ये पांच-पांच सौ रुपये देंगे। ऊँट वाला भी उसे पकड़नेको हुआ, पर करीब एक बिलस्त दूर होनेसे उचककर पकड़ लिया, इतनेमें ऊँट खिसक गया। वह भी उसीमे लटक गया। अब तीन पुरुष एक दूसरेके पैर पकड़कर लटके रहे। इतनेमे आया एक घोड़े वाला। उस घोड़े वालेसे वे तीनों बोले—भाई हम तीनोको

उतार दो, हम तीनों ही तुमको पांच-पांच सौ रुपये देंगे। सो उतारने का प्रयास किया। तो घोड़ा भी खिसक गया और वह भी उसीमें लटक गया। अब चारो ही एक दूसरेके पैर पकड़े लटके हुए थे, चारो ही एक दूसरेसे कह रहे थे—भैया! ऊपर वालेके पैर नहीं छोड़ देना, नहीं तो गिरकर मर जायेंगे। हम तुम्हे ५००) देंगे। भला बताओ उनकी कितनी विडम्बना बन गई ? इस विडम्बनाका मूल कारण बनी इच्छा। रात दिन यही बात देख लो। यह इच्छा इस जीवके दुःखका कारण बन रही है। तो भाई इस इच्छाको मेटो, 'देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जीव, रूखा, सूखा खायके ठडा पानी पीव ॥' अरे दूसरोका ठाट बाट देखकर उसकी इच्छा न करो। यह इच्छा तो इस जीवका महा अनर्थ करने वाली है। जो जगतमें फसा सो इच्छाके कारण फसा। जिसके इच्छा नहीं वह पूरा अमीर और जिसके इच्छा बनी है वह पूरा गरीब।

इच्छाविनाशक ज्ञानका स्फुरण—इच्छा त्यागें और ऐसा ज्ञान बनावें कि जिससे अन्दरमें इच्छा ही न जगे। वह उपाय क्या है जिससे कि इच्छा न जगे ? वह उपाय वचनो से तो बता दिया जायगा, मगर बनेगा करनेसे। उसका प्रयोग करें। उपाय तो यह है कि अपने सहज ज्ञानस्वरूपको समझ लें कि वह अविकार है। और जगतके सब पदार्थोंसे अत्यन्त निराला है। इतनी बात ज्ञानमे आये तो इच्छा न बनेगी। ज्ञानमे लगाव कैसे आयगा ? उसका प्रयोग बनायें, वस्तु स्वभावका अध्ययन करें उस तरह अपने भीतरमे ज्ञानकी प्रक्रिया बनायें, अनुभवमे आ जाय कि अहो मैं तो ऐसा अलौकिक ज्ञान और आनन्दका धाम हू। लेकिन इसे न पहिचानकर अब तक जगतमे यत्र तत्र भटकता रहा। तो अपने ज्ञान और आनन्दको निधिको सभालो। ये बाहरके रूप, रस, गध, स्पर्श वाले पदार्थ ये निधि नहीं कहलाते, ये तो अत्यन्त निराले हैं। इनमे लगाव लगाने से तो इस जीवकी बरबादी है। ये निधि नहीं कहलाते। निधि तो है अपनेमे ज्ञान और आनन्दकी। स्वरूप ही ऐसा पडा है, तो बाहरमे मत ललचाओ। बाहरमे कोई वैभवान दीख तो उसे तो दयाका पात्र समझो। यह बड़ा दुःखी है, यह तो दयाका पात्र है। इन बाहरी जड वैभवोमे दिल लगाकर अपनेको बेचैन किया जा रहा है। यह तो दु.खी जोव है, सुखी नहीं है। लौकिक उन्नतिमे बढ़े हुए लोगोको ऐसा देखो। उनको देखकर उन्हे दयापात्र समझो। और अपने आपके स्वरूपमे ज्ञान और आनन्द की निधि निरखें और स्वय अपने आप यहीं बसकर तृप्त हो जावें। मैं तृप्त हू। मेरेमे क्या कमी है ? जो बाहरकी चीजें हैं वे कभी मरती नहीं, जो जिसका स्वरूप है वह कभी छूटता नहीं। तो जिसने अपने निज स्वरूप ज्ञानानन्द स्वरूपकी परख करली वह यहाँ ही बसकर तृप्त रहता है। तो जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमे तृप्त रहेगा वही अविनाशी

सहज आनन्द प्राप्त करता है। तो हे भव्य पुरुष, हे आत्मन् ! इस अंधेरनगरीमें तुम अपने को समाधानरूप बनाये रहो। जगतमें कोई कितनी ही आशा बना रहा हो ? तुम ऐसा बड़ा बननेकी चाह मत करो। वह उनका बड़प्पन नही है। वह बरबादीका स्थान है। बड़प्पन तो साधुसत त्यागी जनोंमें दिखेगा। जिनको जगतके वैभवोकी कुछ चाह नहीं, जो अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखकर तृप्त रहा करते हैं, ऐसे योगी जन ही महान् कहलाते हैं। जगतके वैभवोंमें पड़ा हुआ पुरुष महान् नहीं कहलाता है। तो उन्हे देखकर इच्छा न करें। इच्छा व्यर्थ है, अनर्थ है, उससे हटकर अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध लें, उसही में तृप्त रहें और उसमें तृप्त रहकर जो अपना एक सहज आनन्द है उसका अनुभव करें। देखो आनन्द तो मिलता है सहज और संसारके दुःख मिलते हैं बनावट करके, परिश्रम करके और आनन्द मिलता है बिना दिखावट, बनावट तथा सजावटके। परिश्रम न करें, सत्य आराम पाकर मिलता है अविनाशी सहज आनन्द। तो इन काल्पनिक सुखोकी चाह न करें। काल्पनिक सुखोका जो साधन है, इच्छा है उसे अपवित्र समझकर उससे भी हटें और अपनेमे तृप्त जो ज्ञानानन्द स्वभाव है उस ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि रखकर अपनेमें आनन्द प्राप्त करें, यह ही है ज्ञानामृत, जिसका पान करके जीव अमर होता है सर्व आनन्दसे सम्पन्न हो जाता है। बाहरमें कुछ मत पूछो, सर्व कुछ खोजो अपने आपमे। बाहरकी चीज मत ग्रहण करो, जो अपने आपमे सहज है, सत्य है, अपने हो सत्वके कारण है उस स्वरूपको ग्रहण करें और उस ही स्वरूपमे अपने आपकी आस्था बनावें। मै यह हू, मै अन्य कुछ नहीं हू। यहाँ ही जो ज्ञानमे साधारणतया ज्ञानका और अनाकुलताका अनुभव हो रहा है वही मेरा सत्य व्यापार है। बस यही वृत्ति मेरी रहे, अन्य वृत्ति मुझे न चाहिए।

( ३९ )

धन इज्जत वैभवको आकारण जोडे चले जानेकी क्यों मूर्खता कर रहे हो ? परिग्रह जोड-जोड़कर आखिर करोगे क्या, छोडना तो पड़ेगा ही। अभीसे ही परतत्त्वकी ममता तजकर अनाकुल शान्त हो लो।

लोकवैभवके सगका दुष्परिणाम—लोकमें मनुष्योको जो कुछ भी मिल रहा है धन कीर्ति, वैभव, इज्जत, उन्हींके बारेमें कुछ विचार करें कि इसका प्रयोजन क्या है ? इसके मिलनेसे, रहनेसे, बढ़नेसे मेरेको कौनसा लाभ है ? तो विचार करते जाइये। धन बढ़ गया, खूब जुड़ गया तो उससे क्या लाभ मिलनेका ? हाँ लोग सोचेंगे कि लाभ कैसे नहीं है ? बड़े हैं, बड़े सम्बन्ध होंगे, समाजमें प्रतिष्ठा रहेगी और सुखसे जीवन यापन होगा। यह तो प्रश्न किया जा सकता है, समाधान दिया जा सकता है। तो विचार करो कि बहुत धनी हो जाने

पर यही तो सोचा जाता कि बड़े-बड़े घरोमें रिश्तेदारी होगी । हो गई रिश्तेदारी तो उससे आत्माको क्या मिला ? अजी अपनी बच्ची बड़े घर गई, बच्चा बड़े घर व्याहा गया। तो उससे आपको क्या लाभ मिला ? अच्छा तो पहले तो यह ही अज्ञान कि मेरी बच्ची, मेरा बच्चा, अरे जिसका भाग्य है, अपने-अपने कर्मका उदय है, वैसा उनका भवितव्य है। दूसरी गल्ती यह कि उनपर कुछ मनमें बात रखी कि हमारे करनेसे होगा । तीसरी बात जितना यह जीवन मिला है क्या इतना ही सब कुछ है ? जीवन समाप्त, आगे अकेला गया क्या होता है, क्या नहीं होता ? पूर्वभवके भी समागम छोड़कर यहाँ अकेले ही तो आये हैं। पूर्वभवका क्या है यहाँ ? ऐसे ही कुछ आज यहाँ है, आगे पता नही कहाँ होंगे ? अच्छा और नुक्सान कितना सो सुनो--उसमे विकल्प लगा, उसके सम्बन्धमे अहर्निश चिन्तन चला, तो आत्माकी सुध नहीं कर पाते तो खुद विकल्प विपित्तिमे है । कर्मबन्ध हुए, आगे उदय होगा, जन्म मरण चलता रहेगा। नुक्सान यह सारा हुआ । तब फिर कोई कहे तो क्या करें ? धन आये तो क्या कुवेमे डाल दें ? बहुत-बहुत धनकी निन्दा को जा रही है तो क्या करें बोलो ? अरे कुवेमें डालनेकी बात नहीं कह रहे और ऐसा बोलनेकी बात नहीं कह रहे। सहज पुण्योदयसे जो आया बस उसकी व्यवस्था बना लें। ऐसा मत बनावें कि इतना और हो, ऐंसा हो । उदयानुसार जो उसीमें अपनी व्यवस्था बनावें । यह कर्तव्य है.।

अकारण वैभवसचयकी अनुचितता—भैया ! जो जोड़नेका विकल्प है, सचय करने का जो भीतरमे अनिश पौरुष रहता है वह सब अकारण है, उसका कोई प्रयोजन नहीं। और जो कुछ प्रयोजन समझा जाता वह सब अज्ञानमे प्रयोजन समझा जाता है। पहला अज्ञान तो यही है कि जिस पर्यायमे हम हैं वहहम नहा, यह मैं हू ही नहीं, यह मायारूप है । इसको मानें कि यह मै हू तो पहलो चोट तो यही मिलती है । अज्ञान यही है । तो ज्ञानमार्ग और ससरण मार्ग ये भिन्न-भिन्न हैं । ज्ञानमार्ग और ससारके अपवित्र सगम, ये दो बिल्कुल जुदे-जुदे हैं, ऐसी चतुराई न चलेगी कि यह भी खूब रहे और वह भी खूब आये, एक निर्णय बनाना होगा—मुक्तिपद चाहिए या संसारमे ससरण चाहिए ? तो जैसे धन वैभवकी बातको अकारण जोड़े चले जा रहे ऐसे ही यश प्रतिष्ठाकी बात । जितने भवोंका सम्बन्ध है उतने समयोमें ही अपना मन खुश करना, सर्वस्व समझना यह तो भ्रम है, अज्ञान है । आगे क्या होगा उसको तो कुछ दृष्टि दें । पहले क्या होता आया, इस पर भी ध्यान दो । तो धन वैभव, यश, प्रतिष्ठा जो कुछ भी लोग चाहते, जोड़ते, सचय करते वे सब अकारण । तो हे आत्मार्थी जनो, अकारण ही क्यो इनके पोछे पड़े ? कितनी उन्मत्त दशा कि प्रभुभक्तिमें मन न लगे। मन्दिरमे आते तो एक लोकरीति आदत बनो है तो रोजका रोटीन बना बनाहै, पर

प्रभुमुद्राको देखकर और प्रभुके स्वरूपका स्मरण कर अपनी सुध लेकर कुछ भावभीनी मन मे बातें भी होतीं क्या ? रोज न सही, पर ५—७ दिनोंमे एक दिन प्रभुदर्शनमें भावभीनो बात भी चलती क्या ? और चलती है बाह्य पदार्थोंकी धुन । तो ये सब बाह्य धुन विकार हैं ना, अकारण है, क्या प्रयोजन है, जो इतना उनके पीछे चला जा रहा ? जरासे जीवनमें मानो कुछ मोही जीवोंने भला भलासा कह दिया तो इतने ही के पीछे भावुक बनकर निरन्तर वैभवको धुन रहे, अपनी सुध भूल जाय, प्रभुस्वरूपकी सुध भूल जाय तो यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है ।

लौकिक बडप्पनकी अविश्वास्यता—बडे-बडे शूरवीर राजा महाराजा सबको अपने-अपने पापका उदय आनेपर उनको पीड़ा सहनी पड़ी । श्रीपाल राजाके पुत्र ही तो थे, और अचानक हो गया कुष्ट रोग तो न जाने कितनी ही पीड़ायें सहन करनी पड़ती । तो कोई कितना ही लौकिक बडा हो, क्या विश्वास रखें कि मेरा सब कुछ भला ही रहेगा । लोकदृष्टि में सब कुछ मौजकी ही बात रहेगी, ऐसा कुछ विश्वास नहीं । तो यहाँ जो कुछ बड़प्पन मचाया जा रहा वह कितने दिनके लिए, औप उससे प्रयोजन क्या निकलेगा, इस बातपर कुछ गहरा विचार रखना चाहिए और फिर एक बात और है कि कमाईसे थोड़े हो कोई कमा लेता । वह तो पूर्वमें पुण्य किया, धर्मभाव हुआ, मंद कषाय हुई, तपश्चरण, व्रत, दया आदिक कोई शुभ भाव हुए, पुण्यबध हुआ, उदय मिला, सम्पदा हो गई । अरे जैसे किसी करोड़पतिके हाथ पैर हैं, दिमाग है बुद्धि है वही तो दूसरेके भी है, उदयका फेर है । जो आज मूर्खसा भी समझा जाता और उदय आया, वैभव मिला तो वह माह दो माहमें ही बुद्धिमानसा बन जाता है । तो यहाँ कुछ भी चीज आस्थाके योग्य नहीं । और इस वैभवका जोड़ना बिल्कुल अकारण है, निष्प्रयोजन है, वास्तविक प्रयोजन वहाँ नही, लेकिन जहाँ मोह वालोकी सख्या ज्यादह है तो एक दूसरेको पागल कैसे कहे ? अगर एक कोई किसी दूसरेको पागल कहता तो उसका अर्थ उसे पागलका नम्बर पहले मिलेगा । तो जब मोही जगत है तो यह सब एक दूसरेका अनुकरण करते है और एक यह बहुत बडी समस्या है कि थोड़ा बहुत ज्ञान भी जग जाय, आत्महितकी भावना भी बन जाय तो भी इस तृष्णाके घेरेसे निकलना यो भी कठिन रहता कि उसी लक्ष्मीके उपासक तो सब बन गए । लक्ष्मीके सचयकी धुन रखने वालोको क्या बोलते हैं ? लक्ष्मीपुत्र । जैसे पुत्र माँ को सेवा करता है वैसा ही लक्ष्मीपुत्र लक्ष्मीकी सेवा ही करता है । उसका दान भोग करनेमे समर्थ नही हो पाता । आखिर लक्ष्मी माँ ही तो बन गई और यह पुत्र बन रहा । तो थोड़ा यह ध्यान देना चाहिए कि हम जिन बातोमें अधिक चित्त लगाये फिरते हैं उससे लाभ क्या है ? क्यों अकारण इस बातके पीछे हम जुटे

चले जा रहे हैं ?।

सारहीन संगमकी उपेक्षा कर आत्महितमे लगनेका अनुरोध——भैया ! अपने हितकी बात खुदको करनी है, खुदमे करनी है, गुप्त होकर करनी है। यहाँ तक भी समझ लें कि न होते आज हम मनुष्य, ससारकी किसी अन्य गतिमें होते तो मेरे लिए यह सब क्या कुछ था ? और लोग क्या मुझे जानते ? तब फिर ऐसा ही समझो कि हम तो सबसे अपरिचित है। तो मुझे तो अपनेमे अपना ही काम बनाना चाहिए। तो यह बाहरी वैभव यश इनके अकारण जोड़ते चले जानेका नाम क्या रखा जाय ? मूढता। ऐसी मूढ़ता क्यो कर रहे हो ? एक हवेलीमें नौकर था, नीचे रहता था तो उसकी यह कहनेकी आदत थी कि "देंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायगा लेने, देंगे खुद आके।" एक बारक्या हुआ कि ऐसी ही कुछ चर्चा मालूम पड़ी नौकरको कि चोर लोग उस घरमे पीछे दीवारमे से छेद करके चोरी करना चाहते हैं तो वह अन्दरसे ही बोला—अरे यहाँ क्यो आये नासके मिटे भींत खोदने, वहाँ उस बड़के पेड़के नीचे जाकर क्यो नहीं खोदते जहाँ धन गड़ा है ? तो चोरोने यह आवाज सुनली और वहाँसे चलकर उस बड़के पेड़के नीचे पहुचे। एक जगह पर गड्ढा खोदना शुरू किया। रातका समय था, काफी गहराई तक खोदने पर उन्हे एक जगह एक हंडा गड़ा हुआ मिला। उस हंडेमे अशर्फियाँ भरी हुई थीं, उसका कुछ ढक्कन खोला तो ततइयाँ निकलना शुरू हुआ। ततैयोने उन्हे काटना शुरू किया तो उन चोरोने समझा——अरे उस घरमे बोलने वाला वह आदमी तो बड़ा बदमाश निकला, इसमे तो सब ततैये भरे हैं, फिर उसे झट एक तवेसे ढांक दिया और मारे गुस्सेके उसी पुरुषके घरमे ले जाकर पटक दिया, इसलिए कि ये सब ततैया उड़कर उसके घर वालोको काट लेंगी। वहाँ क्या था ? सारी अशर्फियाँ ही निकल पड़ीं। उस नौकरने सारा धन यो ही बिना प्रयास किए पा लिया। तो भाई वह बोला——देंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायगा लेने देंगे खुद आके।" जब उदय अनुकूल होता है तो पता नहीं कब किस बहाने धन प्राप्त हो जाता है ? इन बाहरी बातोंकी तो कर्मोदयपर छोड़ना चाहिए। लगना चाहिए मोक्षमार्गमे। प्रभुभक्तिमे लगाव, वस्तुस्वरूपके अध्ययनमें लगाव, कल्याणके चिन्तनमे लगाव, यहाँ बुद्धि लगाना चाहिए।

विनाशीक वैभवकी धुन त्यागकर अविनाशी आत्मभाव स्वभावमय अपनी प्रतीति रखनेका संदेश——तो हाँ समझायें अपने आपको कि धन वैभव आदिके चक्रमे पड़कर क्यो इसे अकारण जोड़नेकी मूर्खता कर रहे हो ? आखिर ये सब नष्ट तो होंगे ही। कितना क्लेश है जीवोको ? बचपनसे सोचते जा रहे—यों करूंगा, यो चलूंगा और जुड भी गया सब कुछ और किन्हींका गुम भी गया सब कुछ, सब तरहकी स्थितियाँ मिलीं। अब कोई

भी स्थिति मिली हो बुढ़ापे तक, उसके मनमें विकल्प रहता, चिन्ता रहता, प्रोग्राम रहता, सब कुछ रहता ! कोई सोच भी लेता अजी पाँच वर्ष इसमे और लगेंगे, बादमें झझट छोड़ देंगे और केवल धर्मसाधना करेंगे और जब वे ५ वर्ष पार हो गए तो सोचते कि ५ वर्ष तो नहीं, मगर दस वर्ष बाद देखेंगे, ऐसा होते-होते फिर फिर नहीं आते। तो एक यह चक्र पड़ा हुआ है जिसमें गर्क होता है और यह धुन, यह ज्ञान नहीं करते कि किसलिए इतना कर रहे ? आखिर यह तो मिटेगा ही, आखिर वियोग होगा ही। जो मिलेगा नहीं, जिसको नियमसे छोड़ना ही पड़ेगा उस परिग्रहकी तृष्णा करके हो क्या रहा है कि यह भव भी ऐसा ही जा रहा है और अगले भविष्यके भव भी ऐसे हो व्याकुलतामें जायेंगे इससे कर्तव्य यह है कि इन बाह्य समागमोको बिना प्रयोजन अकारण ही जोड़नेकी धुनमे मत लगें। नही तो होता क्या है ? उदय साथ नही दे रहा और थोड़ी-थोड़ी सी बातपर तृष्णा कर रहा, यहाँ तो थोड़ी सी चतुराई बनाकर कुछ पा रहे और कहो दूसरी जगह कुछसे कुछ लुट भी रहा। सब चलता है चलने दो उदयानुसार। तो उदयके पीछे मत भगो। अपने आपको मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? ससारके संकटोसे सदाके लिए छुटकारा कैसे बने ? उस उपायमें अपना उपयोग लगाना चाहिए।

( ४० )

आत्मन् ! प्राप्त यह देह घृणित, भयानक, विनश्वर व संतापकारी है, देहदृष्टि रच भी हितकर नही, प्रत्युत सकल क्लेशोका स्रोत है, देहराग तज विदेह ज्ञानस्वरूपकी रुचिमे हो कल्याण होगा।

देहानुरागकी मूढता—देखिये अनेकानेक नाम करके भी जो कुछ भी श्रम करके जीव विपदा बनाता है, जैसे धन चाहिए, वैभव चाहिए, और-और भी बातें चाहिएँ, उन सब विपदाओका मूल है देहात्मबुद्धि। देहको समझना कि यह मै हू। बस इस बुद्धिपर ये सारी विडम्बनायें आलम्बित है। कुछ तो सम्पर्क है। फोड़ा हो जाय, कुछ हो जाय तो यहाँके आज कलके ज्ञानी भी आखिर वेदनामें आते हैं, कुछ बात तो है सम्पर्कको, मगर वह भी सब अज्ञान और निर्बलताके कारण है। कुछ भी कैसी ही घटना हो, कर्तव्य यह हो है कि देहसे निराले विभिन्न अपने स्वरूपको परखें। मै देहसे निराला यह आत्मा हूं। देहमें और मुझमें बड़ा अन्तर है। देह तो अपवित्र है, घिनावना है और देह जिस भावसे पाया जाता वह भाव भी अपवित्र। लोग तो कोई जरासीट-ट्टी पड़ी हो, कूड़ा पड़ा हो तो नाक भौं सिकोड़ते हैं देखकर और यह नही जानते कि ऐसी जो गदी चीजें पड़ी है सो वे गंदी चीजें बनी कैसे है ? कहाँसे निकली है ? अरे उस गदगीका स्रोत तो यह देह है, जिस देहसे प्रीति करते।

तो उस गंदीसे भी गंदा रहा यह देह। अरे जहाँ गदगीका निर्माण हो उसे गदी न कहेगे क्या ? तो यह देह तो अपवित्र है और घृणित है, भयानक है। कभी कुछ जवानीमे सुन्दरता सो जचती है, पर सुन्दरता क्या ? जो छोटे-छोटे चमकीले सफेद दाँत सामने दिख रहे वे क्या हैं ? अरे वे एक हड्डी हैं। वे मासके बीचमें से जरासा बाहर निकल पड़े, मोती जैसे चमकने लगे तो ये हड्डी ही तो हैं। एक तो चमड़ेके भीतरकी हड्डी और एक चमड़ेसे बाहरकी हड्डी और हड्डी ही नहीं बल्कि हड्डी का मैल। अब समझ लो क्या हैं वे दाँत जो दिखनेमे बड़े अच्छे लग रहे ? अच्छा और देखो–यह चमड़ी, यह रूप भी क्या चीज है ? अरे मांसकी एक पपड़ी ही तो है। जैसे सूखा माँस हो तो उसमे पपड़ीसी पड़ जाती है ना, तो यही तो पपड़ी है, चाम है, अब तो रूप रहेगा उसका। जिसको आप लोग बड़ा सुन्दर, पवित्र, सुहावना मानते वह क्या चीज है ? हड्डी और मासकी पपड़ी। इतने पर भी विनाशीक। एक तो भयानक दूसरा अपवित्र और तीसरा विनाशीक। कोई कहे कि चलो जितना देरको देह मिला खुदका और दूसरेका कुछ अधिकारसा मिला, तो इतनी देर तो सुखसे रह ले। सो भाई देखो विनाशीक चीज है वह, नष्ट हो जाने वाला है। तो कोई कहे कि नष्ट हो जाने दो। जितनी देर है उतनी देर तो मौज रहेगी। तो उतनी देरका मौज भी सताप करने वाला है। अपने देहमें आत्मबुद्धि हो, दूसरेके देहसे कुछ आकर्षण लगाव हो तो सतापको ही करते हैं, शान्ति नहीं पैदा करते।

घृणित भयानक विनश्वर सतापकारक देहसे विरक्त होकर अशरीर अविकार आत्मस्वभावके अभिमुख होनेमे कल्याण—**सब लोग अपनी अपनी गई गुजरी मूर्खताओ की रोकड़ फिरसे देख लेवें ? क्या-क्या मूर्खतायें करते रहे, वे सब फिर भी सोच सकते अपनी-अपनी। तो ऐसा यह देह जिसको यह जीव ढोये-ढोये फिरता वह देह घृणित है, भयानक है, विनश्वर है, सताप करने वाला है, इससे स्नेह करना व्यर्थ है। ऐसे देहसे लगाव करनेमे हित नहीं हैं। बल्कि लगाव रहेगा तो क्लेश ही मिलेगा। एक राजाका पुत्र था। वह जा रहा था तो किसी सेठकी बहूपर उसकी दृष्टि पड़ गई, उसे देखकर वह राजपुत्र बड़ा अधीर हो गया। जब किसी दासीने उससे उदासीका कारण पूछा तो राजपुत्रने अपना उदासी का कारण उससे बता दिया। तो दासी ने कहा कि तुम्हारा यह काम मै करवाऊँगी। आखिर गई सेठकी बहूके पास और सारा हाल कह सुनाया। तो वह बहू बोली ठीक है, राजपुत्रसे कह देना कि अबसे १५ वें दिन वह यहाँ हमारे घर आ जाय। ठीक है। अब वह बहू तो थी चतुर। उसने क्या किया कि कोई ऐसी चीज खा लिया कि जिससे उसके दस्त आने शुरू हो गए। उसने एक बड़ासा मटका रखा था, जिसमें प्रतिदिन वह दस्तकर**

दिया करती थी । इस तरहसे १५ दिन बराबर यही काम किया । १५ दिन तक दस्त करने के कारण वह बहू बड़ी दुबली पतली और कान्तिहीन हो गई और दस्तसे वह मटका भी भर गया । उस मटके को बहूने किसी ढक्कनसे बन्द कर दिया और उसको बड़े ही सुन्दर रगोंसे खूब सजा दिया । जब १५ वें दिन वह राजपुत्र उस बहूके घर आया तो क्या देखता है कि उस बहूमें तो सौन्दर्यका नाम न था बल्कि उसे देखकर कुछ घृणासी पैदा हो रही थी । उस बहूको देखकर राजपुत्र बड़े आश्चर्य में पड़ गया और बडा उदास हो गया । उसे उदास देखकर बहू बोली—हे राजपुत्र ! आप उदास हो रहे ? तो राजपुत्र बोला—देखो मुझे वह सुन्दरता अब नहीं दिख रही जो मैने १५ दिन पहले देखी थी । तो फिर वह बहू बाली—हे राजपुत्र ! आप इतना अधीर न हो, आप जिस सुन्दरतासे प्यार करते हैं वह सुन्दरता तो हमने एक जगह छिपाकर रख दी है । अगर आप देखना चाहे तो मै दिखा हूं ? हां हाँ दिखाइये । वह बहू राजपुत्रका उस मटकेके पास ले गई और बोली--देखो हमारी सारी सुन्दरता इस मटकेके अन्दर भरी है । राजपुत्रने उसे खोलकर देखा तो दुर्गन्धके मारे वह घबड़ाकर वापिस चला गया । तो भाई यह देह रम्य नहीं है, यह महा घृणित है, हितकारी नहीं है, बल्कि क्लेशका कारण है । सो भाई इस देहका राग त्याग दो और इस देहरहित जो अपना ज्ञानस्वरूप है, सहजभाव है उसमें प्रीति करो तो कल्याण होगा । इस देहसे प्रीति छोड़ो । इस देहरहित जो आत्माका ज्ञानज्योतिस्वरूप है उसमे 'यह मै हू' ऐसी अपने आपको आस्था बनावें, यह ही कल्याणका मार्ग है ।

( ४१ )

स्वार्थी तो बनो, किन्तु सत्य स्वार्थकी पहिचान अवश्य कर लो । सत्य स्वार्थ अपने सहज ज्ञानस्वभावमे ज्ञानको रमाकर सहजानन्द पाना है । क्षणिक, भिन्न व तृष्णाके हेतुभूत विषयप्रसंग स्वार्थ नहीं, अनर्थ है ।

लौकिक स्वार्थोंकी दु खबीजता—मनुष्य परस्परमें एक दूसरेको कहते है कि यह तो स्वार्थी है, खुदगर्ज है, लेकिन स्वार्थी न हो तो कोई क्या परार्थी हो सकता है ? जब ससार के प्रत्येक पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, एकसे दूसरेमे अत्यन्ताभाव है तो क्या कोई किसी दूसरेको चाह सकता है अथवा कोई किसी दूसरेका काम कर सकता है क्या ? यह बात तो सम्भव नहीं । व्यवहार जो चल रहा है कि हमने तुम्हारा उपकार किया, इसने उसका कुछ काम किया, तो यह सब निमित्तनैमित्तिक भावके आधारपर व्यवहार है वस्तुतः कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका न करने वाला है, न चाहने वाला है और न भ गने वाला है, बल्कि और अर्न्तदृष्टि करें तो कोई किसी दूसरेका जानने वाला भी नहीं है, क्योंकि जानन

परिणमन खुदका खुदके प्रदेशोमे ही हो सकता है। ज्ञानक्रियाका प्रयोग बाह्यमें नहीं हुआ करता। निश्चयसे देखा जाय तो कोई किसी पदार्थका कुछ करने वाला नहीं है। तो जो लोग लोगोको स्वार्थी कहते हैं वे कुछ अपराध तो नहीं करते। ठीक ही तो कहते हैं, पर थोड़ा विचार करना होगा स्वार्थी सब हैं। स्वार्थी ही सबको रहना चाहिए। स्वार्थी होनेमे ही भला है, पर स्वार्थी किसका नाम है इस पर कुछ दृष्टि देनी जरूरी है। स्वार्थी तो बनो किंतु वास्तविक स्वार्थ क्या है? इसकी पहिचान जरूर रखो। अच्छा इसकी पहिचानसे पहले थोडा लौकिक झझट स्वार्थकी भी परख करो। लोग स्वार्थ समझते है इस बातमे कि जो ५ इन्द्रियके विषय और मनका विषय हैं, कषायें हैं, इनकी पूर्ति बने, इसमे समझते हैं लोग अपना स्वार्थ, अर्थात् कषायोके भोगनेको लोग स्वार्थ समझते हैं, पर विचार तो करो कि इन इन्द्रियविषयोका भोगोपभोग, मनके विषयका भोगोपभोग। स्वार्थ कैसा? स्वार्थ नाम है स्वका प्रयोजन। जिसमे स्वका कल्याण होता हो वह कहलाता है स्वार्थ। तो भोगोंमे स्वार्थ कैसा है—इस बात पर विचार करो पहली बात तो यह है कि ये विषय सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। इनका जुदा अस्तित्व हैं, इनका परिणमन इनके ही अनुसार है, अत्यन्त भिन्न है। अत्यन्त भिन्न पदार्थ मेरा स्वार्थ कैसे कहला सकते? और फिर क्षणिक भी हैं सब। कुछ देरको हुए है, कुछ देर बाद नष्ट हो जाते हैं। तो जो क्षणिक है, नहीं रहते, कुछ काल ही होकर नष्ट हो जाते हैं उनपर दृष्टि जमायें, उनका अनुभव करें, उनमे विकल्प बनायें, उनको भोगें तो वह अपना प्रयोजन कैसे हो सकता है? कोई कहे कि रहने दो भिन्न और रहने दो क्षणिक, मगर जितने काल भोगोका प्रसग है उतने काल तो जीव सुखी हो लेता है, सो यह भी बात ठीक नहीं है। जितने काल भोगका प्रसग है उतने काल यह जीव दुःखी रहता है, क्योंकि वह भोग तृष्णाका कारणभूत है। तृष्णाका सग लगा हुआ है। जहाँ-जहाँ तृष्णाभाव लगा है वहाँ-वहाँ क्लेश है तो इन भिन्न क्षणिक विषयोका भोगोपभोग सुख शान्ति के लिए नहीं, किन्तु केवल कष्टके लिए है। ऐसा विषयोका सगम स्वार्थ कैसे हो सकता है? वह तो दुःखका ही बीजभूत है।

इन्द्रियविषयोकी प्रीतिसे बरबादी होनेके कुछ उदाहरण—पुराणोमे अनेक चरित्र आये। तृष्णाके वश होकर कैसा बड़े-बड़े पुरुषोने भी अपनी बरबादी की और लौकिक घटना मे भी देखा जाता है। स्पर्शनइन्द्रियके विषयकी तृष्णाके कारण हाथी पकडा जाता है। जिसका कितना महान् बल होता कि अगर सिंह और हाथीके बलकी तुलना की जाय तो हाथीका बल अधिक होता है, पर सिंह होता है फुर्तीला इसलिए दोनोकी लडाईमे विजय सिहकी

होती है, मगर हाथी यदि सिंहको पकड़ ले तो उसके टूक-टूक कर दे। हाथ का बल बहुत बडा बताया गया है, मगर वह भी स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर अपनेको गड्ढमे गिरा देता है और पराधीन बन जाता है, वह कसे ? सो बताया गया है कि जगलमे कोई बड़ा गड्ढा खोदते हैं शिकारी लोग, उसपर बाँसकी पतली-पतली तचे बिछाकर उसपर पतली-पतली मिट्टी डाल देते हैं, उसपर एक झूठी हथिनी बनाते है और कोई ५० हाथ दूरपर एक दूसरा नकली हाथी उस हथिनीकी ओर दौड़ता हुआ सा बना देते है। अब जगलका हाथी इन दोनो कृत्रिम हाथी तथा हथिनी को देखकर हथिनीको अपने विषयोका साधन जानकर दौड़ता है और आकर उस गड्ढमे गिर जाता है। कई दिनो तक वह भूखा प्यासा उसी गड्ढेमे पडा रहता हैं। जब वह बहुत शिथिल हो जाता है तो शिकारी लाग उस हाथीको अपने वशमे करनेके लिए गलो निकालना प्रारम्भ कर देते हैं, फिर धीरे-धीरे उसको अकुशके वश करके उसको गड्ढेसे बाहर निकाल लेते हैं। तो देखो एक स्पर्शनइन्द्रिय के वश होकर हाथोने अपने प्राण गंवाये या अपनी बरबादी की। रसनाइन्द्रियके विषयका उदाहरण प्रसिद्ध हैं। मछली एक केचुवा जैसा कुछ मांसके टुकडेके लोभमे आकर अपने प्राण गवा देती है। मछली पकड़ने वाले लोग एक लम्बे डडेमें एक काँटेकी तरहका कीला सूतमे फसाकर तथा उसे काँटेमे मांस पिण्ड फसाकर पानीमे डाल देते हे तो माँसके लोभमे आकर मछली उसे खा जाती है। वह काँटा मछलीके कंठमे फस जाता है और मछली अपने प्राण गवा देती है तो रसनाइन्द्रियके वशीभूत होकर मछलीने अपने प्राण गवाये। अब घ्राणेन्द्रियकी बात देखिये--जिस भवरेमें इतनी शक्ति है कि काठको छेदकर आरपार हो जाय वह भवरा गधके लोभमे आकर कमलके फूलके अन्दर सूर्यास्तके समय बद हो जाता है हाथी आता हे और उसे खा जाता है। गधके लोभमे आकर वह भँवरा कमलके उन कोमल पत्तोको भी छेदकर बाहर नही निकल पाता। तो देखिये एक इस घ्राणेन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमरने अपने प्राण गवाये। अब चक्षुइन्द्रिय के विषयकी बात देखिये--चक्षुइन्द्रियके लोभमें आकर पतिगे दीपकमें गिरकर जल जाते है, इसी प्रकार कर्णइन्द्रियके विषयोमे आसक्त होकर सांप तथा हिरण ये अपने आपको गायकके द्वारा गिरफ्तार करा लेते हैं। जब कोई बीन बजे, सितार बजे तो सांप और हिरन उसके निकट आ जाते हैं और शिकारी फिर उन्हे पकड़ लेता है। तो एक कर्णइन्द्रियके वश होकर ये सर्प तथा हिरण अपने प्राण गवा देते हैं और मनका विषय तो बहुत ही भयकर है। इस से तो बडे-बड़े राजाओने भी प्राण गवाया। तो ये विषय एवं तृष्णाके हेतुभूत हैं ये [illegible] नहीं हैं, और इनके भोगनेको स्वार्थ नहीं कहते। यह अपने कल्याणकी बात नहीं हैं।

वास्तविक स्वार्थ, आन्तरिक स्वास्थ्य, स्वज्ञानमग्नता के [illegible] का कर्त [illegible]--मैंय।

स्वार्थी तो बनें मगर वास्तविक स्वार्थकी बात पहिचान लें। क्या है स्वार्थ, किसमें है मेरा भला ? किससे मेरे आनन्दका प्रयोजन सिद्ध होता है तो स्वार्थ क्या है ? वास्तविक स्वार्थ है स्वास्थ्य। अपने आपके स्वरूपमे स्थिर हो जाना यह ही है वास्तविक स्वार्थ, क्योंकि स्वरूप-मग्नता होनेमे ही जीवको निराकुलता है। स्वरूपसे हटकर बाहरी पदार्थोंमे उपयोग लगायें तो वहाँ इस जीवकी व्यग्रता ही है। जीवका स्वार्थ तो अपने आत्माके स्वरूपमे समा जाना है, विषयोका संगम स्वार्थ नहीं है, किन्तु यह तो अनर्थ है, याने उल्टा बरबाद करनेका ही कारणभूत है। जगतमे जो जीव अब तक रुलते चले आये वे इन विषयोकी प्रीतिसे ही तो रुलते चले आये हैं। तो इन विषयोके सगमका ध्यान छोड़ें और अपने आपके सच्चे स्वरूपका सहज भावका परिचय करके 'यह ही मैं हू' ऐसा दृढ़ निर्णय करके रह जायें। देखो ससार महा विपदा है। इस महाविपदासे छुटकारा पानेके लिए अपनी भीतर सहज सत्यका दृढ आग्रह करना होगा। कोई कुछ कह रहा है उल्टा सीधा, यहाँ दृढ आग्रह बनाना है कि मैं तो सहज ज्ञानानन्द स्वभाव हू, इस स्वरूपमे किसी दूसरी चीज का प्रवेश ही नहीं है। जगतमे कितने ही पदार्थ मौजूद हैं, कभी दिख भी जाते हैं। कभी ध्यानमे आँखें बन्द करके अपने ध्यानमे रहते है। उनकी ओर उपेक्षा है, पर ज्ञानी जानता है कि जगतके जितने पदार्थ हैं उनका कुछ भी देखने लायक नहीं है, मेरे हितके साधन नहीं हैं। मेरे हितका साधन है तो मेरे अपने आपके स्वरूपमे स्थिर हो जाना है। तो समस्त विषयोके सग प्रसगसे दूर होकर अपने आपमे अपने स्वरूपमे मग्न होनेका पौरुष करना कर्तव्य है।

( ४२ )

निज अन्त· प्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्वके दर्शन बिना क्लेश ही पाया, अब ज्ञानघन परमब्रह्मके प्रसादसे सुबुद्धि पाई तो इसका सदुपयोग कर लो। यदि यह अवसर खो दिया तो न जाने पेड, कीडे क्या-क्या हो होकर दुर्दशा भोगोगे।

सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन बिना अनतकालका व्यर्थ यापन---जरा अपना पिछला इतिहास देखो— आज हम मनुष्य हैं, कबसे मनुष्य है ? सो लोग जानते है कि हम इतने वर्षसे हैं, अच्छा और उतने वर्षसे पहले हम क्या थे ? कुछ भी न थे, यह बात तो हो नहीं सकती, क्योंकि कुछ भी न हो और आज कुछ बन जाय, ऐसा कभी नहीं होता। जो पदार्थ पहले से सत् है उसी पदार्थमे परिणमन आता है। जो सत् नहीं उसमे परिणमन कैसे हो ? तो आज हम मनुष्य हैं तो इससे पहले हम कुछ जरूर थे। क्या थे ? तो युक्तिसे विचार लो जब अज्ञान लगा है, रागद्वेष लगा है, बाह्य पदार्थोंमे अपना ध्यान लगा है तो ये जगतके जीव जो दिख रहे है इन्हीं मे से ही तो मै कुछ होऊगा पहले। सूकर, गधा, कुत्ता, बिल्ली, कीडा

मकौड़ा, पेड़ पौधे, पानी और निगोद, ये ही तो मै था पहले। कितना काल व्यतीत हो गया खोटे-खोटे परिणमनोमें ? अच्छा कबसे काल है ? क्या किसी दिनसे समय प्रारभ होता कि अमुक क्षणसे दिनका प्रारम्भ हुआ। उससे पहले कुछ न था ? समय अनादि है। युक्ति से सोच लो। समयको किसीने बनाया नहीं। जो कोई ऐसा प्रोग्राम रचा गया हो कि अब तक तो समय कुछ होता ही नहीं, आजसे समय होते रहनेका प्रोग्राम है, ऐसा कोई प्रोग्राम बनाता है क्या ? समयकी आदि नही। अच्छा, हमारी आदि है क्या कि किसी दिनसे हमारा अस्तित्त्व बना। था नही तो बना कैसे ? जो असत् है उसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है ? तो हम भी अनादिसे है, समय भी अनादिसे है, और हमारी खोटी दशाये भी अनादिसे हैं। खोटी दशाओको भोग-भोगकर कितना काल व्यतीत हुआ ? अनन्त काल व्यतीत हुआ। इतना काल कैसे व्यतीत हो गया, क्यों व्यतीत हो गया ? अपने आपमें बसे हुए सहजपरमात्मतत्त्वके दर्शन बिना अनन्तकाल हमने भोगोमें खोया।

सहज परमात्मतत्त्वकी अन्त प्रकाशमानता तथा उसके आश्रयका कर्तव्य––जिस परमात्मदर्शनके बिना अनन्त काल हमने बिता डाला वह सहजपरमात्मतत्त्व भी अनादिकाल से अन्तःप्रकाशमान है। देखो कितनी उलझन है ? जैसे कोई घरमे या मित्रमंडलीमें रहता तो है अच्छी तरह। सबका भाव उसके प्रति उत्तम है, पर इसे पता ही न हो, भ्रम हो जाय, जानकारी हो न हो, तो जैसे यह दुखी होता है तो व्यर्थकी कल्पनाओसे दुःखी होता है, ऐसे ही अपने आपमे अन्तःप्रकाशमान है वह परमात्मस्वरूप, परन्तु भोगोकी आशासे, तृष्णासे इस सहज परमात्मतत्त्वको न निरख सके, उसकी वजह यह है कि अब तक हमारा अनन्तकाल खोटे भवोमे व्यतीत हुआ। तो देखो अपने आपमे अन्तरमे प्रकाशमान इस सहज ज्ञानस्वरूप का जब दर्शन न कर सकें तो इस वृत्तिमे अनन्तकाल व्यतीत हो गया। अच्छा पुराना इतिहास तो ऐसा है, अब वर्तमानमे क्या किया जाय सो बताओ ? तो सुनो––वर्तमानमें क्या करना चाहिए ? पहले यह ही सोचो कि कुछ कर सकने लायक हमारी बुद्धि है या नहीं। हाँ हाँ बुद्धि तो है। जब हम बुद्धि द्वारा लोकके बड़े-बडे टेढ़े कामोको सभाल लेते है तो हम इस बुद्धि द्वारा अपने आपके सहजस्वरूपको न सभाल सकेंगे क्या ? बुद्धि तो है, सहबुद्धि तो मिल गई और वह मिली है किसके प्रसादसे ? इसी शुद्ध ज्ञानदर्शनमय परम ब्रह्मके प्रसादसे। कारण पाकर जैसे-जैसे आत्माके कलक दूर होते गए, ज्ञानविकास होता गया। आज हमने इतनी बुद्धि पायी कि हम हित अहितका विवेक कर सकते हैं, तो यही तो है अपने स्वरूपका परमपद। हम इस लायक आज बने कि हम सही परिचय बना लें ऐसी सद्बुद्धि पायी है तो भाई इतना सदुपयोग कर लेना ठीक है, उसके लिए

करना। जैसे जल्दी भावना बने वैसे इसका सदुपयोग करना चाहिए। सदुपयोग क्या हैं कि अपनी बुद्धिका उस प्रकार प्रयोग करते रहे। ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वका दर्शन करते रहें। उसका लक्ष्य बनाये रहे। तो यह कहलायगा अपनी सद्‌बुद्धिका सदुपयोग।

गये गुजरे समयका चिन्तन करके कुछ शिक्षा लेने का अनुरोध—देखो जिसमे ममता है, घरके लोग है, मित्रमण्डलीके लोग हैं उनके लिये तो हर एक कोई तन, मन, धन, वचन सब कुछ हाजिर करते है और अपने आपको ऐसा ही उनके लिये सर्वस्व समझता है। लेकिन यह तो सब धोखा है। देव, शास्त्र, गुरु जिनसे हमारा ममताका नाता नहीं, केवल आत्माके कल्याणके लिये ही जिनका दर्शन है उनके प्रति, धर्मके प्रति तन, धन, वचन ये कुर्बान हों, समर्पित हो तो समझिये कि हममे अपने आपके स्वरूपमे भक्ति करने की पात्रता आयी। मौज आयी यह भी एक तफरी। मन्दिर आये, पूजा किया, दर्शन किया, कुछ स्वाध्याय किया और जैसे ही निकले तो वही टेंढी सीर, वही परिणाम, वही अन्याय करना, और और बातें सोचना, तो ऐसी एक घटनासे कल्याण न बनेगा। कल्याण होगा तो अपने सत्यस्वरूपके बारबार अभ्याससे। हां तो सदुपयोग कीजिये अपनी बुद्धिका, अपनेको अहर्निश ऐसा अनुभवमे लें कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ। जो बात सच है उसकी भावना बनायें। बात जो मिथ्या है उससे अपनेको अलग हटायें। यदि हम सदुपयोग कर सके अपनी पायीं हुई बुद्धि का तब तो जीवन सफल है, नहीं तो यह भव हमने व्यर्थ ही खो दिया समझिये। जैसे आज जिसकी जितनी उम्र है कोई ५० सालका, कोई ६० सालका तो वह सोचता है ना—अरे ये जीवनके इतने वर्ष कैसे निकल गए? कुछ पता ही न पड़ा। उस बीते हुये समयके बारेमे तो यह ही जंच रहा ना कि आननफानन कैसे गुजर गया सारा समय? तो जैसे अब तकका जो समय गुजर गया, ऐसे ही चद दिनोका यह भव भी तो गुजर ही जायेगा और जल्दी ही गुजरेगा। तो यो यह अपना भव इन भोग साधनोमे ही गुजर गया, तो फिर पता नहीं पड़ता कि उद्धार कैसे होगा? आज मनुष्य हैं तो सब तरहकी हम व्यवस्था बना रहे हैं। दूसरेके मनकी समझ रहे हैं, अपने मनकी बात दूसरोको बता रहे हैं। सारे कार्य चलते हैं और जब यह आत्मनिर्णय न रहेगा तो रहेगा क्या? पर्यायमे आत्मबुद्धि कि यह मै हू। जो पर्याय पायी उसीको मानेंगे कि यह मै हू। तो जैसी पर्याय पायेंगे और उस रूप अपनेको मानेंगे वैसा ही कर्मबन्ध है, विकल्प है और इस कर्मके उदयकालमे दुर्गति होना निश्चित है।

दृश्य लोकको देखकर आत्महित करनेकी शिक्षापर चलनेका औचित्य—यह आजका जो दुर्लभ अवसर पाया इसे व्यर्थ न खोयें। इससे कोई ऊँचा काम अपना बना लीजिये। अन्यथा मर गये और हो गये फिर वही कीड़े मकोड़े तो फिर न जाने क्या दशा होगी? इस

से इन कीडा मकौड़ोंको निरखकर जो आपको दिख जाते है उनसे हो एक ऐसे ढंगका चिन्तन बना लीजिए अपना कि हमारा कल्याण कैसे होगा? ये कोड़ा मकौड़ा अब क्या कर सकते हैं? तो इन कीडा मकौड़ोकी दुर्गति देखकर अपने आपमे कुछ तो ऐसा चिन्तन लाइये कि मेरा भव न बिगड जाय। देखो सबसे बडा धन ज्ञान हम आपने पाया। यदि ज्ञानतत्त्वके निरखनेकी भीतरमें तैयारी बनेगी तो वर्तमानमें भी शान्तिसे रह लेगे और आगेका भव भी न बिगड़ेगा। यदि ऐसा मौका पाया, ऐसी भावना पायी तो मुक्तिके निकट पहुच जायेंगे और यदि यह आत्मभावना न मिल सकी तो ससारमें रुलना ही रुलना बना रहेगा। तो देखो आज इस भवमें जो कुछ धन वैभव आदिक बाह्य समागम पाया उसे सर्वस्व न समझें। अरे यह सारा समागम स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नमें में जो कुछ दिखता है वह उस समय तो सच लगता है, पर जगने पर मालूम पडता है कि अरे वह तो कुछ नही था। ऐसे ही इस मोहकी नींदका आजका पाया हुआ समागम अपनेको सब कुछ दिख रहा है, लेकिन जब यह मोह–नींद नष्ट हो जाय, पदार्थका वास्तविक स्वरूप दृष्टिमे आ जाय तो उसे मालूम पड़ता है कि अहो अबसे पहले इसने मोहकी नींदमें न जाने क्या-क्या मान रखा था और उस मान्यता से अपनेको दुःखी बना रहे थे। तो भाई कुछ अपने आपके बारेमें विचार करे, हमारा अनन्त काल तो खोटा गया और आज हमने कुछ हित समझनेकी बुद्धि पायी तो उसका सदुपयोग करें। ज्ञानधन जो परमपिता परमेश्वर निज ब्रह्म है, उसकी दृष्टि बनायें और इससे अपना शेष जीवन सफल करें। यदि इस भवमें न चेत सके तो फिर आगे चेतना बड़ा मुश्किल है। कदाचित् चेतनेका मौका मिले तो ऐसी आशा रखकर वर्तमान भवको बिगाड़ दिया तो ठीक नहीं। जो आगेकी आशा रखकर वर्तमान भवको बिगाड़ दें तो वहाँ आगे के लिए हितका अवसर पानेकी सम्भावना नही है।

( ४३ )

खुद ज्ञानधन और खुदका ही ज्ञान न रहा, इससे गजब और क्या हो सकता है? ज्ञानस्वरूप होकर भी खुदका ज्ञान न करना अपने आपपर गजब सितम ढहाना है। अज्ञान महा अपराध है। आत्मज्ञान करो, अन्य सबकी उपेक्षा कर दो।

ज्ञानमय होनेपर भी स्वय स्वयके ज्ञानस्वरूपको न जाननेकी गजब बातपर आश्चर्य– जब कोई सुनाता है कि पानीमे रहने वाली मछली भी प्यासी रहा करती है अथवा किसी गुरुने, किसी भव्यको भेजा, कहा कि जावो नदीके तटपर मगर रहता है, वह ज्ञानी है, वह तुम्हें आत्माका ज्ञान देगा। गया वह और कहा—मगरराज मुझको मेरा ज्ञान दो। तो राजने मानो कहा कि भाई हमको इस समय बहुत तेज प्यास लगी है, तुम्हारे हाथमें

कुवेसे पानी भर लावो, हम अपनी प्यास बुझा लें तब आपको उपदेश देंगे । तो वह पुरुष वहाँ सोचता है कि यह मगरराज कितना मूर्ख है, अरे पानीमें तो बस रहा और अपनेको प्यासा बता रहा । तो ऐसे ही यह बात कितने गजबकी चल रही है कि हू तो मै ज्ञानधन, ज्ञान ज्ञान ही मेरा स्वरूप है और फिर उस ज्ञानको ही नहीं जान पाता तो यह तो बडे गजब की बात, अचम्भेकी बात समझना चाहिए । क्या वजह है ? खुद हैं ज्ञानस्वरूप और खुदको ज्ञानमय नहीं समझ पाता । जब यह है ज्ञानस्वरूप और ज्ञान ही का नाम आत्मा है और फिर यह ज्ञान इस ज्ञानस्वरूपको ही न समझ पाये कि यह है स्वय ज्ञानस्वरूप तो इससे और बडे गजबकी बात, अचम्भेकी बात और क्या हो सकती है ? अपने आपके स्वरूप को जानने की कोशिश करें । भीतर देखो कि मैं क्या हू, किस तरहसे क्या हो सकता हूं ? दृष्टि पसारो, पसारो नही, किन्तु संकोचो, अपनेको देखो । यह मै किस स्वरूप हू, मेरा सर्वस्व क्या है ? किससे रचा हुआ हूँ, क्या तत्त्व हूँ । शरीरको भुलावो और एक आत्माको निरखो कि मैं क्या हूं ? मैं हूं यह थोड़े थोड़े ज्ञान वाला, ऐसा कोई समझे तो उसने अभी स्वरूप जाना ही नहीं । मैं हू कोई सहजज्ञानस्वरूप अखण्ड ज्ञान ज्ञान ही से व्याप्त, ऐसा मैं ज्ञानमय आत्मतत्त्व ज्ञान, ज्ञान ही जिसके अन्दर है उसके अनुरूप बाहरी वृत्ति हो, बस यही है सर्वस्व । निरपेक्ष वृत्ति न हो तो भी अन्यके गुणका काम नहीं । सर्व परिस्थितियोमें ज्ञान ज्ञान ही का काम चल रहा । किसीको दुःख मिला तो क्या मिला ? दुःख । ज्ञानको ही उस प्रकार बना लिया कि जिसमें दुःखका अनुभव हुआ । किसीने सुख माना तो क्या मिला कहींसे ? सुख । ज्ञानको ही उस प्रकारका बना डाला जिसमे सुखसाताका अनुभव होता है । तो जब ज्ञान ही स्वरूप है, ज्ञानमात्र ही मैं हू, ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञानमय ही हमारी वृत्ति है, ज्ञानमय ही रहता है, ज्ञान ही साथ चलता है, सर्व कुछ मेरा ज्ञानस्वरूपमय है और अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो यह बड़े गजबकी बात । इससे गजब और क्या हो सकता है ?

अन्त प्रभुसे प्रतिकूल हो जानेका अन्याय—ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानके न होनेकी गजब बातके बाद फिर और देखिये—ज्ञानस्वरूप न मै, अन्तःसहजस्वरूप हूं मै और निजमे बैठे हुए प्रकाशमान शक्तिरूप अपने भगवानको न देखूं और उसे न देखकर बाहरमे ही अपना उपयोग ढुलायें तो यह कितना बड़ा भारी हो गया अन्याय अपने प्रभुपर ? अपने घरके किसी बड़ेकी उपेक्षा करना और पास-पड़ौसके छोटे तुच्छ, गुंडे, दुर्जनोमे लग जाना, यह अपने घरके पालक रक्षक बड़ेपर अन्याय है कि नही और उसका फल कितना खोटा मिलेगा कि उसे दुर्दशाओमें जाना पड़ेगा । यह तो है एक लौकिक बात । यहाँ तो चाहे किसी [illegible] गुजारा भी हो सकता है, मगर अपने अन्तःप्रकाशमान अनादि अनन्त शाश्वत इस चैतन्य महाप्रभुकी

दृष्टि न होना और इसे छोड़कर बाहरकी तुच्छ बातको बड़ा महत्त्व देना, उससे अपना बड़प्पन मानना यह अपने आपके प्रभुपर एक बड़ा गजब सितम ढाना है, इसका फल कौन भोगेगा ? किसी बड़ेसे विपरीत चलेगा, जो अपने आपमें सर्वस्व है, जिसकी कृपा बिना शान्ति नही मिल सकती, ऐसे सहज परमात्मतत्त्वकी ओर अभिमुख न हो और छलमय माया स्वरूप बाहरके चेतन अचेतन वैभवकी ओर अभिमुख हो जायें तो यह अपने आपपर बहुत बडा भारी अन्याय है । मगर जहाँ अन्याय करने वाले सभी हो वहाँ अन्यायकी बात कहेगा कौन ? ससारके सभी जीवोमे यह ही बात तो बसी पड़ी हुई है । सब बाहरकी ओर बाहरका महत्त्व देते । अपने आपमें जो निधान है, ज्ञानस्वरूप है उसकी महिमा नही भाती, यह है अपने आपपर अन्याय ।

प्रभुसे प्रतिकूल हो जानेके अन्यायका कारण अज्ञान—प्रभुसे प्रतिकूल होनेका अन्याय क्यों कर बैठा यह जीव ? अज्ञान था इसे । इसको अपने प्रभुकी महिमाका पता ही न था । जहाँ सहजस्वभावतः स्वच्छ ज्ञानकी उछालें चलती हो, ऐसे स्वभावका जिसको पता नहीं है वह तो बाहरके कृत्रिम बनावटी इन भ्रान्त कल्पित सुखोंकी ओर मुड़ता है, तो ऐसे अज्ञान का अपराध जब तक है तब तक ससारमे रुलता है । देखो हम आप सब यही बड़े सुखसे शान्तिसे समतासे यहाँ बैठ सकते हैं और आराम पा सकते हैं, किन्तु जहाँ अपनेको न देखकर बाहरकी चीजोको अपना लेना, महत्व आँकना, यह वृत्ति जहाँ लग गई हो वहाँ शान्तिकी आशा नही होती । देखो अपने को मै ज्ञानस्वरूप हू । सब कर डाला काम इस जीवने, मगर एक यही काम नही किया गया । क्यो जी हजार काम कर डाला हो और सभी कामोमें टोटा पडा हो और उससे कहीं अच्छा काम दीखे तो बडे उमगसे कह उठते है कि हाँ हाँ अब एक काम और करके देख लिया जायगा । क्या हर्ज है ? जहाँ हजार कामोमे विजय न मिली तो चलो इस ज्ञानका एक काम और करके देख लें । इस अलौकिक कामको करनेके लिए न बाहर कही जाना, न किसीकी प्रतीक्षा रखना । किसी भी प्रकारका कहीं कोई कष्ट नही है । एक अपनेको देखें कि मै ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानज्ञानमय ही हूं, ऐसा अपना एक बोध बनाया फिर अन्याय नही, फिर तो न्याय ही न्याय बर्तेगा । तो जहाँ यह न्याय नही, जहाँ यह ज्ञान नहीं, जहाँ यह आराधना नही वहाँ तो इस अज्ञानपरिणामका फल अतीव भयानक है । सो भाई अपने आपपर दया करो, व्यर्थ कष्ट मत भोगो, विकल्प जाल बढ़ाकर अपनेको अशान्त मत बनाओ । एक इस अंतस्तत्त्वका बोध करके इस ही एक आत्माराममें आत्मज्ञानमे अपनेको रमावो और संकटोसे सदाके लिए मुक्त होनेका उपाय बनाओ ।

( ४४ )

**प्रियतम चैतन्य महाप्रभो ! तुमसे बिछुडकर मै बहुत बरबाद हुआ, आनन्द घन चैतन्यप्रभु तो मुझमे ही था, मेरी ही भूलसे गुप्त रहा, प्रियतम चैतन्य महाप्रभो ! दर्शन दिये, अब कभी ओझल न होना।**

ज्ञानस्वरूपकी महिमाकी समझसे विकल्पविपदाका विलय——जब अपने ज्ञानस्वरूपकी महिमा समझमें आती है तो ऐसे ही यह ज्ञानी कह उठता है कि अहो एक इस ज्ञानप्रकाशके पाये बिना अब तक अनन्त सारा समय विकल्प-विकल्पमे हो गया और कहो झुझलाकर भी बोले —तुम यहीं तो थे जो मुझे दिख गए। जो मेरी आराधनामे आया वह तो कहीं बाहर तो था ही नहीं। था तो यहाँ ही, क्यो नहीं अब तक दीखा ? एक ऐसे सहजस्वभावकी रुचिमे ये शब्द निकल सकते हैं। क्यो इतना काल व्यर्थमे व्यतीत हो गया ? खैर जब चेते तभी भला। तो यह ज्ञानी पुरुष अपने इस अन्तःप्रभुसे कहता है कि हे चैतन्यमहाप्रभो, हे सहज चैतन्य-स्वरूप ! तुझसे मै अब तक बिछुडा रहा था। मैं के मायने उपयोग और तुझके मायने सहज-शुद्ध परमात्मतत्त्व। हे परमात्मतत्त्व, तुमसे अभी तक उपयोग बिछुडा रहा और इसी बिछोहके कारण बरबाद हुआ। बरबादके मायने यह हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ—इन कषायोमे उपयोगको लगाना और अपने आपको अधीर बनाना, सो हे चैतन्यमहाप्रभो ! तेरी कृपा बिना, तेरी दृष्टि बिना अब तक मै इस ससारमे परिभ्रमण करता हुआ बरबाद ही होता चला आया। यह आनन्दघन सहजचैतन्यस्वरूप जब दृष्टिमे आया, जब आया तब ही से संकट समाप्त। एक निजकी बात सीखनेके लिए ही ये सब प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्सग ध्यान और ये विषयपरिहार, ये व्रतनियम सयम ये सब इतनी सी एक कला पानेके लिए किए जाते हैं। मै समझ जाऊँ——यह मै ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्व सबसे निराला स्वय सहज ज्योतिर्मय निराकुल हू, ऐसा ज्ञान बना तो रहे, वहाँ फिर सकट नही, कोई मुझे नहीं जानता। यह ही तो मेरे लिए बड़ा अच्छा है और जो कोई मुझे जानता है सो जो जानता है न वह सच और जिस ढगमें मुझे जानता न वह सच। झूठ-झूठकी लड़ाईमे क्या दखल देना ? मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हू। यहाँ कष्टका कोई काम नहीं। देखो सबसे उत्कृष्ट जो अपने कल्याणकी बात है वह कितनी स्वाधीन है और कितनी सुगम है ? पर इसके लिए निजका साहस बनाना होगा।

प्रबल भेदविज्ञान बिना ससरणप्रसगसे निवृत्तिकी अशक्यता——यह ससार तो एक मानो वह फड़ है जहाँ जुवा खेला जाता हो। वहाँ कोई फस जाय, कोई दो-चार आनेका दांव लगा बैठे तो वहाँ फिर ऐसी धारा हो जाती है कि हारे तो खेलना, जीते तो खेलना। और

खेलते-खेलते बहुत कुछ हार गए और थोड़ेसे पैसे रह गए जेबमें और सोचा कि अब हमें घर चलना चाहिए, तो उस फड़पर बैठे हुए जो लोग है, उनकी वाणी, उनके वचन, उनका व्यवहार ऐसा होता है कि वे वहांसे भागनेमे समर्थ नही हो पाते। हार गए तो कहेंगे कि बस इतना ही दम था, हार गए अब चल दिये, और जीत गये तो कहेंगे कि अरे ये तो बड़े खुदगर्ज निकले, जीत गए और चल दिए। इस तरहसे वह उस फड़से उठ नही पाता। तो जैसे वह खिलाड़ी उस जुवेके फड़से निकल नही पाता, इसी तरहको एक बहुत बड़ी असुविधा है ज्ञानबल पाये बिना। कुछ थोड़ा चाहता है कि मै इन विषयसाधानोंसे हट जाऊँ, लेकिन यह सब एक ऐसा वातावरण है कि बहुत-बहुत चाहनेपर भी नही हट पाता, और फिर थोड़ा बहुत ज्ञान भी न हो तब तो वह इसमे आसक्तिसे लगता ही है। तो इस ससारके इस जुवे वाले, हार-जीत वाले अड्डेसे हटने के लिए बहुत बड़े भेदविज्ञानकी आवश्यकता है। जहाँ यह बात समा गई हो कि मै तो सबसे निराला हूं, मुझे यहाँ जानने मानने वाला भी कौन ? जो जानता है वह झूठ, जिसको जानता है वह झूठ। यह तो सब ऐसा ही आत्माका प्रसग है, मायाका प्रसग है, मुझे ऐसे ज्ञानविकल्पमे लगना नही और जो मै परमार्थ ज्ञायक हू ऐसे मुझ का जानने वाला स्वय ही स्वरूपमग्न हो जाता है। जब तक आन्तरिक बल प्रकट हो तब यहाँके दृश्य ससार समागमसे छुट्टी पाया जा सकती है।

अन्तःप्रभुके सतत् दृष्टिपथगामी बने रहनेकी भावना—यह अन्तः प्रभु जिसका कि अन्तर्दर्शन हुआ। था तो पहलेसे मुझमे अनादिसे ही। अब समझा तो प्रथम तो झुंझलाहट हुई कि हे प्रभो ! तुम जब नजरमे आये, थे अनादिसे ही मेरेमें सतत और फिर आवश्यकतासे अधिक जब झुंझलाहट होती तब फिर पछतावा भी आता। ओह, प्रभु भगवान तुम्हारा इसमे क्या ? मै ही भूलसे अपने आपमें अपने प्रभुको न पा सका। अतः विराजे हुए प्रभुका अपराध है क्या है ? वह तो तब भी वैसा ही, अब भी ऐसा ही। जिसने दृष्टि दी उसने इस पर्यायमें विकास किया। जिसको इस निज परमात्मतत्त्वकी सुध नहीं वह ससारमें रुलता रहा। तो हे चैतन्य महाप्रभो, हे निज सहज परमपारिणामिक भाव, हे निज समरसपूर्ण सहजस्वभाव! तुमने अब दर्शन तो दिये। अब मेरे ज्ञानमे तुम कुछ आये तो हो, सो जाना, समझा कि यह सारी दुनिया बेकार है, और इस निजमे बसे हुए सहजपरमात्मतत्त्वका उपयोग ही सार है, सो अब आपके दर्शन तो हुए प्रभु। अब ऐसा न हो कि तुम हमसे ओझल हो जावो। इससे महान् वैभव दुनियामे और क्या हो सकता है कि अपने अविकार आनन्दघन सहज ज्ञानस्वभाव सुधमें रहे और सतत खबर रहे, धुन रहे, इससे बढ़कर और वैभव क्या हो सकता है ? यदि कोई अज्ञानी मोही धनपति होकर चला, प्रतिष्ठा वाला होकर अपने आपमे अपना गौरव अनुभव

करे, अपने ही अज्ञान विकल्पसे तो क्या परवाह ज्ञानीको ? कोई अपने घरमे बादशाहसा बना फिरे तो रहे, पर शान्ति नहीं मिल सकती। शान्तिका उपाय तो मात्र यह ही अतः प्रकाशमान चैतन्यमहाप्रभुके दर्शन हैं। सो अपने चित्तमे यही भावना बसायें कि मेरेको मेरा यह सहज ज्ञानस्वरूप चैतन्यप्रभु दृष्टिमें आये और सतत इसकी सुध रहे, इसके अतिरिक्त और कुछ न चाहिए। क्यो न चाहिए ? मिले तो भी छूटेगा। सो वियोगके समय कष्ट आये ऐसा उपाय क्यों बनावें ? कुछ न चाहिए। केवल एक चैतन्यमहाप्रभु ही मेरी दृष्टिमे विराजे।

( ४५ )

परमार्थको निरखनेमे अधिक समय गुजरो, जहाँ देखो वहाँ परमार्थ, जीवमें निरखो परमात्मस्वरूप, पुद्गलमें निरखो केवल परमाणु, परमार्थके निरखनेपर अपरमार्थके व्यामोहका सकट मिट जावेगा।

प्रत्येक सत्की द्रव्यपर्यायात्मकता—प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है अर्थात् वह बनता है, बिगड़ता है और सदा बना रहा रहना है जो सदा बना रहता है वह भाव तो कहलाता है परमार्थ ! और जो बनता है, बिगडता है, याने जिसका उत्पाद व्यय है वह कहलाता है अपरमार्थ या पर्याय। तो जीवोको दोनो ही बातें परिचयमे आ सकती हैं—पदार्थका ध्रुव स्वरूप और पदार्थका परिणमन। पदार्थके परिणमनको जानने वाले तो प्रायः सभी जीव हैं और उनमे अनन्त जीव हैं ऐसे कि जो परिणमनको ही सर्वस्व समझते हैं और अपने परिणमनको भी सर्वस्व समझते हैं। कोई विलक्षण ध्रुव परमार्थस्वरूप भी है उस भावकी ओर दृष्टि नहीं की। ऐसे जीवको कहते हैं अज्ञानी और कुछ बिरले ऐसे भी जीव हैं इस लोकमे कि जो परिणमनको भी जानते हैं कि यह परिणमन है, पर्याय है, परवस्तुके परमार्थस्वरूपको भी जानते हैं वे कहलाते हैं सम्यग्दृष्टि जीव। अब यहाँ यह बात निरखें। परिणमनको ही जानते रहनेमे क्या प्रभाव पड़ता है अपने परमार्थस्वरूपको जानते रहनेमें क्या प्रभाव पड़ता है ? जब जीवके परिणमनपर ही दृष्टि है और यही परिणमन यही विशेष है, सर्वस्व है, जहाँ ऐसी दृष्टि होती है वहाँ चूंकि परिणमन विनाशीक है तो विकार भी स्थिर कैसे रह सकता ? जो अस्थिर परिणमनको जानता हो, फिर अस्थिर विषयको जानने वाले ज्ञानमे अनाकुलता शान्ति स्थिरता कैसे बन सकती है ? तो जो परिणमनको जानने वाला ज्ञान है उसका प्रभाव तो दूषित होता है। और आत्माके प्रभुस्वरूपको जानने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान स्थिर हो सकता है। स्थिर विषयको जाना है वहाँ लोभ न होगा, निराकुलता हो सकती है। तो यह है एक निज ध्रुवस्वरूपको जाननेका प्रभाव। यद्यपि पर्याय बिना परमाथ नहीं, परमार्थ बिना पर्याय नहीं। कौनसा है ऐसा पदार्थ जिसमे परिणमन तो होवे नहीं और

वस्तु कहलाये? ऐसा तो कुछ है ही नहीं और कोई जबरदस्ती मतव्य बनाये ऐसा कि पर्याय तो कुछ नहीं होता, परिणमन है ही नहीं और बताया जाए कि है कुछ तो वह केवल ब्रह्म-वाद जैसा सिद्धान्त बन जायेगा। जहां परिणमन नहीं है वहाँ सत्त्व ही क्या है ? तो परि-णमन हुये बिना पदार्थ नहीं होता और परमार्थ हुये बिना भी पदार्थ नहीं होता। सिर्फ परि-णमन परिणमन हो सब कुछ है और परिमणन है वह सब भिन्न-२ समयो में भिन्न-२। और प्रत्येक परिणमन है सर्वस्व चोज, परिणमन के सिवाय और कुछ सदा रहने वाला परमार्थभूत कुछ है ही नही। ऐसा मानने वालो! अब यह बतलावो कि वह परिणमन कहां हुआ और किस आधारमें हुआ ? कैसे संतान बने, तो होना चाहिये ना वस्तुका ध्रुव-स्वरूप। तो जो ध्रुव वस्तु है उस ही मे तो परिणमन होगा। परमार्थ बिना परिणमन नही, परिणमन बिना परमार्थ नही।

पदार्थमे परमार्थ व परिणमन दोनोकी अनिवारितता होनेपर भी उनकी दृष्टिका भिन्न-भिन्न प्रभाव—वस्तुमे परमार्थ । परिणमन दोनो ही अनिवारित हैं, तिस पर भी यह जीव परिणमनपर दृष्टि देता है और उस परिणमनको ही सर्वस्व समझता है, उसके अति-रिक्त अन्यका कुछ बोध ही नहीं है, परमार्थ उसकी समझमे ही नहीं है तो ऐसा पुरुष कह-लाता है अज्ञानी और उस अज्ञानके कारण परिणमनको ही उपयोगका विषय बना बनाकर दुःखी होता है और यह सारा जीवन यो कहो कि व्यर्थ उसका गुजर गया है तथा अपने ध्रुव ज्ञानस्वरूमे 'यह मै हूँ', इस प्रकारका प्रत्यय जिसके बना है, विश्वास है, ऐसा पुरुष स्थिर, शान्त, निराकुल रहता है। तो जब परमार्थके निरखनेमे आनन्दका अभ्युदय होता है तब यही तो चाहिये कि परमार्थके निरखनेमे अपना अधिक समय गुजरे। देखनेमे तो सब आ सकता याने जाननेमें परमार्थ भी जाना जाता है, परिणमन भी जाना जाता है, किन्तु परि-णमनको भी समझ चुकने वाला ज्ञानी पुरुष परिणमनको गौण कर जब मुख्यतया परमार्थको निरखता है तो उनके आनन्दका अभ्युदय होता है। परमार्थ और परिणमनका अर्थ क्या है कि कोई चीज है ना मै हूँ, आप हैं, कुछ है। तो जो भी चीज है वह सदा रहती है। तो जो बात सदा रहे और जिस बातमें फर्क न आये जो पहले से सबमे सदाकाल जो एकरूप रहे ऐसा जो स्वभाव है उसका नाम तो है परमार्थ और समय-समयपर जो परिणमन होते रहते हैं वह परिणमन कहलाता है पर्याय। पर्याय सदा नही रहती। जो पर्याय अभी हुई है अगले समयमे वह नहीं रहती, दूसरी हो जाती है। तो यो परमार्थ और पर्याय–इन दोनोमे पर्यायको जानकर, पर्यायको गौण कर परमार्थको मुख्यतया देखे वहा अलौकिक आनन्दका अभ्युदय होता। तो ज्ञानी जीवका आशय यह बनता है कि परमार्थको निरखनेमे ही अधिक

समय गुजारा करें। ऐसी दृष्टि बन जाय कि जहाँ देखो वहाँ ही परमार्थ। जीवको देखो तो उसकी बाहरी बातें न देखकर उसके अन्त.प्रकाशमान जो सहजज्ञानस्वभाव है वह निरखने मे आये, वही दीखे और जो आँखोसे दिखने वाले परमार्थ हैं पुद्गल उनमे भी अणुवो का समूह रूप, स्कध, इनमे ज्ञान न फसाकर जो परमाणुका वास्तविक निरपेक्ष आनन्दका स्वरूप है उस स्वरूपपर दृष्टि आये तो यह निरखना हो गया पुद्गलमे परमार्थका। तो द्रव्यकी जब चर्चा हो, जानकारी करने चले तो हमे वहाँ छाया, माया परिणमन न देखकर एक शाश्वत अनादि अनन्त ध्रुव स्वभाव ही निरखनेमे आवे। अपनी ज्यादह जानकारी बनती है तो जीव और पुद्गलके बारेमें, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्योमे जब हम कुछ जान कर उसमे जानकारी बनाते हैं और बहुत विशेष सोचते हैं तो उनका परिचय कर लेते है आगमके आधारपर और युक्तिके आधारपर। अधिकतया तो जीव और पुद्गलके सम्बन्धमे ही परिज्ञान चलता रहता है। तो जीवके विषयमे हमको कुछ दीखे वही सहज परमात्मस्वरूप और इसी तरह पुद्गलके बारेमे, स्कधोंके विषयमे हमे दीखे तो वही एक सहज सत् परमाणु। तो इस तरह जब परमार्थको देखने की हमारी वृत्ति बन जायगी, अभ्यास बनेगा, परमार्थ ही प्रायः दृष्टिमे रहेगा तो अपरमार्थके व्यामोहका सकट दूर हो जायगा।

संकटका मूल अपरमार्थका व्यामोह—जीवोको सकट किस बातका है? किसी भी लौकिक संकटका नाम लेकर बताओ, तो आखिर यही बोलेंगे कि इसने यह अपरमार्थका व्यामोह बनाया है, इस कारण सकट छाया है। जीव तो भगवानकी तरह विशुद्ध ज्ञानानदस्वरूप है। जीवमे सकटका क्या काम है? किन्तु जब जब जीवपर सकट आया तो वह अपरमार्थके व्यामोहसे लगावसे ही सकट आया, और प्रकारसे सकट नहीं होता जीवपर। सकटोके नाम लेकर भी देख लो। कोई कहे कि हमको इसमे १० हजार रुपयेका टोटा पड गया, तो भला बताओ वे १० हजार रुपये क्या कोई परमार्थ वस्तु हैं? जीवका उससे कोई नाता है क्या? जीव तो ज्ञान दर्शनस्वरूप अमूर्त एक चैतन्य पदार्थ है। उसका किसी बाह्यसे क्या नाता? तो सम्बन्ध कुछ नहीं, नाता कुछ नहीं, और फिर भी कुबुद्धि ऐसी छायी है कि वैभवमे इसका उपयोग फस जाता है और उससे मानता है कि इस वैभवका सयोग मिले तो वह है हमारा बड़प्पन, महिमा और विघट जाय, कुछ चीज मिट जाय, उसके पास न रहे तो उससे है उसकी बरबादी, विनाश। ऐसा एक झूठा आशय बना रखा अज्ञानी जीवोने। तो इस अज्ञान के कारण उनकी पर्यायमे व्यामोह आ जाता है। किसीने सोचा कि हमारा कोई बच्चा-बच्चा गुजर गया, बड़ा सकट आया। अरे सकट किस बातका? अपरमार्थ जो बच्चा-बच्ची है, विनाशीक है, कल्पनामात्र कि जगतमे अनन्त जीव हैं, उन अनन्त जीवोमे से किसी एक-दो जीवो

को ही अपना बच्चा-बच्चो कह देना, यह है एक अपने आपपर अत्याचार। जब सर्वजोव एक समान हैं। प्रभु, ससारी हम, छोटे बड़े सभीका स्वरूप जब पूर्णतया एक समान हैं और सबके प्रदेश निराले, भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी किसीको मेरा समझना, किसीको पराया समझना यह तो अपने आत्मदेवपर अन्याय अत्याचारको बात समझिये—ता व्यामोह हुआ ना, उसका है सकट। संकट जितना है वह मोहका है। मोह नहीं तो संकट नहीं, मोह है तो सकट है। अब जिसका मोह बना है उसका सकट मिटानेके लिए बड़ेसे बड़े बुधजन, विद्वान्, पडित कोई भी उसे समझाये या उपाय बताये तो क्या वह सकट दूर हो सकता? मोहसे उत्पन्न होने वाला सकट तो मोहके दूर होनेसे ही मिट सकेगा। मोहका सकट मोहके दूर करनेसे ही मिट सकेगा।

अपरमार्थ व्यामोहके सकटके मिटनेका उपाय परमार्थका आलम्बन—मोहका सकट मोह करनेसे नहीं मिटता। परमार्थ स्वरूपके निरखनेपर यह व्यामोहका सकट दूर हो सकता है। संकटोसे मुक्ति चाहिए तो यहां बहुत ज्यादह समय देना पड़ेगा, अभ्यास बनाना होगा। देखो धनकी कमाई तो आपके आधीन है नहीं। पुण्यका उदय है तो थोडे समयमें भी आप अपना पूरा काम पा लें और पुण्यका उदय नहीं है तो कितने ही सम्बन्ध जुटायें, कितने ही विकल्प करें, आपको लाभ न होगा। तो जो बात आपके आधीन नहीं है, आपके आत्मपरिणामके आधीन नहीं है उसमे तो लगाया जाता है सारा समय। कहते ही है धर्मके लिए, स्वाध्यायके लिए, विचार उपयोगमे समय देनेके लिए समय ही नहीं है हमारे पास। तो जो बात अपने आधीन नहीं उसमे तो तन, मन, धन, वचन, प्राण न्यौछावर कर दिया और जो बात अपने आधीन है, कौनसी बात है अपने आधीन ? अपने ज्ञान द्वारा अपने आपमें जो स्वरूप बसा है उसकी दृष्टि करना, मानना कि मैं यह हूं, यह बात आपके आधीन है, सो लग रही है बहुत बडी कठिन। जैसे कोई रक्षक या पिता अपने पुत्रको, शिष्यको बहुत-बहुत समझाये, पर वह न माने, प्रतिकूल ले तो फिर यही तो कह बैठते है कि जा, जैसा तेरा होना हो हो, उसकी उपेक्षा ही तो कर डालते है। तो ऐसे ही इस जोवको आचार्य सतोने बहुत-समझाया, बात मान लें, स्वरूपको पहिचान लें, बाहरी पदार्थोंमे कुछ करनेकी कुटेव मत करो। बहुत-बहुत समझाया जाने पर भी यदि यह ज्ञानमार्गमें नहीं आता तब तो यह ही फैसला है कि जो तुझे भाये सो कर, चाहे एकेन्द्रियमे जा, चाहे दोइन्द्रियमें जा, चाहे भाड़में जा। भाड़ मायने आग। चाहे आग बनो, चाहे हवा, चाहे पेड-पौधा। तुझे जो बनना हो सो बन। और आचार्य सतोंके समझानेसे अगर कुछ मान सकता है तो मान ले। आचार्य सतोका सदुपदेश है यह कितू इन बाह्य भिन्न असार पदार्थोंमें मोह मत कर। ये तेरे कुछ

नहीं हैं। तेरा तो ज्ञान है। तो अपरमार्थ, पर्याय परिणमन इनके व्यामोहको छोडकर यदि परमार्थका आश्रय लेगा तो तेरे सारे सकट दूर हो जायेंगे। तो चाहिए यह कि हम वस्तुस्वरूपको जाननेके लिए और अपनेमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए अधिक समय दें। सत्सगमे, स्वाध्यायमें, ज्ञानार्जनमें, तो यह तो हमारा भला होनेका मार्ग और परमार्थसे उपेक्षा रखकर व्यावहारिक बातोमे, परिणमनोमे ही अपना समय दें तो यह है मेरे अकल्याणका मार्ग। अकल्याणके मार्गसे हटें और कल्याणके मार्गमे आयें।

( ४६ )

दुनियामे क्या हो रहा—यह देखनेके लिये तू ज्ञानामृतधामसे बाहर मत निकल, बाहर तो मायाजालका महाजाली ही सर्वत्र छाया हुआ है। बाहर मत देख, देख, बुरा है तो बुरा, भला है तो भला, देख स्वको ही।

ज्ञानानन्दधाममे आकर वहिर्जगतकी ओर न ढूकनेका सदेश—आचार्य सतोकी वाणी सुन-सुनकर पहले कुछ अपने आपको प्रतिबोध ले और ध्यान ज्ञानसे अपने आपके स्वरूपको अपनेमे ही निरखनेका दृढ़ अभ्यास बना ले, ऐसा पुरुष भी कर्मविपाकवश अपने लक्ष्यसे अनेक बार उचकता रहता है। तो जिसने आनन्दधाम निज महलमे प्रवेश कर अपने आपके आनन्द का स्वाद लिया वह पुरुष मानो अपने आपसे कह रहा है कि रे उपयोग! बस तू यहीं रह, यहीं बैठ, इस अपने धामसे बाहर कहीं भी मत निकल। क्यो निकलता है बाहर? जब तू ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका हो यह सब उपयोग है, उपयोग ज्ञानस्वरूपमे आ गया, अब इससे बाहर ढूकनेकी क्या चिन्ता करना? शायद यह कहो कि अपने स्वरूपमे उपयोगको लगाये रहनेमें बहुत बल लगाना पड़ता है, सो उसकी मनाई तो नहीं, यह भी करो, पर कुछ मनमे यह भी तो आता है कि मै बाहरमें देखूं तो सही कि हो क्या रहा है? यह देखनेके लिए तू अपने ज्ञानानन्दधामसे बाहर मत निकल। जैसे बरसातके दिनोमे तेज वर्षा भी हो रही है, ओले भी पड़ रहे हैं, काली घटा छा गई है, बिजली भी चमक रही है और कहीं कहीं गाज बिजली भी गिर जाती है, ऐसे एक वातावरणमें कोई पुरुष कुछ थोडा निकले और शीघ्र ही कोई ऐसा धाम, कमरा मिले कि जहाँ जाकर वह बैठ गया, तो वह अपनेको कितना सातामे अनुभव करता। ऐसी भयानक स्थितिमे वह तो यही चाहेगा कि तू बाहरमे ढूक भी मत, बाहर जानेकी बात तो छोडो। ऐसी कठिन वर्षामे तू बाहर कहीं ढूक मत। तो ऐसे ही समझो कि बाहरमें यह सारा मायाजाल छाया है, जिसे देखते हैं तो देखकर चैन थोड़े ही आती, क्योकि राग लगा है। दुःख तो होगा ही। तो बाहरके पदार्थोंको देखकर, इस माया-जालको परखकर तो यह जीव बड़े सकटमे आ जाता है। कल्पना, रागद्वेष, नाना सकट, और

उस कालमे इसे मिल जाय अपने ज्ञानानन्दस्वरूप निजका दर्शन तो देखो उसके सकटोंमें कितना अन्तर आ जाता है ? जब उपयोग बाहर-बाहर ही विषय करता था, बाहरकी चीजो में ही अपना उपयोग जोड़ता था उस समय तो यह महान् सकटमें था और अब वहाँसे हटकर ज्ञानानन्दस्वरूप निजधाममे प्रवेश किया तो वहाँ आता है विचित्र आनन्द। तो बाहर मायाजाल है, तू अपने ज्ञानधाममे एक बार आ गया है तो अब थोड़ासा ही पौरुषकर, और बाकी रहा जो हो जायगा और ससार सकटोसे मुक्त हो जायगा। तो अब अपने ज्ञानधाममे आकर बाहर क्या हो रहा, ऐसा निरखनेका तू ख्याल मत रख।

बाहर देखनेका विकल्प तजकर अन्तरमे ज्ञानानन्दमय अन्तस्तत्त्वका आ[illegible]म्बन करने का सदेश—जैसे मानो दो चार हवाई जहाज ऊपर उड रहे हों, प्रयोजन अप[illegible] कुछ नहीं और कोई मुखिया यह कह दे कि ऊपर मत देखो, अपने काममे लगे रहो, पढ़ो लिखो, काम करो, ऊपर मत देखो तो ऊपर देखनेका नियंत्रण कर दिया। देखता तो नहीं, मगर चित्तमें जरूर रहता कि कैसा हवाई जहाज, कहाँ उड रहा, कितना है, ऐसी बात चित्तमे उठती है और देख भी आता है, तो ऐसा ही कुछ सही ठीक ज्ञान हो जानेपर भी बाहर कुछ निरखने को चित्त चाहता है। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्रतिबोध रहा कि दुनियामे बाहरमें जो कुछ हो रहा उसको देखनेके लिए तू अपने ज्ञानानन्दधामसे बाहर मत निकल। बाहरमे तू क्या देखेगा ? मायाजालका महान् जाल ही सर्वत्र छाया हुआ है। यहाँ कोई सारभूत तथ्य नहीं है, इसलिए बाहरमे निकलनेकी बुद्धि न कर, बाहर कुछ मत देख। देख तो अपने आपको देख। अपना दर्शन होगा ज्ञान द्वारा। और यह भी अपना निश्चय बना कि मुझे तो अपने आपको ही देखना है, बाहरके किन्हीं भी पदार्थोंके देखनेसे मेरा प्रयोजन नहीं।

तो देखो अपनेको। बुरा है तो बुरा देखो, भला है तो भला देखो। अपनेको बुरा देख लोगे तो भी भला, अपनेको भला देख लोगे तो भी भला। देखो अपने स्वको ही। बाहर कुछ न देखो। बाहर क्या है ? जो बाहरमे मौजूद है वह विषयकषायके आश्रयभूत ही तो हो सकता है। मुझमें कोई अलौकिक आनन्द तो नहीं बरसा सकता, इन बाहर कोई कुछ मत देखो। देखो अपने अन्दर ही तो अन्तरमें देखनेकी कलाका प्रयोग क्यों न होगा ? अपने को ज्ञानस्वरूपमें देखो तो अपने अन्दरका दर्शन होगा। कुछ ऐसा नहीं है कि घरकी तरह आत्मा पोली चीज हो और उसमे कुछ रखा हुआ हो। वह आत्मा ज्ञानमय है। तो अपने ज्ञानस्वरूपको देखकर अपने आपमें तृप्त होवो, प्रसन्न होवो। अपने इस आनन्दधामसे मत निकलो, बाहरमें कुछ मत दूको। बाह्य स्पर्श है कुछ तो रहा आये, रूप, रस, गध आदि हैं तो रह आयें, उनसे मेरे आत्माको कौनसी सम्पदा प्राप्त होती है ? ऐसा एक दृढ निर्णय करके

यह ही एक संकल्प बना लो कि रहना है अपने आपके स्वरूपके ज्ञानमें । इसके अतिरिक्त बाहरमे मुझे कुछ नहीं ढूकना । ऐसा अन्तर्दर्शन करना, परमार्थको निरखना, यह ही है हमारे कल्याणकी बात ।

( ४७ )

विकल्पोंका विलय हो, ममताका समागम हो, यही सर्वोपरि वैभव है । स्वयंकी सुध न हो, बाहर ही उपयोग दौड़े, यही सर्वोपरिविपदा है । अन्यकी दृष्टि हटे, अनन्य चित्स्वरूप की दृष्टि रहे, यही सर्वोपरि शरण है ।

भेय विपदाका तथ्य—ससारके प्राणी विपत्तिसे तो डरते हैं, विपदासे हटना चाहते हैं और सम्पदामे लगना चाहते हैं । संसारी प्राणियोकी ऐसी वाञ्छा रहती है, सो इस बातको बुरा तो नहीं कहा जा सकता । विपत्तिसे हटना चाहिए और सपत्तिमे लगना चाहिए । सीधी बात है, लेकिन कोई विपत्तिको ही सम्पदा मान ले और सम्पदाकी बातको विपत्ति मान ले तब तो वहाँ गलत हो जाता है । लोकमे यही देखा जा रहा है । जो वास्तविक सम्पदा है वहाँ तो शांति नहीं है और जो वास्तवमे विपदा है उसको सम्पदा मान रहे हैं । इस जीवपर कौनसी विपत्ति छायी है ? लोग कहेगे कि एक विपत्ति हो तो नाम बतावें, पर जहाँ हजारो विपत्तियाँ लगी हैं वहाँ किस-किसका नाम बतायें कि हमपर कौनसी विपत्ति लगी है ? तो सुनो–विपत्तियाँ हजारो नहीं हैं । विपत्ति भी एक ही है और सम्पदा भी एक ही है । जिसको लोग विपत्ति कहते हैं वह तो विपत्ति है ही नहीं । बाहरी पदार्थ न मिले, कुछ मिल गए इसीमें ही लोग विपत्ति और सम्पत्तिका भेद समझते हैं, पर यह विपत्ति और सम्पत्तिका सही लक्षण नहीं है । विपत्ति नाम है अपनी सुध न होना और बाहरकी बातोमे उपयोग लगाना, बस यही मात्र विपत्ति है जीवपर । जैसे सब मनुष्योंका जन्म एक तरहसे ही होता है । ईसाई हो, हिन्दू हो, कोई हो, और मरण भी एक ही तरहसे होता है, एक साधारणसी बात है । तो ऐसे ही विपत्ति और सम्पत्ति एक ही प्रकारसे होती हैं । सब जीवोपर जो विपत्ति छा रही है वह विपत्ति यही है कि अपनी सुध न रहना, यह है विपत्ति । जो-जो भी लोग संकटमें हैं उन सबकी स्थिति परख लो, अपनी सुधमें नहीं हैं तब ही ये सकटमे है । ऐसा सकट, ऐसी विपत्ति सबपर एक विधिसे चलती है । विपत्तिमे कोई मनुष्यका भेद नहीं है कि अमुकको इस ढगसे आया, अमुकपर इस ढगसे आया । प्राणिमात्र पर यह ही बात है कि जो जीव दुःखी हो रहे हैं उस दुःखका मूल कारण, साधन यह है कि वह अपनी सुधमे नहीं है । अपनी सुध क्या है ? जैसा मेरे आत्माका सहजस्वरूप है, अपने सत्त्वके कारण जो भी यहाँ भाव है, स्वभाव है, स्वरूप है उसकी खबर न रहना, मै यह हू–ऐसी सुध नहीं है, तब इसपर विपत्तियां

है। सुध न होना ही विपत्ति है और जहाँ आत्माकी सुध नहीं है वहाँ बाहर ही बाहर उपयोग दौड़ेगा। जब आनन्दका धाम न पाया तो आनन्द पानेकी इच्छा तो रहती ही है। भीतरी आनन्द मिला नहीं, क्योंकि खबर ही नहीं उसकी। अज्ञान छाया है। जब यह बाहर मे अपने उपयोगको दौडाता रहता है यही विपत्ति है। अपनी सुध न होना और बाहर ही बाहर उपयोगका दौ-ाना यही विपत्ति है। चाहे छोटा पुरुष हो, चाहे बडा पुरुष हो, सबपर विपत्ति आती है तो इसी ढगसे आती है। यह है विपत्तिकी बात, जिससे कि यह जीव हटना नहीं चाहता। मान रहा है और और कुछ विपत्ति।

सम्पदाका तथ्य—अच्छा अब सम्पदाकी बात देखो—सम्पदा क्या है ? विपत्तिका अभाव होना यही सम्पदा है। विपत्ति है विकल्प है विकल्पका विलय हो तो सम्पदा मिले। लोग विषयोंके वश होकर, कषायोसे पीड़ित होकर नाना तरहके विकल्प मचाया करते हैं, उन विकल्पोंका विलय हो जाय तो यही सम्पत्ति है। जहाँ विकल्पका विलय है वहाँ सम्पदाका समागम है। विकल्प रहे नहीं, सम्पदा भरपूर स्वय है, बस वही एक सम्पदा है। लोग जिसको सम्पदा मानते हैं वह तो सब विपत्तिका साधन है। बाहर भिन्न पदार्थ उनका समागम हो जाय इसको कहते हैं सम्पदा। लेकिन भाई मुक्तिका मार्ग और संसारका मार्ग ये बिल्कुल उल्टे-उल्टे रास्ते है। बाहरी पदार्थोमे आसक्त होना, बाहरी पदार्थोंके सग होनेपर अपनेको बड़ा अनुभव करना यह सब कहलाती है विपत्ति। इस विपत्तिमें सभी ग्रस्त हो रहे हैं, यही कारण है कि उन्हे चैन नहीं पड़ती। छोटे लोगोको ये लोकमे बड़े धनिक लोग दिखते हैं कि ये बड़े सुखी हैं, लेकिन जो लोकमें लौकिक बड़ा है उसका दुःख इतना कठिन है कि उन दुःखोंको नहीं सह सकता तो मरण ही शरण है। छोटे लोगोंको क्या, कहीं बैठ लिया तो क्या हुआ ? कही झगड़ा हो गया, कहीं गाली-गलौज हो गया, कहीं इष्टवियोग हो गया तो छोटे लोग उसपर बहुत महसूस नही करते और जो लोकमे बडे कहलाते हैं, जिनके घन विशेष है, प्रतिष्ठा विशेष है वे कुछ ही विचार बनाकर अपनेको दुःखी अनुभव करते हैं। तो विपत्ति क्या है ? अपनी सुध न होना और बाहर ही बाहर उपयोग जोड़ना, और सम्पदा क्या है ? विकल्पका विलय होना और सम्पदाका समागम होना, यही सम्पदा है। अच्छा कोई यह बता सकता क्या कि कितनी लौकिक सम्पदा मिले तो उसे सेठ (बड़ा) कहा जाय ? तो इसका कोई निर्णय नही दे सकता। क्योंकि जितना मिलता जाय उतनी ही इसकी तृष्णा बढ़े, उतना ही इसका विचार बढ़े। भील लोग जब कभी आपसमे वार्ता करते तो कहते होगे कि सुखी तो राजा होता है? कैसे ? इसलिए कि वह तो रोज-रोज गुड़ ही गुड खाता होगा। अब भीलोकी जितनी बुद्धि और जितनेसे उन्होने सुख मान लिया, वहाँ ही तक उनकी

दौड़ जाती है। और जो राजा है उनसे पूछो कि उन्हें कितना सुख है तो उन्हें ऐसी चितायें, ऐसी विकट समस्यायें आ जाती हैं कि जहाँ न चाहे अनेक काम करने पड़ते हैं। रात्रिको नींद न आये, फिक्र बनी रहे। तो कोई बाहरमें कितना निर्णय बना सकता कि इतना मिल जाय तो सुखी रहेगा। ऐसा कोई निर्णय नहीं दे सकता। इसका कारण यह है कि बाहरकी चीजें सम्पदा ही नहीं कहलातीं। और यह निर्णय बना बनाया है कि जहाँ आत्म-सम्पदाका समागम हो वहाँ आनन्द ही आनन्द है, समता ही सम्पदा है। जहाँ विकल्प नहीं उठ रहा वहाँ सर्व सम्पदा है। तो पहला निर्णय क्या किया कि जहाँ आत्माकी सुध नहीं और उपयोग बाहर ही बाहर दौड़ता हो, बस वही जीवपर विपदा है। और दूसरी बात क्या कही कि जहाँ विकल्प न उठें और रागद्वेषका अभाव याने समताका परिणाम बने बस वही एक मात्र सम्पदा है। कोई कहे कि सम्पदा चाहिए तो झट उसका अर्थ लगाओ कि सबमे समता का परिणाम बने और किसीके प्रति भी द्वेष विकल्प उत्पन्न न हो, बस यही हुआ समताका रूप। दो बातें हुईं सम्पदा और विपदा।

लौकिक सम्पत्तिकी चाहसे व विपत्तिके भयसे हटकर परमार्थ शरण्यके आलबनका कर्तव्य—अब तीसरी बात सुनो—अपने लिए शरण क्या है? बाहरमे तो अपना कुछ शरण है नहीं। केवल विकल्प ही विकल्प है। कल्पना ही की जाती है। वास्तविक शरण है क्या? तो वह मिलेगा अपने आपके आत्मामे और उस शरणको पानेके लिए कहींसे हटना और कहीं लगना—ये दो काम करने होंगे। एक अन्यकी दृष्टि तो हट जाय याने ऐसी शान्त गभीर उदार धीर ज्ञानी वृत्ति बने कि जहाँ अन्यकी दृष्टि न रहे। बाहरी पदार्थोंपर दृष्टि गड़े, उनमें कुछ अपनायत बने तो उसका फल तो अशान्ति है, दुःख है। अन्यकी दृष्टि न रहना चाहिए और दृष्टि बने तो किसकी? जो शाश्वत आनन्दस्वरूप है ऐसे निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि बने बस यही मात्र इस जीवको शरण है। तो यहाँ तीन बातें कही गईं—विपत्ति क्या है? सम्पदा क्या है? विपदा है अपनी सुध न होना, बाहरी वस्तुमे उपयोग लगना। इस विपत्तिसे हटनेकी आवश्यकता है। अपना ज्ञानबल ऐसा पुष्ट बनायें कि अपनी सुध न भूल सकें। बाहरी पदार्थोंमे उपयोग देनेसे एकाग्र चित्त न हो सके, यह तो है विपदा और किसी प्रकारका विकल्प न उठें, समतापरिणाम रहे यह है सम्पदा और जो अपने आपका सहज स्वरूप है वही है शरण। उसही स्वरूपका आश्रय करना, उस स्वरूपमें ही अपनी प्रतीति रखना बस यही वास्तवमें जीवका शरण है। विपत्तिसे हटो, सम्पदामे लगो और शरण्यका आलम्बन लो।

( ४८ )

मै तो ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूं, मुझमें कष्टका कोई काम नहीं, परपदार्थमें व्यर्थ कुछ सोचनेकी कुटेव करनेसे दुःख होता है। मै स्वयमें, स्वयंकी वृत्तिसे रहू, यही मात्र मेरी ईमानदारी है।

कष्टरहित आत्मस्वरूपका मनन—अनेक प्रकारसे जब जीवने अपने आपको समझा लिया, प्रतिबोध लिया तो यह जीव अपने आपमें यह निर्णय करता है कि मै तो सदा आनन्दस्वरूप हूं। उद्दण्डता न करें, वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे बेईमानी न करें तो इसका आनन्द तो प्रत्यक्ष है। जीव बेइमानी क्या करता है ? वस्तुस्वरूप यह है कि किसी भी वस्तुका परिणमन, गुण किसी अन्य वस्तुमे नहीं पहुचता। भले ही यह जीव अपने स्वरूपसे विमुख होकर बेईमान बने याने किसी परपदार्थकी ओर अभिमुख बने तो भी परपदार्थमे नही गया यह, पर पदार्थको नहीं करता यह, किन्तु उस प्रकारकी कल्पना बना लिया याने जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा न मानकर अब अहकार कर्तृत्वभाव रखना, यह ही कहलाती है बेईमानी। शब्द बुरा भले ही लगे, पर बेईमानीका अर्थ क्या है ? सत्पथसे हटना और कुपथमें लगना। तो हाँ अपनी सच्चाईपर रहें, जैसा मेरा स्वभाव है उसके अनुकूल चलें तो यहाँ आनन्दमें कोई बाधा नहीं आती। अनधिकार काम करनेसे अशान्ति बढ़ती है। सर्वत्र घटा लो, यह बात। जिस बातमें अपना अधिकार नहीं उसमें अपनेको आसक्त बनायें, उसमें दखल दें तो वहाँ विपत्ति होना, कष्ट आना प्राकृतिक बात है। तो अपने स्वरूपके अनुरूप उपयोग बनायें तो आनन्द ही आनन्द है, वहाँ कष्टका काम नहीं। एक मोटीसी बात समझ लो कि जो कुछ जिसे मिला है अभी उससे इस जीवका पूरा पड़ जायगा क्या ? इस भवसे जायगा। साराका सारा यहीं धरा रह जायगा। करोड़ोकी माया हो, मरनेके बाद इस जीवका एक पैसा भी तो काममें नहीं आ पाता। तो जब मर गए और सब यही छोड़ गए, यह स्थिति आती है। तो जो छूट जायगा उसमें ममता क्यों की जा रही है ? वस्तुस्वरूपके खिलाफ तो वहाँ विपत्ति आना प्राकृतिक बात है। तो अपने स्वरूपको देखो—आनन्दस्वरूप है, यहाँ कष्टका कुछ भी नाम नहीं है। कष्ट होता कैसे है ? बाह्य पदार्थोके बारेमे व्यर्थ सोच लगाये फिरते हैं और उसी लगावकी कुटेव बनाये फिरते हैं, बस यही है विपत्तिका आधार। जो अनधिकार चेष्टा करेगा वह कर्मबन्धनमें आयेगा, कष्ट होगा, संसारमें रुलेगा। तो अनुभव करें कि यह मै ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान ज्ञानस्वरूपको ही अपनेमें लगायें, ऐसे ही अपनेमें देखिये कि मै आनन्दस्वरूप हूं। ऐसा जब अपने एक सहज आनन्दस्वभावको देखा वहाँ कष्टका कोई काम नहीं

संकटमुक्तिके लिये अपना कर्तव्य—अब सोचिये अपनेको क्या करना, जिससे

अशान्ति न हो और शान्तिका विलास बने । क्या करना चाहिए ?' अपना स्वरूप निरखकर और यह कर क्या सकता है वास्तवमे, इतना निर्णय बनाकर बस उसीको करें जो निर्णयमे आया है अपने कल्याणके लिए । क्या करना ? खुद-खुदके लिए खुदके द्वारा खुद जानकारी रूपसे रहे, यह ही तो है वास्तविक ईमानदारी और जो अपनी वृत्तिसे चिगे और बाह्य वृत्ति में लगे तो बस वही सब है अपनी अशुद्धता । तो अपनेको देखो, अपनेको जानो, अपनेमे लीन रहो, बस इसीका नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । जाप तो दे लेते हैं, जैसे रत्नत्रयका व्रत हो, और और समय हो । मालाके अंतमे बोल ही लेते हैं--सम्यग्दर्शनाय नमः सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, किन्तु जब एक प्रेक्टिकल करते हैं, इसको जो मैंने बताया, समझाया वह मै अपने पर तो कुछ प्रयोग करूँ, जब अपने ज्ञानको अपने स्वरूपमे लेने बैठते हैं तो कुछ दिक्कतें आती हैं, उनका परिहार करते हैं । आखिर मोक्षमार्गके कामकी धुन होगी तो नियमसे मोक्षमार्ग मिलेगा, और मोक्ष मिलेगा, पर बात-बात ही हो केवल कि चार आदमियोमे धर्मकी बात कहनेसे बडप्पन होता है, इसी ख्यालसेअगर बात ही बात करें तो उसको लाभ तो कुछ नहीं, उल्टा बरबादी ही है । प्रयोग प्रेक्टिकल करें, जो सुना है उसे अपने आपपर घटित करें । उस धुनमें आयेंगे तो सब रास्ता मिलेगा । यह विश्वास रखना कि मेरेमें कष्ट नही । कष्ट तो हम उद्दण्डता करते हैं और सिर मार लेते हैं, बाह्य पदार्थोंमे कुछ से कुछ कर देनेकी कुटेव रखते हैं और दुःखी होते है इसलिये सब अपने-२ स्वरूप मे रहने वाला देखें । कोई अपनेसे बाहर कुछ करता हो, ऐसा मत देखो । यह तो एक मिथ्या आशय है । मै ज्ञानरूप हू, आनन्दमय हूं, मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है, यह बात ध्यानमे रहे तो अशान्ति दूर होगी । और जो ईर्ष्या रहे, हमने इतना ही काम किया, इसने ज्यादा किया अथवा इसने इतने गहने पहन लिए, इसकी इतनी इज्जत है, हमारी इतनी ही इज्जत है, ऐसी बात जब चित्तमे रहती है तो यह बिल्कुल बेकार बात है और ससारमें रुलने जैसी बात है । अपनी शोभा बढ़ाओ ज्ञान द्वारा । जो सद्गुण हैं उन सद्गुणोके अनुसार चलेंगे तो भला ही होगा और जो बुराईकी ओर चलेगा, बुराई देखकर चलेगा, दूसरे जीव सुहाये ही नहीं, उसके भीतर बसे हुए परमार्थस्वरूपकी सुध ही न रखना, ऐसी प्रक्रिया अगर करता है जीव तो उसे दुःख होना प्राकृतिक बात है । अपने को संभालें तो सब सभल जायगा, अपनी संभाल न कर सके तो बाहरमें कुछ भी पदार्थका सचय करें, पर सभाल कुछ न पायेंगे । अपनेको सबसे निराला अकेला समझ लो, शान्तिका मार्ग मिल जायगा । और कैसा अकेला समझें कि शरीरसे भी निराला, छुटपुट ज्ञानसे भी निराला, सहज शाश्वत एकस्वरूप रहने वाला मेरा स्वरूप । उसमे ही दृष्टि बनायें कि यह मै हू तो सब सकट दूर हो जायेंगे,

सम्यक्त्व मिलेगा, ज्ञान बनेगा, चारित्र बनेगा। केवल एक अपने आत्माकी सुध रखनेसे सारे संकट सदाके लिए टल जायेंगे।

( ४९ )

मृत्युसे डरनेसे मृत्यु न मिटेगी, सुखके चाहनेसे सुख न मिल जायगा। अमर आनन्दमय निजस्वरूपकी रुचिसे मृत्यु भी मिटेगी, आनन्द भी मिलेगा। अन्तर्नाथ ! तू ही सनातन स्वतः परिपूर्ण होनेसे अपने लिये सर्वस्व है।

मृत्युभयको दूर करनेका विवेक—ससारके प्राणी एक बात चाहते हैं और एक बात से डरते हैं। डरनेकी बातें तो अनेक हैं, पर उनमें से एक मुख्य बात है मृत्यु और चाहनेकी बातोंमें प्रधान है केवल एक सुख। सुख तो चाहते हैं और मृत्युसे डरते हैं। लेकिन मृत्युसे डरनेसे क्या कभी मृत्युसे छुटकारा मिल सकेगा ? मृत्युसे डरने वाला तो भविष्यमें मृत्यु ही पायगा। क्योकि मृत्युसे डर उनको होता है जिनको देहसे ममता होती है। जिनको देहसे ममता है उनको मिथ्यात्व है, जिनके मिथ्यात्व है उनको ससारकी सब दशाओमें भ्रमण होता है। वे सभी दुर्दशायें मिथ्यादृष्टि जीवको सहनी पड़ती है। तो मृत्युसे डरनेका तो और भयकर परिणाम है। मृत्युसे डर न आये, मृत्युके समय धीरता रहे, मृत्युके समय आनन्दरसमें मग्नता रहे, ऐसा कोई उपाय बन सके तो मृत्युपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जिन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त की उन्हें बोलते हैं कृतान्तकृत् याने यमराजको भी जीतने वाले, मृत्युञ्जय। मृत्युपर विजय कैसे होती है, उसका सीधा उपाय है कि कि मृत्युरहित जो आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है 'यह मै हूं' ऐसा अनुभव पुष्ट बने, अवश्य ही मृत्युपर विजय हो जायगी। जैसे बन्दरोंसे डरे तो बन्दर और आक्रमण करते हैं और बन्दर तो खुद डर करके बोला करते हैं, घुड़की देते हैं और लोग समझते हैं कि यह मुझपर बोल रहा। जैसे यह मनुष्य डरा वैसे ही बदरोंका और भी आक्रमण बढ़ता जाता है। तो मृत्यु क्या है, समय क्या गुजरता है, यह तो होता ही रहता है। अब उस मृत्युसे डर बना तो मृत्युका भव भवमें आक्रमण चलता है। मृत्युञ्जय बनना चाहिए और यह बात कब बन सकती है जबकि सारे जगत से निराला अपने आपके स्वरूपमें 'यह मै हू' ऐसा विश्वास बने।

अन्तःप्रकाशमान प्रभुके आश्रयसे मृत्यु आदि सर्वसंकटोका निवारण—देखो अपना तथ्य स्वरूप। मुझको कोई दुनियाके लोग नहीं जानते और मैं ऐसा सोचूं कि मुझको बहुतसे लोग जानते हैं, मेरा बड़ा परिचय है तो सकोच होगा, शर्म होगी, भय होगा, विकल्प होगा। तकलीफमे पड़ जाता है। और जहाँ वास्तविकता जाना कि मैं तो अविचलित चैतन्यस्वरूप हूं, इस अचलित चैतन्यस्वरूपका परिचय करने वाला यहाँ कोई नहीं है। जिस रूपमें लोग

परिचय करते हैं वह मै नहीं हूं। अभी कोई कुछ निन्दा कर रहा हो और यह समझमे आये कि यह मेरी ही बात शायद कर रहा है तो भीतरमे बड़ा उद्वेग होता है और थोडा सुनकर, पूछकर जब यह जान जाय कि यह तो दूसरेकी बात कह रहा तब फिर यह शान्त हो जाता है, ठडा होता है, निराकुल रह जाता है। जैसे मानो नाममे भी एक दो अक्षरोका ही फर्क हो, जैसे दो नाम हैं--अमृतलाल और अमृतचन्द्र। अब अमृतलाल यह सुनता है कि यह हमारी बुराई कर रहा है तो यह दुःखी होता है और थोड़ी ही देरमें जब यह समझमें आया कि अरे यह तो अमृतचन्द्रकी बात कर रहा है तो यह खुश हो जाता है, मेरा कुछ नहीं कर रहा है। तो ऐसे ही एक तो है परमार्थ नाम, चैतन्यस्वरूप और एक है अपरमाथ चिदाभास। चित् और चिदाभास लोग बुराइयां कर रहे और यह समझे कि मेरी बुराई की जा रही तो यह दुःखी होता है। अरे जानो कि मै तो चित् हूं और यह बुराई चिदाभासकी कर रहा है, यह समझें तो आकुलता न होगी। मै चिदाभास नहीं, मै तो चैतन्यस्वरूप हूं। चिदाभासका अर्थ है जो चैतन्य तो नहीं है, पर चैतन्यस्वरूपकी तरह लगे। क्रोध, मान, माया, लोभ, पर्याय, विकार, विचार आदि ये मै नहीं हूँ, मै तो अनादि अनन्त एक ध्रुव तत्त्व हूं। पर ये बातें मेरेमें ही तो प्रकट होती, ये सब चिदाभास हैं। प्रथम तो लोग विभावको ही नहीं जानते। केवल एक जो आकार दीखा मनुष्यका, बस उसी आकारको समझते कि यह फलाने हैं। उसकी बुराई, उसके विभाव गुण पर्यायको भी नहीं समझते कि किसकी बुराई कर रहे ? अरे कोई इन विभाव गुण पर्यायोकी बुराई करे तो वह तो बड़ी भली बात है। मैं तो विकाररहित केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र हू, यह दृष्टि जगनी चाहिए।

तो जिसने मृत्युरहित अविकार चैतन्यस्वरूको 'यह मै हूं', ऐसा मान लिया तो उसको मृत्युका भय नहीं होता। मृत्युसे यह प्राणी डरता है और डरनेसे कहीं मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता। किन्तु मेरी तो मृत्यु हो नहीं। मै तो मृत्युरहित केवल एक विशुद्ध चैतन्यस्व-रूप हूं। मुझे मृत्युका डर नही। देखो इसके साथ-साथ ऐसा ही दृढ भाव होना चाहिए कि जब मै यह शरीर ही नहीं तो फिर यहांके ये धन-वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक बाह्य चीजें तो मैं हो ही क्या सकता हूं ? मै तो इन सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप हूं--यह जिसको बोध है उसको किसी का भय नहीं। जिसने मृत्युको जीत लिया उसको फिर किसीका भय नहीं। आखिरी भय तो जीवको मृत्युका है। धन जाता है और प्राण जाते, ऐसी घटना हो तो धनको तो चले जाने देते, पर प्राण बचाते हैं। किसी कुटुम्बीके या मित्रके प्राण जाते हों और खुदके प्राण जाते हों तो दूसरेकी तो उपेक्षा कर देंगे और अपने प्राणोंको बचायेंगे। तो मृत्युसे अधिक भयकी चीज कुछ नहीं है लोकमें। जिसने मृत्युपर विजय प्राप्त कर-

लिया उसने सर्व विपदाओंपर विजय पा लिया। तो मृत्युपर विजय पानेका उपाय यह है कि अविनाशी आत्मस्वरूपको, 'यह मै हूं' ऐसा विश्वास बन जाय।

सुखकी चाहकी अनर्थकारिता व आनन्दकी आत्मस्वरूपता— अच्छा अब सुखपर विचार करो। जगतके प्राणी सुख चाहते हैं और उन सुखोंमें यह निर्णय कर रखा है कि यह ही तो है सुख—अच्छा खाना पीना मिले, अच्छा ऐश आराम मिले, पञ्चेन्द्रियके विषय साधन मिलें, सबपर हुकूमत चले, सबसे बड़े कहलायें, ये ही कहलाते हैं सुख। तो इन सुखोंको चाहनेसे क्या मिल जाता है ? सो चाहते है सुख। तीनो लोकका वैभव तो जितना है सो ही है और हरएक जीव चाहता है कि मुझको तो सारा वैभव मिले। तो बताओ न तो ऐसा कभी हो सकता है और न यह कभी सुख मान सकता है। तो सुखका ही स्वरूप गलत समझा है तो सुखकी चाहसे सुख मिल सकता है ? अथवा यो कहो कि सुखको तो चाहता है यह प्राणी, पर आनन्दको नहीं चाहता। सुखमे और आनन्दमें अन्तर है। सुख तो नाम है विषयोकी साधना करना और आनन्द नाम है ऐसा ज्ञान जगे जिसमे समतापरिणाम हो और आत्माके गुणोका सर्वतोमुखी विकास हो, उसका नाम है आनन्द। तो आनन्दकी चाह तो बिरला ही भव्य पुरुषकर सकता है, लेकिन ससारके प्राणी सुखकी चाहमें निरन्तर रहते हैं, पर सुखके चाहे जानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। सुख क्या, सुखसे बढ़कर असीम सुख अलौकिक सुख, सहज आनन्दके लाभकी बात करनी चाहिए। तो सुख कैसे मिले? पहले तो यह समझना होगा कि मै स्वय आनन्दस्वरूप हू। मेरे आनन्दमे कोई दूसरा पदार्थ बाधा नही डाल सकता। तब स्वरूप ही आनन्द है। मै ही जब आनन्दस्वरूपकी सुध छोड़ देता हूं और बाहर-बाहर हो उपयोग भटकाता रहता हू तो आनन्द गायब हो जाता है और उसके एवजमे सुख मिलेगा या दुःख-दुःख मिलेगा तो कष्ट और आकुलता मिलेगा तो कष्ट। ऐसा सद्‌बुद्धि बने कि मुझे ससारका रंच भी सुख न चाहिए। मै तो अपने आनन्दस्वरूपमे ही मग्न रहूगा वह पुरुष आनन्द पा सकता है। जिसने सुखकी चाहकी उसे आनन्द कभी न मिलेगा। सुख को चाह छोड़ेगे तो आनन्द मिलेगा। तो यह जीव हमेशा सुख चाहता है, पर चाहनेसे सुखका लाभ नही होता। विलक्षण सुखका, आनन्दका लाभ मिलेगा तो आनन्दस्वरूप निज स्वरूपकी रुचि करनेमें मिलेगा।

बनावट दिखावट सजावटके परिहारसे आनन्दका सुगमतया लाभ— बनावट, दिखावट सजावट छोड़ दो, आनन्द मिल जायगा। बनावट क्या होती है ? मै गृहस्थ हूं, त्यागी हूं, साधु हूं आदि सोचना यह ही तो कहलाता बनना। मै हूं एक चैतन्यस्वरूप, उसके अतिरिक्त कुछ भी अपनेको मानना यह ही बनना कहलाता है। अभी १०-२० आदमियोके

बीच कोई कुछ बनता हो याने उनसे बढ-बढ़कर या और-और रूपमे अपनेको पेश करता हो तो लोग कहते हैं कि देखो यह कैसा बन रहा है ? तो बननेको तो लोग अच्छा नहीं कहते । बनना एक निन्दाकी बात है तो मै हू एक अचलितस्वरूप और अपनेको मानूं कि मैं पुरुष हूँ, त्यागी हूँ, अमुक हूँ, तमुक हूँ, तो यही बनना कहलाता है । जो बनेगा सो दुःख पायगा । मै न बनूँगा । जो अपने आप सहज स्वय होता हो वह हो । जो इसका ही आग्रह रखेगा । उसको कष्ट न मिलेगा । तो यह तो कहलाया बनावट और इस तरहकी बात दूसरे को दिखाना यह कहलाया दिखावट । बनावटमें तो सकल्प है, मानसिक बात है, पर दिखावटमें अपनी कुछ मुद्रा दिखाना यह दिखावट कहलाती है । तो जो दिखावट करेगा वह भी क्लेश पायगा । और तीसरी चीज है सजावट । अपनेको सजाना, जैसा चाहे परिकर रखना, बहुत से लोगोका संग रखना, उनके द्वारा अपना कुछ प्रचार कराना, यह बहुत बड़े हैं, फलाने हैं, बिदेहसे आये हैं, अमुक तमुक है, ऐसा दूसरोसे प्रचार कराना, खुद भी अकेले अकेले प्रचार करना, यह कहलाता है सजावट, दिखावट, सजावट जहाँ है, भले ही इस मोही जगतमे उनका यश फैले, मगर मोक्षमार्ग तो नहीं मिलता । मोक्ष मार्गके पात्र वे ही हैं जो बनावट, दिखावट, सजावटसे अलग हैं और वे ही आनन्दको पा सकते हैं ।

मृत्युभय व सुखाकाक्षाको तजकर सहज आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वके आलबनसे सहज आनन्दके पानेका अनुरोध—सारी दुनिया सुख चाहती है, मगर सुख चाहनेसे तो सुख नहीं मिलता । सुख चाहता है और मृत्युसे डरता है । सबाके लिए सकटमुक्त होना है तो अपने आपके स्वरूपर विश्वास बनाओ । यह ही तुम्हारा अन्तर्नाथ है, भीतरका प्रभु है, जिसकी प्रसन्नता पर भली सृष्टि होती है और जिसके मुरझा जाने पर बुरी सृष्टि होती है । वह मेरा मेरेमें ही है, उस अन्तर्प्रभुकी भक्ति करो । हे अन्तर्नाथ ! तू ही मेरे लिए सर्वस्व है । प्रसन्न करूँ तो तुझको करूँ तो मेरेको लाभ है । और दुनियाके बाहरी लोगोको, कर्मके प्रेरे पापी जनोंको प्रसन्न करना चाहूँ तो वह केवल मेरी मूढ़ता है । हे अन्तर्नाथ ! तू ही मेरा सर्वस्व है, तू अनादि अनन्त है, सनातन है, खुद ही परिपूर्ण है । तू अधूरा नहीं है, अपनी सत्ता लिए हुए है । ज्ञानानन्द जो स्वभाव है उस स्वभावरूपसे पूर्ण है, घन है । तू ही मेरे लिए सर्वस्व है । यहाँ ही दृष्टि अधिकाधिक रहे, उसीको तो कहते हैं योगी, संसारके समस्त सकटोसे पार होने वाला । तो सुखकी चाहमें, मृत्युके डरमें जीवन न गुजारें, किन्तु अविनाशी आनन्दमय स्वतः परिपूर्ण निज अन्तर्नाथ की भक्ति करें और अपना अच्छा भविष्य प्राप्त करें ।

( ५० )

**प्रगति चाहते हो तो मिथ्यावचनमत बोलो, अप्रिय, अहित भी मत बोलो, अपनी विफलता, कमी, त्रुटि ढांकनेका प्रयत्न मत करो। अपनी उपलब्ध साधारण सफलताओं का डका मत बजाओ।**

आत्मप्रगति चाहने वालोका मिथ्या वचन न बोलनेका कर्तव्य—सभी प्राणियोंके चित्तमे यह बात समायी रहती है कि मेरी प्रगति हो, उन्नति हो। भले ही किसीने प्रगति समझी है एक लौकिक बडप्पनमें तो विवेकियो ने प्रगति समझी है रागद्वेष दूर करनेमें और समतापरिणाममे स्थित रहनेमे। तो वास्तविक प्रगति तो आत्मविकास है, और लौकिक प्रगति की भी बात समझो तो भी दोनो विकासोंका उपाय है, मिथ्या वचन मत बोलें। मनुष्यका धन वचन है। पैसा तो घरमे ही धरा रह जाता है। यहाँ आये हैं आप लोग तो क्या धनको अपने साथ लाये है, लेकिन आपके वचन तो यहाँ भी साथ हैं। वचनशक्ति सब जगह साथ है। मनुष्यका परिचय होता है तो वचनसे होता है। यह मनुष्य अच्छा है, बुरा है, कपटी है, साफ है, सब तरहकी पहचान वचनोसे होती है। तो वचनोंकी सम्हाल, वचनोका सयम इस मनुष्यको उन्नतिके लिये प्रति आवश्यक है। तो उस वचनसयममे पहली बात यह है कि मिथ्या वचन मत बोलें। मिथ्याका अर्थ क्या ? जैसी बात है उससे उल्टी कहना। जैसा नही है वैसा कहना। जो है उसे न कहना, जो नहीं है उसे कहना, ये सब मिथ्या वचन कहलाते हैं। और इन सब मिथ्या वचनोंके न बोलने का प्रयोजन यह है कि खुदके आनन्द मे बाधा न हो, दूसरेके आनन्दमें बाधा न हो।

तो जब कोई जीव मिथ्या वचन बोलता है तब प्रथम तो वही अपने मनमे आकुलता उत्पन्न करता है, क्योकि सत्यके विपरीत सोचनेमे, विचारनेमे, बोलनेमें, करनेमें आत्मामे घबडाहट बहुत होती है। पापकार्य करनेमे घबड़ाहट पहले होती है। भले ही आदत ऐसी बनी है अनादिसे किपाप करते हैं और बड़े सुभट बनते हैं, घबड़ाहट नही करते, लेकिन कैसा ही कोई दुष्पापहो और कैसा ही उसने पापका अभ्यास बना लिया हो, लेकिन अन्तरग में एक किरण जरूर आ जायगी। जोअन्तरगमें गुप्त ही गुप्त यह सिखा रहीहो कियह काम तो ठीक नही. और जहाँ यह समझा कि यह कार्य उचित नही, फिरकरे तो घबडाहट अवश्य होती है। तो मिथ्या वचन भी घबड़ाहट उत्पन्न करने वाले वचन है, और फिर यह समझिये कि मिथ्या वचन बोलकर हमने अपना बड़ा महत्त्व बताया सो प्रगति हमने क्या की और भविष्य मे अनेक विपत्तियोंका प्रोग्राम बनाया है। मिथ्या वचन बोलनेसे इस जीवकी हानि है, लाभ कुछ नही मिलता और कदाचित थोड़ा लाभ मिल जाये, लाभ क्या, लौकिक

पुद्गल स्कधका, तो वह लाभ यो नही है कि जब भीतरमे पापकर्मका बध होता है और सक्लेश कहा क्या गया है, तो कितने दिनोका चिकनापन है? अन्तमें तो बडी दुर्दशा होने को है तो मिथ्या वचन, लोगोंसे बोलनेका साधन है वचन, और जिसके मिथ्या वचन है उसकी प्रगति नहीं हो सकती ।

लोग सोचते हैं कि मिथ्या बोले विना दूकान भी नहीं चलती, रोजिगार भी नहीं चलता, पर यह बात बिल्कुल असत्य है । ग्राहक यदि समझ ले कि यह मिथ्या वचन बोल रहा है, तो वह आपकी चीज खरीदेगा क्या? आप चाहे मिथ्या बोल रहे हो, पर ग्राहकपर यह छाप रहे कि आप सच बोल रहे तब ग्राहक आपसे सम्बन्ध बनायगा । यदि ग्राहककी समझमे अगर मिथ्या बात आ जाये तब तो न चलेगी फर्म, न चलेगी दूकान । ग्राहकके चित्त मे जब यह बात बंठेगी कि यह सच्ची दूकान है, ठीक बोलता है, सही बोलता है, तब ही तो बात बनती है । अच्छा अगर आप मिथ्या ही मिथ्या बोलते जायें तो यह नहीं हो सकता कि ग्राहकको सदा धोखा ही धोखा हो । जब वह समझ जायेगा कि अरे यह तो मिथ्या बोलता है तो उसी दिनसे उसका व्यवहार समाप्त हो जाता है । तो ग्राहक समझता है कि यह सच बोलता है । और दूकानदार अगर सच बोले तो क्या उसका काम चलेगा नहीं ? अरे विशेष चलेगा । सच बोलनेका साहस क्यो नहीं बनाते ? सच बोलना एक तपश्चरण है । उसमें बहुत-बहुत अनेक बाधायें आती हैं, किन्तु उन बाधाओसे न घवड़ायें तो उसको सत्यवादिता से जीवनभर आनन्द मिलेगा । तो आत्मप्रगति चाहते हो तो पहली बात यह है कि मिथ्या वचन मत बोलें, जो कि अभी बताया कि मिथ्या वचन चार प्रकारके होते है ।

आत्मप्रगति चाहने वालोका अप्रिय अहित वचन न बोलनेका कर्तव्य—अब एक ५वां मिथ्या वचन भी समझिये—जो वचन अप्रिय हों, अहित हो वे वचन मिथ्या कहलाते हैं । चाहे चीजके हिसाबसे सच भी वचन हो, मगर दूसरेको दुःख देदे, दूसरेकी निन्दाका हो, दूसरे का अहित करे तो उसको भी मिथ्या वचन कहा है । बोलनेका प्रयोजन क्या है स्व-पर आनन्द । प्रयोजनको भूल जायें तो साधना ठीक न बनेगी । जैसे रसोईका प्रयोजन क्या है? भोजन करना । क्या कभी कोई ऐसा बेवकूफ भी देखा कि भोजन करनेकी तो बात ही न करे और भोजन-सामग्री दसो तरहकी बनाता जाये, फेंकता जाय । यदि कोई प्रयोजनको छोडकर साधनामे लगता है तो वह विवेकी नहीं है । जैसे व्यवहार धर्मका प्रयोजन है रत्न-त्रय भावका धारण । कोई रत्नत्रय भावकी सुध न रखकर फिर उस क्रियाकाण्डमें लगे तो उसे विवेकी नही कहते । क्रियाकाण्ड छोड़नेमे विवेक नहीं, क्रियाकाण्ड करते हुये मे भीतरमे अपना ज्ञानबल बढ़ावें और रत्नत्रयकी साधना करें, आत्मस्वरूपको जानकर इस ही स्वरूपमें

मग्न होवें। ऐसे ही सही वचन बोलनेका प्रयोजन है स्व-पर आनन्द। यदि किसी वचनसे इस प्रयोजनमें बाधा आये तो फिर ये वचन सही न कहलाये तो आत्मप्रगति करना है तो कभी अप्रियवचन मत बोलें और अहितकारी वचन मत बोलें। अपनेसे वही वचन निकलें जिसमे दूसरेका हित हो और दूसरेको आनन्द हो। मिथ्या मत बोलें, अप्रिय मत बोलें, अहित मत बोलें, ऐसी साधनासे प्रगतिका मार्ग मिलेगा।

अपनी त्रुटिया कमिया विफलतायें ढाकनेसे आत्मप्रगतिमे बाधा—आगे बढ़नेके लिये व्यवहारकी बात कही जा रही थी कि यदिआत्मप्रगति चाहते हो तो मिथ्यावचन मत बोलो। अप्रिय और अहित वचन मत बोलो, इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना है कि चूंकि यह मानव साधनामें लगकर भी अनेक कमियोका, दोषोका यह घर रहता है। तो वहाँ जिसको प्रगतिकी वाञ्छा है उसे यह चाहिये कि अपनेमे जो कमी है, त्रुटि है या विफलता है उसको कभी ढांके नहीं, अर्थात् खुद तो समझता रहे और जिस सत्संगमे साधनामें चलते हैं उस सत्सगसे भी गुप्त न रखें। देखिये एक लौकिक बात है कि अभी सन् १९७१ में जब पाकिस्तान और हिन्दुस्तानमे बंगलादेशके प्रसंगमे लड़ाई चल रही थी तो पाकिस्तानी हाईकमानने अपनी एक शान दिखानेके लिये अपनी विफलताओको डाँका, कमियोको ढांका, त्रुटियोको ढाँका। पाकिस्तानियोको यह नहीं मालूम होने दिया कि हम कुछ पराजयपर हैं बल्कि और उल्टे उल्टे समाचार ही फैलाये, अब बम्बई हड़प लिया, अब आगराको ध्वस्त कर दिया, अब थोड़ी ही देरमे दिल्ली पहुचने वाले है, और खुदमे क्या विफलता थी, कहाँ हारे, कहा कमी पडी, इस बातको छिपा लिया तो उसका फल क्या हुआ ? जैसा कि कभी इतिहासमे नहीं सुना कि ९० हजार सैनिकोने आत्मसमर्पण कर दिया, वह बात सुननेमें आयी। यह तो है एक देश देशकी बात, पर उस रीतिसे अपने अत्मापर भी घटाना। इस घटनाको बताकर एक रीति बतला रहे कि हम साधना करते हैं और साधना करते हुये भी त्रुटियाँ रहती हैं। विफलताये होती है, उनको ढाकना या उनको अपनी दृष्टिसे ओझल करना और समाजको भी पता न लगने देना और उस ही ढाचेमे समाजको भी बहा ले जाना—ये सारी बातें खुदकी प्रगतिकी भी बाधक हैं और दूसरेकी प्रगतिको भी बाधक है। तो आत्म-प्रगति चाहने वाले पुरुष जैसे मिथ्या वचन, अप्रिय वचन, अहित वचन न बोलें, इसी तरह यहाँ भीयह ध्यान रखें कि अपनी विफलता हो, कमी हो, त्रुटि हो तो उसे भी ढाकें नहीं। अपनी दृष्टिमे तो लायें ताकि उसका निवारण किया जा सके। सभी लोग अपने अनुभवसे जान सकते हैं। धर्मकी बातमे सब लोक ऐसा दिख रहा, कितना समुदाय लोक है ? कोई किसी ढंगसे, कोई किसी ढंगसे और कोई विरलाकोछोड़कर बाकी सब जिसे क्या कहते ?

कागजके फूल। भीतरमें त्रुटि, विफलतायें, अशांति, असतोष, तृष्णा ऐसी कषायें सब निरंतर चल रहीं और काम किये जा रहे सब, तो ऐसी विफलता प्रायः प्रत्येक व्यक्तिमे पायी जाती है। सो भाई देखो अपन चारित्रमे कितना पीछे हैं, अपन ज्ञानमार्ग और ज्ञानानुभवकीबात मे कितना पीछे हैं, सो खुद दृष्टिमे नहीं रखते और ऐसी दिखावट, बनावट, सजावट होती है कि दूसरे भी दृष्टिमे नहीं ले पाते। फल क्या होता ? जैसे कहावत है ना कि रातभर पीसा पालेसे उठाया। रात भर रामायण पढा, पर यह पता नहीं कि सीता रामकी थी या रावण की। बहुत बड़ी-बडी बातें कर जाते हैं ज्ञानके नामपर, धर्मके नामपर, और सर्वविफलताओके धाम बने हुये है। त्रुटिको निवारण करनेके लिये, कमीको निकालनेके लिये न कोई प्रोग्राम है, न कोई अन्तः साधना है, केवल बात ही बात है और कोई प्रायोगिक बात नहीं हो पाती कि यह ज्ञानानुभव किया जा सकता है, तो प्रगति कहाँ से हो ?

उपलब्ध कुछ सफलताओका डका बजाने से आत्मप्रगतिमे बाधा—आत्मप्रगति चाहने वालेको एक तीसरी धारा यह और जरूरी है, क्या कि कभी साधना करनेमे कुछ सफलता मिल जाये तो उन सफलताओका डका न बजाना। देखो ये सारी बातें देशप्रगतिमे भी लागू, समाजप्रगतिमे भी लागू गृहप्रगतिमे भी लागू और आत्मप्रगतिमे भी लागू होती हैं। जैसे कभी सफलता मिली, थोड़ा ज्ञान बना, ध्यान बना, भीतर कुछ शातिकी झाकी सी आती, कुछ गुण भी बन गये, तो अपने मुख अपना डंका बजाये, मैंने यो किया, मैने यो अनुभव किया, मैने यो समझा। कितने ही लोग तो पूछने लगते, आपको सम्यग्दर्शन है कि नहीं ? अच्छा वह क्या उत्तर दे सो बताओ। सम्यग्दर्शन है यह भी उत्तर नहीं बनता और सम्यग्दर्शन नहीं है यह भी उत्तर नहीं बनता। यह कोई पूछनेकी चीज नहीं और न उत्तर देने की चीज है। यह तो अपने-अपने समझनेकी बात है, क्योकि कोई उत्तर दे तो उसका लोको के लिये क्या प्रमाण ? ऐसी कुछ थोड़ी सफलतायें मिल जायें तो उन सफलताओ का डका न बजाना चाहिये। जैसे कहते हैं ना कि जो लोग अपने मुखसे अपने गुणोकी बात कह देते हैं उनके गुणोंमें कमी आ जाती है। अनुभव भी बतायेगा। जो अपनी बात अपने मुखसे ज्यादह हांकते फिरेंगे फिर वह विकास नहीं रहता है। विकास हो रहा है, अपनेमे आनन्द ले रहा है, गुप्त ही तथ्य चल रहा है, प्रगति होती है। तो तीन बातें बतलाई गई इस निबधमे आत्मप्रगति चाहिये हो तो वचनकी साधना बनाओ। आत्मप्रगति चाहते हो तो अपनी त्रुटियो को ढाँको मत, और आत्मप्रगति चाहिये हो तो अपनी कुछ पायी हुई सफलताओका डकामत बजाओ। साधक कैसा गुप्त, धीर, उदात्त होता है। उसका कोई परिचय करने वाला भी न हो तो उससे साधकमे कोई कमी नहीं आयी और कोई झूठा ही एक यश प्रशसाका पोलावा

बांधने वाला हो तो उससे कहीं गुण न आयेंगे। यह तो अपनी दृष्टिकी बात है।

( ५१ )

विकारमें परिणाम मेरे मत जाओ, यही मेरी वास्तविक कमाई है, अन्य वस्तुओं का लाभ नहीं, बल्कि उलझन और बरबादीका फन्दा है, नोकर्मके प्रसगसे हटकर ज्ञानमें ज्ञान रमाकर कर्मविपाकको फेल कर देना सच्ची शूरता है।

विकारपरिणामकी अनुत्पत्ति ही वास्तविक कमाई—मनुष्योमें एक यह बात बहुत अधिक लगी रहती है कि खूब कमाई करके, सचय करके घर जाना। भले ही तृष्णा सबमे है, परिग्रहकी संज्ञा सबमे है, मगर देखो, न तो नारकी संचय करके कुछ रखते और न देव कुछ सचयका उपक्रम करते और पशु पक्षी तो करें क्या, भले ही सज्ञाकी वजह से परिग्रहसपर्क चलता है, मगर मनुष्योमें जो बात देखा जाती। फर्म खुल रही, फैक्ट्री खुल रही, अनेक व्यापार चल रहे, कमाई कर रहे, सचय कर रहे, खुश हो रहे, यह बात मनुष्योमे और यहाँके जहाँ कर्मभूमि है कमाई करनी पड़ती वहा यह बात चलती है और लोग अपनी कमाईपर गर्व और बड़प्पन अनुभव करते है। लेकिन पहले तो कमाई शब्द ही यह बतलाता है कि कमाईका क्या अर्थ है—कम आई सो कमाई। क्या कम आयो ? ऋद्धि सिद्धि, इनकी कमी पड़ जानेका नाम है कमाई। जैसे लोग कहते है ना कि हमने बहुत कमाई की तो इसका अर्थ यह लगा लेना चाहिये कि उन्होने अपनी बहुत कमी कर डाली। अर्थ तो यह है, लेकिन लोग परिग्रहसचयका अर्थ समझकर फूले नहीं समाते। अच्छा अगर कमाईका अर्थ तरक्की करें तो वास्तविक कमाई क्या है इसपर विचार करो। वास्तविक कमाई यह है कि मेरे परिणामोमे विकार भाव न जगे। वही अमीर है, वही सत्पुरुष है जिसके परिणाममे विकारका जागरण नहीं। अच्छा विकारका जागरण कहां नहीं जहा वस्तुका सत्य बोध हो। वहाॅ जागरण नहीं जहाँ पर्यायबुद्धि है, पर्यायदृष्टि है, पर्यायको ही अपने रूप अनुभव करता है, पर्यायको ही यह मै हू ऐसा मानता है। उसको विकार न आयें यह कैसे होगा? सबसे बडा विकार तो यह ही मिथ्यात्वका बसा है कि पर्यायमे अहका अनुभव करना, यह मै हूं और मेरा जो निज सहज-स्वरूप है उसको दृष्टि न देना। तो मेरी वास्तविक कमाई क्या है ? मेरे परिणामोमें विकार भाव न आये, विकारमे मेरा परिणाम न जाये, विकाररूप मेरी परिणति न बने, यह बात अगर हुई तो यही वास्तविक कमाई है। इसको चाहे निषेधरूपसे कहलो, चाहे विधिरूप से। मुझमें ज्ञातादृष्टा रहनेकी वृत्ति जगी रहे यह ही मेरी वास्तविक कमाई है। मै घबड़ा न सकूं, अधीर न होऊँ, अस्थिर न होऊँ, विषम परिणामोमे न आऊँ, जो है उसका ज्ञातादृष्टा रहूँ, ऐसी जाननहार देखनहारकी वृत्ति रहती है तो वह है वास्तविक कमाई।

बाह्य परिग्रहके सचयमे लाभ समझनेकी मूढता—अच्छा तो जो लोग समझते हैं कि बहुत परिग्रह जुड़ गया, सचय हो गया आदिक बातें जो करते हैं तो क्या वह लाभ नहीं कहलाता ? हाँ हाँ वह लाभ नहो है । परिग्रह का सचय होना, बाह्य अर्थका एकत्रित कर लेना या जोड़ जाना यह कोई लाभ नहीं है । अच्छा लाभ नहीं है तो क्या हानि है ? हाँ हानि तो कह सकते, क्योकि उसमे विकल्प, सक्लेश, चिन्ता, भय आदि ये सभी बातें बनती हैं और यह ही जीवकी बरबादी है। अच्छा, तो फिर एक प्रश्न होता । तो कोई गृहस्थ ऐसा करके देखे तो सही कि कुछ न जोडे, कुछ न रखे । अगर सभी लोग ऐसा सोच लें याने मुनि की तरह सभी बन जायें और गृहस्थ कोई हो ही नहीं तो बात कैसे बनती है किसीकी व्यवहारमें ? तीर्थप्रवृत्तिकी बात कैसे बनेगी ? तो पैसा तो आवश्यक है ना, ऐसा एक प्रश्न उठता है ? तो उसका उत्तर यह है आवश्यक अनावश्यकके प्रसगमे कि पुण्योदयके अनुसार जैसा जो कुछ स्वय प्राप्त हो जाता है एक साधारण परिश्रम करते हुये, साधारण उद्योगमे रहकर भी जो कुछ होता है उसमें व्यवस्था बनावें । गृहस्थ हैं इसलिये कहा जा रहा है क्योकि गृहस्थ नाम उसका है जो त्रिवर्गका समान सेवन करता है । त्रिवर्ग मायने धर्म, अर्थ काम, इनका जो समान सेवन करता है उसे कहते है गृहस्थ । और गृहस्थका मोक्ष तो लक्ष्य है और प्रयोग मे आ रही ये तीन बातें। सो बस इतना ही कर्तव्य है, किन्तु परिग्रहमे उपयोग लगाकर चलना, धुन बनाना, दृष्टि रखना, से सब हैं अपने आत्माके लिये बाधक । तथा जब यह बाह्य प्रसंग हट जाये, कुछ शुद्धता आ जाये तब फिर केवल आत्माका ही काम रहता है । तो अन्य वस्तुओ का जो लाभ होता है वह वास्तविक लाभ नहीं, वह तो एक कमी है, बरबादीका हेतुभूत है। सबसे बड़ी विपत्ति आती मरण समयमे मोही जीवको, क्योकि लाचार तो हो ही गया । इस भवसे जाना तो पड़ेगा ही, पड़ ही रहा है, छूट ही रहे हैं प्राण और खबर आ रही है धनकी, वैभवकी । इतना सब कुछ कर लिया तो प्राण तो छूट रहे और वैभवकी आसक्ति है उसके तो उस समय जो उसे खेद होता है उसका और कोई उदाहरण क्या हो सकता है ? तो अपनी सबसे बड़ी कमाई यही है कि अपना सहजस्वरूप अपने ज्ञानमे रहे, उससे अधीनता नहीं घबड़ाहट नहीं, भय नहीं, चिन्ता नहीं, क्षोभ नहीं और स्वभावके दर्शन होनेके कारण परमसतोष है, परमतृप्ति है ।

नोकर्मके प्रसगसे हटनेका पौरुष करनेका कर्तव्य—हाँ तो बातें अभी दो आयीं कि वास्तविक कमाई तो यह है कि मुझमे क्षोभ न आये और क्षोभके कारणभूत बरबादीका जो फंदा लिये हुए है ऐसा जो कुछ बाह्य वस्तुओका लगाव है वहाँ बाह्यवस्तुओका लाभ हो तो वह कोई लाभ नहीं कहलाता । तब क्या करना अपना कर्तव्य है सो सुनो—विकार होते हैं

ना दो प्रकारके। अबुद्धिपूर्वक विकार और बुद्धिपूर्वक विकार। अबुद्धिपूर्वक विकारमें हम क्या करें? और उसकी चिन्ता भी मत करें, क्योंकि जो अबुद्धिपूर्वक विकार है याने जो अव्यक्त विकार है वह है तो सही कर्मफल और है क्षोभकी स्थिति, किन्तु वह संसरण बढ़ाने का हेतु नही हो पाता, जो बुद्धिपूर्वक विकार है, व्यक्त विकार है, विकारमे इस उपचरित निमित्तमें फसनेकी स्थिति है। जान जानकर इन विषयसाधनोमें उपयोग जोड़ते हैं आसक्त हो होकर यह है संसरणके और आकुलता पाते रहनेके साधन। सो कर्तव्य यह है कि ज्ञान-वल तो कुछ पाया है ना, तो ज्ञानका ऐसा सदुपयोग करें कि मेरेमे व्यक्त विकार न हो सकें। वह उपाय क्या है? नोकर्मके प्रसंगसे हटकर रहना। व्यक्तविकार आया करते हैं उपचरित निमित्तमें उपयोग जोड़नेसे और तब ही तो कहते हैं कि यह जो बाहरी उपचरित निमित्त है ये निमित्त नहीं कहलाते, ये आश्रयभूत पदार्थ हैं। इनको नोकर्म शब्दसे कहा है। जीवविकार के लिये तो कर्म ही निमित्त हैं, अन्य कुछ निमित्त नहीं होता और जो बाहरी बातें हैं, जिनका ख्याल करके, जिनका उपयोग जोड़कर क्रोध, मान, माया, लोभ बनता है वे पदार्थ नोकर्म है, आश्रयभूत वस्तु हैं तो इतना पौरुष यहाँ चल सकता। हम आश्रयभूत पदार्थका आलम्बन न लें, नोकर्मका प्रसग हटा दें। तो देखो ज्ञानी तो वह है ही। जिसने अपने सहज स्वरूपका अनुभव किया है और इतनी ऊची विरक्ति हुई नहीं कि वे सकल संन्यास कर सकें याने सब कुछ छोड़ सकें, ऐसी विरक्ति अभी आयी नही तब रहना पड़ रहा है गृहमें, लोकमें, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम—इन तीन वर्गोंके प्रसगमें लगे ही हुये हैं तो ऐसी स्थितिमें ज्ञानी पुरुष अधिकाधिक यह पौरुष करता है कि नोकर्म प्रसंग न रहें और उनमें हमारा उपयोग न जुड़े।

नोकर्मके प्रसगसे निवृत्त ज्ञानीके ज्ञानकी ज्ञानमे वर्तना—नोकर्मके प्रसंगसे जब हटना बनता है तब ज्ञान क्या करता है? पहले तो ज्ञान इन विषयभूत साधनोके विकल्पमें रहता था, अब कुछ ज्ञानबल पाया और इन विषयसाधनों में नहीं रम रहा। तब कहा रमेगा वह? बाह्यपदार्थोंका तो छोड़ दिया आश्रय, याने उपयोगमें कोई बाह्यपदार्थ लिया नहीं, तो क्या यह ज्ञान निराधार बन जायेगा? जैसे कि जो दार्शनिक तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं ज्ञानका याने विषयोसे, इन बाह्य साधनों से ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा कोई दार्शनिक मानते हैं और उसमें युक्ति यह देते हं कि अगर बिषयोसे पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो यह व्यवस्था कैसे बनती कि हमारे ज्ञानने खम्भेको जाना, दरीको जाना। तो जो प्रतिनियत जान-कारी अनुभवमें आ रही उससे सिद्ध है कि खम्भेसे ज्ञान निकलकर मुझमें आया तो हमने खम्भेको जाना। जिस किसीसे ज्ञान निकलकर मुझमें आया तो हमने उसको जाना। यह

व्यवस्था बन जाती है। ऐसा कुछ दार्शनिक उत्तर देते। तो यों जो लोग विषयोसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हैं वे लोग तो क्या उपाय करेंगे, किन्तु जैनसिद्धान्तका निर्णय है कि किसी भी बाहरी पदार्थसे मेरे स्वरूपका कोई तथ्य आया, ऐसा नहीं है। तो नोकर्मका प्रसग इसलिये हटाया जाता है कि वह हमारे विकारके आश्रयभूत बनता है। कहीं बाहरी पदार्थोंसे मुझमें विकार आया हो तब हमने उनको अलग किया हो, ऐसी बात नहीं। विकार तो नहीं आता किसी भी परवस्तुसे, मगर परवस्तुका विकल्प करते हुयेमे ही विकार जगता है। कोई सा भी विकार हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या और वहां कोई यह कहे कि तुम भाई विकार तो खूब करो, छुट्टी देते हैं, पर एक शर्त है कि तुम किसी भी परपदार्थका विकल्प न करो, किसी भी परपदार्थकी दृष्टि न रखो तो बताओ व्यक्त विकार होगा क्या ? तो व्यक्त विकार मिटानेके लिये पौरुषकी चर्चा है, अव्यक्त विकार स्वयं मिटेगा। जैसे जिस पेडकी जड़ कट गई वह हरा कब तक रहेगा? स्वय मिटेगा। इसी तरह विकारकी जड़ है मोह। जैसे जड़मे पानी डालो तो वृक्ष हरा भरा रहता और जडोको तो खूब सूखी रखें ओर पत्तोको, डालियोको, फूलोको खूब सीचता रहे तो क्या वह वृक्ष हराभरा रह सकेगा ? नहीं रह सकता। तो जैसे पेड़के हरे भरे रहनेका साधन है मूलसिंचन, इसी प्रकार इन विकार भावो का कारण है मोह-भाव। मोहभाव हटे तब भी विकार कुछ समय तक रहते हैं मगर उनकी धारा टिक नहीं सकती। क्योंकि मूल नष्ट हो गया है। तब देखो भाई विषयोसे तो मेरेमें कषायें आती नहीं, किन्तु उनका त्याग यों करना पड़ता कि हमारे विकारके वे आश्रयभूत हैं और यही सब चरणानुयोगमे बताया गया है।

नोकर्मके प्रसगसे हटकर ज्ञानमे रमना आगमोपासनाका प्रयोजन——सभी अनुयोगोका कथन इस आत्मकल्याणार्थीके लिये साधन है। महापुरुषोके चरित्र पढकर भीतरमे विषयोसे हटकर वैराग्यमें लगनेकी एक भावना बनती है। करणानुयोगके पढनेसे जो पढने वाले हैं वे खुद अनुभव कर सकते हैं कि इसमें वैराग्यके लिये कितने साधन है ? चरणानुयोग मे बाह्य वैभवोका परिहार बताया है तो वह अध्यवसानके निषेधके लिये। समयसारमें इसका समर्थन यो किया है——जहाँ यह गाथा आयी—वत्थुं पडुच्च ज पुण अज्झवसाणं दु होई जीवा णं" भाई हमें नम्बर वम्बर तो कुछ याद नहीं, कारण कि हमारी दृष्टि खण्डन मण्डन करनेकी नहीं रहती। टीकामें श्री अमृतचन्दजी सूरि.ने कहा—न हि बाह्यस्त्वनाश्रित्याध्यवसानमात्मा-नपुलभंते। कोई भी विकार अपना स्वरूप बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अच्छा जरा उस क्रोधका तो वर्णन करो कि जो क्रोध तो है, मगर किसी पर आया न हो। अब करो वर्णन कैसे करते ? अरे बाह्यवस्तुका आश्रय पाकर ही अध्यवसान

अपना स्वरूप व्यक्त कर पाता है तब ही जब यह प्रश्न किया अमृतचन्द्र सूरिने यह वर्णन करके कि बाह्य वस्तु अध्यवसानको पैदा तो नहीं करते, किन्तु अध्यवसानके हेतुका हेतु है वह तब फिर बाह्यवस्तुका परिहार क्यों बताया ? किमर्थ बाह्यवस्तुप्रतिषेध. ? ऐसा प्रश्न हो तो साफ स्पष्ट उत्तर है–अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानके निषेधके लिए बाह्य वस्तुका परित्याग किया जाता। उदाहरण देते हैं कि देखो अगर कोई युद्धमें लड़ता है तो अपनेमें यह ही तो अहंकार भरता, कि आज मै वीर माताके पुत्रको मारूँगा क्या कोई ऐसा भी कहता कि आज मैं वध्याके पुत्रको मारूँगा ? जैसे बच्चे लोग खेलमे दवा बतलाने लगते कि देखो भाई आकाशके तो कोपल लावो और बादलोंका धुवाँ लावो और गधेके सीगमें उसकी रगड़ करके लगाओ। बताओ ऐसा हो सकेगा सकेगा क्या ? अरे वह तो एक बात है, भाव तो नहीं बनता, विकार तो नहीं बनता। बाह्यवस्तुका आश्रय करके ही व्यक्त विकार बनता, इसलिए हम आप सबको यह आवश्यक है कि अगर प्रगति चाहते हैं और अपनेमें ज्ञानानुभूतिके अवसर चाहते हैं तो व्यसनोके प्रसगमे न लगें, पापके प्रसगमें न लग। और उन व्यसन पापोके जो साधन है, आश्रयभूत पदार्थ हैं उनका परित्याग करें। नोकर्मके प्रसगसे हटकर रहेगे तो ज्ञानबल तो चाहिए ही चाहिये। उसको गौण न करना, स्वभावकी दृष्टिका तो सारा बल है। अब वहाँ नोकर्मका प्रसग हटे, व्यक्त विकार न हो सकें तो विशिष्ट कर्मबन्ध होगा नहीं। तो व्यक्त विकारके हेतुभूत निमित्तभूत जो कर्मविपाक कर्म हैं उनका भी क्षय हो जाता है। पौरुष क्या करना ? अपने आत्मबलको सभालें, ज्ञानबलको उत्पन्न करें, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव करें और नोकर्मके प्रसंगसे हटें। इस तरह अपने ज्ञानको ज्ञानमें रमाकर जब बाह्य प्रसंगमें उपयोगको न रमाया तो उपयोग निराधार तो रहता नहीं। स्वय आधार है, स्वय विषय बन गया, उस समय यह ज्ञानमे रम गया। तो विषय प्रसगसे हटना, ज्ञानमें ज्ञानका रमना, यह बात बन सकी तो कर्मविपाक फेल हो जाते हैं, शिथिल हो जाते हैं, व्यक्त नहीं हो पाते हैं। तो इस तरहसे कर्मको फेल कर देना यह सच्ची शूरता है, और वह सच्ची शूरता कैसे मिलती कि विषयो का उपयोग हटावें और अपने सहज ज्ञानस्वभावमें उपयोग लगावें तो जो विकास होगा वही वास्तविक अपनी कमाई है।

( ५३ )

जहाँ जाना है उससे उल्टा कदम बढ़ाकर क्या वहाँ पहुँचेंगे जहाँ शान्ति पाना है ? उससे उल्टी दिशामें दृष्टि हो तो क्या शान्ति मिलेगी ? शान्ति पाना है आत्मामें, सो अनात्मा से हटो आत्मामें आवो, शान्ति मिलेगी।

शान्तिधामसे विपरीत कष्टधामकी ओर धुन रहनेमें अकल्याणका विस्तार

किसी पुरुषको पूर्वदिशामें स्थित ग्रामको जाना है और चल देवे पश्चिम दिशामें तो वह अपने इष्ट स्थानपर कैसे पहुँच सकता है ? बल्कि जितना-जितना विपरीत दिशामे बढ़ते जायेंगे उतना ही उतना निर्दिष्ट स्थानसे दूर होते जायेंगे। ऐसे ही आत्माको चाहिए आनन्दधाम। जहाँ आनन्द प्राप्त हो ऐसे स्थानपर आत्मा चलना चाहता है, वह आनन्दधाम तो इष्ट है और पहुँच जाय क्लेशधाममे तो फिर आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? आनन्दका धाम है, शान्तिका स्थान है तो यह स्वयं आत्मा, क्योंकि आत्मा ही अपने सहजस्वरूपके परिचय द्वारा अपने स्वरूपमे मग्न होकर शान्ति पाता है। शान्ति पानेका दूसरा उपाय हो ही नहीं सकता। अपने स्वरूपको छोड़कर, बाहरी पदार्थमें उपयोग जोड़कर कोई शान्ति चाहे तो यह असम्भव बात है। तो शान्तिका धाम है यह आत्मा और क्लेशका धाम है अनात्मा। परपदार्थ या परभावमे उपयोग लगाये कोई, वहाँ ही दृष्टि जोड़े, वहाँ ही आशा रखे तो उस पुरुषको कष्ट ही है, शान्ति प्राप्त नहीं होती। यदि शान्ति पानेकी भावना हैं तो अनात्मासे तो हटें और अपने आत्मस्वरूपमे लगें, ऐसा करनेसे शान्ति क्यो मिलती है कि शान्ति है ज्ञानकी विशुद्ध वर्तना। जहाँ ज्ञान ज्ञाता दृष्टा रूपसे ही चल रहा है, ज्ञानमे विकल्प उलझनें नहीं आती हैं तो ज्ञानकी स्वच्छ वृत्तिमें क्लेशका ही प्रवेश नहीं होता। क्लेश वहाँ ही होता है जहाँ यह उपयोग अपने स्रोतभूत ज्ञानसागर आत्मस्वभावसे हट गया। जैसे कोई मछली अपने आधारसे जल से हट जाय, जलसे बाहर पड़ जाय तो जैसे वह तड़फती है, तड़फ तड़फकर बरबाद होती है, ऐसे ही अपना उपयोग स्रोतभूत ज्ञानसागरसे आत्मस्वभावसे चिगकर बाहरमे आ जाय, लग जाय, पड़ जाय तो यह उपयोग अनेक विकल्प विडम्बनायेंकर करके अपने आपको बरबाद कर देता है। तो शान्ति मिलेगी तो खुदके स्वरूपमे मिलेगी, बाहरमे उपयोग लगानेसे शान्ति नहीं मिलती। तो शान्तिधाम है आत्मतत्त्व और कष्टधाम है अनात्मतत्त्व। शान्तिधामसे विपरीत दिशामें कष्टधाममे पहुँचनेमे आत्माका अहित ही अहित है।

*अनात्मतत्त्वसे हट जानेमे आत्महित*— देखिये आत्मतत्त्व तो शान्तिधाम है ही और उसमे उपयोग लगे तो शान्तिका प्रकट परिणमन होता है, किन्तु अनात्मतत्त्वमें जो परपदार्थ हैं वे क्लेश धाम नहीं हैं, किन्तु उनमें उपयोग जोडकर जो परभावरूप अनात्मतत्त्व हैं उनमें लगाव होता है तो अशाति मिलती है। इसलिए अनात्मतत्त्वका सही अर्थ है परभाव, आत्मा के विषय कषायके परिणाम। इन विषय कषायोमे आत्माका उपयोग लगे तो इसको अशान्ति होती है। तब क्या करना ? ऐसा ज्ञान बनायें, वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपका मनन करें। प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेशमें है, एकका दूसरेमे कुछ प्रभाव परिणमन गुण कुछ भी प्रवेश नहीं करता, यह तो उन उपदानों की ही कला है कि वे कैसा-कैसा निमित्त पाकर किस-किस रूपमे परि-

णमन कर जाते हैं। तो ऐसा एक वस्तुस्वातंत्र्य जानकर अनात्मासे तो हटाना और आत्मामें लगना—यह है अपनी शान्तिका उपाय। आत्मामे लगनेका अर्थ है कि कोई अपनेको ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करता रहे, जाननेमें जानन ही आये और जाननमे जानन ही आनेके कारण वहाँ विकल्पका अवकाश न रहे, बस यही है शाति पानेकी पद्धति। तो शांतिकी आशा से जो नाना परिश्रम किए हैं उन परिश्रमोंको अन्तरंग साधन न समझें, हाँ वे भी व्यवहारमे साधन हैं, पर वास्तवमे तो अपने आत्मस्वरूपका अपने ही ज्ञानमें धाम रहे, यही एक शान्तिका उपाय है।

( ५३ )

आत्मामें क्लेशका कुछ काम नहीं, यह तो कल्पना करके क्लेशका हौवा बना लेता है। यदि क्लेश नहीं चाहते हो तो जैसे निराले ज्ञानमात्र हो वैसे स्वयको जानने लगो, स्वरूपसे बात सब उत्तम है, उसे भूलकर व्यर्थ कुरूप मत बनो, बस क्लेश खत्म।

कष्टरहित आत्मामे कष्टोंकी जननी कल्पना—आत्मा अज्ञानवश निरन्तर कष्टका अनुभव कर रहा है, पर कष्टकी बात विचारो तो सही, वह कष्ट आत्मामे है क्या या वह कष्ट बनाया जाता है ? आत्मामें कष्ट नही। आत्माका स्वभाव कष्टका है ही नहीं। किसी भी पदार्थका स्वभाव उस पदार्थको बाधा करनेके लिए नहीं होता। तो मेरे आत्मामें कोई स्वरूप ऐसा नहीं जो आत्माको बरबाद करे, पर होता क्या है कि जब परसग पाकर आत्मामे उस प्रकारका प्रतिबिम्ब छाया होती है जो कर्मोंके कष्टके अनुभाग रूप है तो यहाँ उपयोगमे मलिनता आयी और उस मलिन उपयोगमें उपयोगका अनुभवना, तावन्मात्र अपने आत्माको पहिचानना बस इसी अज्ञानके कारण इस जीवमे कष्ट उमड जाते हैं। वास्तवमें आत्मामे कष्ट का कोई काम नहीं है। यह आत्मा केवल कल्पनायें करके क्लेशका हौवा बना लेता है। जैसे हौवामें कोई चीज नहीं है, पर भावनामें हौवा एक ऐसा कुछ बन जाता है कि जिसका डर मानते और कुछ प्रवृत्तियाँ करते है। ऐसे ही आत्मामें कष्ट तो कुछ नहीं है, पर अपने ज्ञानको इस तरह परिणमा डालते हैं कि जिस प्रकारके परिणमनमें आत्मा अपनेमे कष्ट महसूस करने लगता है। तो जितने भी जगतमें कष्ट हैं, जो कुछ भी क्लेश हैं, विपदा हैं वे सब कल्पना द्वारा बनाये गए हैं। यदि क्लेश न चाहिए तो जैसा अपना स्वरूप है वैसा ही अपने को जानने लगें। क्लेश खत्म। अपना जो स्वरूप है वह तो सबसे निराला है। अपना स्वरूप हैं ज्ञानमात्र। वैसा ही अपनेको जानने लगें, क्लेश खत्म हो जायगा।

कष्टरहित अन्तस्तत्त्वके अनुभवसे कष्टोकी समाप्ति—अपने स्वरूपमे कलुषता नहीं है यह सहजस्वरूप है। आत्माके स्वरूपमे सभी बातें उत्तम हैं, पूज्य हैं, आदरणीय हैं। ज्ञान-

तो वह भी पूज्य, दर्शन हो तो वह भी पूज्य। पूज्य वह होता है जो निराकुलताकी ओर बढ़ रहा हो। तो आत्मस्वभावका दर्शन भी निराकुलता की ओर ले जाने वाला है। जैसा ज्ञानमात्र अपने आपका स्वरूप है उस प्रकार अपनेको अनुभवने लगें कि मैं सम्पूर्ण जगतसे निराला केवल ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व हूँ, ऐसी दृष्टि होने पर क्लेशका नाम नहीं रहता। ऐसी दृष्टि न जगे तो बाहरमें दृष्टि फंस जानेके कारण क्लेश ही क्लेश रहा करता है। भैया! अपनेको जानें, अपनेमें मग्न हों, यह है प्रक्रिया शान्ति और आनन्दस्वरूप होनेकी, पर एक बात ही बात होती है कोई और उसका प्रायोगिक रूप कुछ नहीं हो तो उसे शान्तिका लाभ नहीं मिलने का। ऐसे ही जगत को जानकर अगर कुछ चतुर बन गए, कुछ बोलनेकी कला पा गए, कुछ लौकिक विद्या प्राप्त कर ली तो वह एक केवल कहनेमे ही अपना समय गुजारना है। जैसे अपना शान्तिधाम प्राप्त हो वैसे ही प्रयोग करनेमे अनक बाधायें होती हैं। उनका मुकाबला करना होता। कोई भी अमूल्य बात कष्ट पाये बिना, कष्ट सहन किए बिना प्राप्त नहीं हो पाती। तो अपना स्वरूप पाना है तो कष्ट आये, उपसर्ग आये, उन सबको सहन करनेका साहस जगायें, वह सहज मिलेगा भेदविज्ञानके बलसे। सो भेद-विज्ञान जगाकर ज्ञानी बनें और सत्य सन्तोष पाकर समस्त अज्ञान विपदाओं को दूर करदें।

( ५४ )

स्वयंके स्वयसिद्ध सहजस्वरूपकी सुधमे ही स्वयका हित है, सहजसिद्ध स्वयकी दृष्टि रखते हुए क्षण व्यतीत करनेमें ही बुद्धिमानी है। बाहर सब कुछ अपने लिये न कुछ है। कुछ का लगाव अपनेको न कुछ बना देता।

स्वयंसिद्ध सहजस्वरूपकी सुधमे आत्महित—अपनी भलाई किसमें है? हम सुखी शान्त हो सकें, आनन्दमग्न रह सकें, ऐसा होनेका क्या उपाय है? तो देखो बाहरी क्रियावो से, बाहरके पदार्थोंमे अपना कुछ उपयोग करनेसे, सम्बन्ध जोड़नेसे आत्महित नहीं होता, यह तो गणित जैसा उत्तर है। क्योंकि आत्मासे उपयोग हटाकर बाहरी अनात्माओंमे जैसे भलाई और सुखकी आशा करें यह बात कभी सम्भव नही है कि वह सुख पा सके। मनुष्य अपना कर्तव्य तो करे और कर्तव्यमें आसक्त न हो। करनेका कर्तव्य है व्यवहार और निश्चयसे आत्मा अपने ज्ञान द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वभावमे रत होनेका यत्न करे तो वहाँ आत्महित है। आत्महित कहाँ है? खुद ही खुदके सहज सिद्ध, सहजस्वरूपकी सुध करे तो आत्महित है। देखो ऐसे निजस्वरूपकी दृष्टि रखते हुए समय व्यतीत हो तो वे क्षण सफल हैं। आत्मा की बुद्धिमानी इसीमें है कि आत्माका उपयोग इस सहज ज्ञानस्वभावमे ही लगा रहे। तो अपना हित कहाँ मिला? अपने आपके स्वरूपमे? बाहरमें अपने हितकी आशा न रखें।

बाहरमें तो जो कुछ भी है सब कुछ वह सब अपने लिये है। एक सही बात ज्ञानमें समा जाये कि मेरे आत्माके प्रदेशसे बाहर जो कुछ भी है वह मेरे लिये न कुछ है, क्योंकि दूसरा पदार्थ मेरा परिणमन नहीं कर सकता और उसका लगाव रखते हैं तो अपनेको कुछ अच्छा न बना देंगे और न कुछ कर देंगे। बाहरी पदार्थोंमें उपयोग गडानेसे विकार कुछ न कुछ बन जाता है। तो बाहरी पदार्थोंमे उपयोग न गड़ाये तो हम अपने लिये अपने स्वरूपमें महान बन जाते हैं। जो कुछ बाहर है उसका लगाव भी आकुलता ही उत्पन्न करता है। तो मै सर्वस्व कब कहलाऊ जब अपने स्वरूपमें उपयोग दूं और मै न कुछ कब कहलाता जब अपने स्वरूपको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमे अपना उपयोग लगाता हूं। तो बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न लगे, खुदमें उपयोग लगे, इसका साधन यह है कि एक बार तो अपने ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपका अनुभव करके सत्य आनन्द पा लें। अनुभवोंमें घनिष्ट अनुभव है आनन्दका अनुभव, ज्ञान द्वारा जाननेका अनुभव। यहाँ तो कुछ बहिर्मुखता मिल जायेगी, मगर आनंदके अनुभवमें थोड़ा भी फर्क नहीं रहता। जैसे कि मोटे रूपमे जान लो कि जब पदार्थोंको जानते हैं तो हम जगरूप तो बनते हैं पर मगरूप नही बनते और जब आनन्दका अनुभव करते हैं तो वहां हम मगरूप बनते हैं, जगरूप नहीं बनते। आत्माका स्वरूप जगमग है। भीतर में कुछ पाना, बाहरमे कुछ पाना यही जगमगका स्वरूप कहलाता है। यद्यपि प्रदेशदृष्टिसे आत्मा बाहर कुछ नहीं पाता, मगर आत्माके उपयोगकी जो वृत्ति है उस ही केये दो प्रकार पड़े है—अपनेमें पाना, बाहरमें पाना। जो बाहरमे पानेकी बात है वह तो है ज्ञानकी बात। जैसे किसी पदार्थको जाना, ऐसे ही तो लोग जानते हैं कि वह है पदार्थ और जब आनन्दका अनुभव बनता तब बाहरकी ओर उछलकर आनन्द नहीं मिलता, किन्तु अपने आपकी ओर जमकर ही आनन्द पाया जा सकता।

आनन्दानुभवकी पद्धति अन्तर्मुखता—भैया! आनन्द तो एक अलौकिक बात है। दुःख और सुखका अनुभव भी अपने आपकी मुडती हुई जैसी स्थितिमें होता है। यद्यपि उस वास्तविक आत्माकी ओरसे मोड़ नहीं है, उस वक्त भी बाहरी पदार्थोंका ख्याल है, विकल्प है, पर बाहरी पदार्थोंका सभी विकल्प ख्याल रहकर भी उपयोगमें जो सुख और दुःख का अनुभव होता है सो कुछ अन्तरमें झुककर अनुभवा जाता। लोग समझ तो लेते कि विकल्प बाहरकी ओर है, मगर मात्र बाहरकी ओर ही विकल्प रहे तो वहां कुछ अपनेमें सुख दुःखका अनुभवन नहीं हो पाता। भीतरमें उस विकल्पको, अनात्मतत्त्वको रचा पचाकर अपने उस विभावमें समाकर सुख दुःखका अनुभव होता है। फिर आनन्द तो एक विशुद्ध परिणमन है। वहां तो परपदार्थ आश्रयभूत भी नही हैं। तो जहां परपदार्थ आश्रयभूत ही नहीं है वहाँ

जो आनन्दानुभव होता है वह खुदमें रच पचकर जमकर होता है। तब आनन्दलाभके लिए कर्तव्य यही है कि बाहरी पदार्थोंमे न रचे पचें और आपके स्वरूपमे, स्वभावमे झुकें, मग्नता लायें तो विषय कषायोंकी मलिनता दूर होती है और अपने आपके सहज ज्ञान-स्वरूप की एक कीर्ति व्यक्ति प्रकट होती है।

आत्मीय सत्य शिव सुन्दर स्वरूपको लखकर कुरूप बनानेकी मूढता तजनेमे आत्महित—अहो, प्राणी कैसा अपने सुभग सुन्दर आनन्दरूपको भूलकर बाहरी पदार्थोंमें उपयोगको लगाकर अपनेको कुरूप बना रहे हैं ? रूपवान बनना और कुरूप बनना—यह आत्मामे किस तरह बनता है ? जब कि आत्मामे कोई विकल्प नहीं, कषायें नहीं, केवल एक ज्ञानमात्र वृत्ति ही बिराजी है उस समय तो आत्मा कहलाता है स्वरूपी, अपने स्वरूपमें रहने वाला और जहाँ कर्मके अनुभागकी छाया होती है, मलीमसता होती है वहाँ हो जाता है आत्मा कुरूप। कुरूपको अपनाना ही कुरूपी बनना कहलाता है। तो कुरूप न बनो, अपने स्वरूपमें रहो। चैतन्यभावके अनुरूप ज्ञानोपयोगी वृत्ति जगना सो तो स्वरूप है और स्वभावके प्रतिकूल रागद्वेष विषयकषाय इनके क्षोभमें रहना यह कहलाता है कुरूप बनना। तो हे आत्मन् ! तू प्रभुसमान है। अपने अनन्त ज्ञानानन्द धामकी संभाल कर, बाहरी उपचरित निमित्तोंमे अपना उपयोग फसाकर जुडाकर अपने आपको क्षुब्ध मत बना, कुरूप मत बना। देख अपने आपमे अपना सत्य आराम कर। अपने आपमे निराकुलताका अनुभव कर। निराकुल स्वभाव मे दृष्टि जायगी तो निराकुलता मिलेगी और आकुलताकी प्रकृति वाले राग द्वेषादिक विभावोमें दृष्टि जमेगी तो आकुलता मिलेगी। यद्यपि पर्याय असत्य नहीं है, विभाव पर्याय है वह भी उस कालमे है। लेकिन विभाव पर्यायका आश्रय करके जो मलीनता बनती है वह मलीनता कुरूप है, उसका आदर करने वाला मनुष्य कभी कष्टसे दूर नही हो सकता। अपना अनुभव कर। मैं ज्ञानमात्र हू। मेरेमे ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान-सिवाय अन्य कोई तत्त्व नहीं है, अपने को अनुभव कर कि मैं ज्ञानसे परिर्ण हू, ज्ञानसिवाय मेरेमे और कुछ नहीं है। अपनेको अनुभव करें कि मैं आनन्दमय हूं। बनावट, सजावट न कीजिए तो ज्ञानानुभवका सत्य आनन्द अवश्य पाया जा सकता है। हम बाहरकी कल्पनायें तजें और अपने ज्ञानमे अपने आत्माके वैभवको निरखते रहे और तृप्त रहे, ऐसे क्षण बीतें तो निकट कालमे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

( ५५ )

बाहरकी कुछ भी घटनासे निजमे कुछ भी उपद्रव नहीं होता, अज्ञानी खुदमे कल्पनाओंके पुष्प-गुच्छ बनाकर कष्टफलको जन्म देता, बाह्य पदार्थसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं, फिर

वहाँ शरण क्या, शरण तो मात्र स्वय है।

बाह्य घटनाओसे निजमे उपद्रवकी अशक्यता—लोकमे प्राणी अपने आपके स्वरूप को न जानकर बाहरके पदार्थोंसे, उनकी घटनाओसे अपना सम्बन्ध समझते आये हैं और इस खोटी समझके कारण यह विश्वास किए हुए हैं कि उन बाहरी पदार्थोंकी परिणतिसे मेरेमें सुधार और बिगाड़ होता है। और ऐसा मानकर जगतके इन पदार्थोंमें इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि करते हैं, लेकिन जगतके ये बाह्य पदार्थ ये मेरे लिए कुछ भी उपद्रव नहीं हैं, इनसे मेरेमे उपद्रव नही आता। इनका काम तो इनके प्रदेशोमे होकर वहीं समाप्त हो जाता है, फिर किसी वाहरी पदार्थसे मेरेमे उपद्रव कैसे आयगा? उपद्रव बाहरमें ही है। उपद्रव भीतरी मान्यताका है। भला अपना सब कुछ हो छूट जायगा। यहांसे कौन जायगा साथ? जब सब कुछ छूट जाना है तब कितने दिनोंके लिए? मानो इस भवमें १०-५ वर्ष जीवित रहते हैं तो सारे कालोके सामने १०-५ वर्षकी गिनती क्या है? थोडेसे समयके लिए स्वभावसे हटकर जो अन्य-अन्य कल्पनाओंमे चित्त जमता है बस यह ही हमारे लिए विडम्बना है, बाहरी पदार्थ मेरे लिए विडम्बना नहीं। वे तो हैं अपनी सत्तासे। जिस प्रकार रह सकते है सो रहा करते हैं। तो बाहरमें मेरा उपद्रव नहीं, बाहरसे उपद्रव नहीं, किन्तु बाह्यपदार्थोंके विषयमे जो कल्पनायें करते हैं वे उपद्रव हैं।

कल्पनापुष्पके ऊपर कष्टफलोकी निष्पत्ति—यह जीव खुद ही अज्ञानवश देखो कल्पनाका फूल उगाता अपनेमें। जब कल्पनाके फूल लग गए जीवमे तो फिर फूलके बाद होते हैं फल। फूलके आधारपर बनता है फल तो कल्पनाके फूलके बाद यहाँ कष्टके फल लगने लगे। जब किसी वर्ष आममें मौर नहीं आते मायने फूल नहीं लगते तो फल कहांसे लग जायेंगे? ऐसे ही जीवमे यदि कल्पनाके फूल नहीं उगते तो इसको कष्ट कैसे मिल जायेंगे? तो जानना कि हम अपने आपके भीतर कल्पनायें जगाते और दुःखी होते। बाहरके पदार्थोंकी किसी प्रकार की घटनासे मेरेमें उपद्रव नहीं आता। तब वाहरी पदार्थोंको शरण मानकर उन पदार्थोंकी ओर ही आकर्षित रहते हैं, यह तो विवेक नही है। वहाँ कुछ शरण नहीं है। शरण तो अपने आपमें अपने स्वभावका दर्शन है। देखो इस जीवपर थोड़ा मैल नहीं लगा। बहुत मैल का वोझ है और वह बोझ केवल एक रूपमें चल रहा है क्या कि परपदार्थको अपना कुछ समझना, सुख साता पानेके लिए स्वरूपका सच्चा ज्ञान और दो पदार्थोके बीच भेदविज्ञान होना। जहाँ ज्ञान जगा, मैं जुदा, कर्मफल जुदा वहाँ यह जीव अन्य तत्त्वोके रूपमें कैसे अपना परिणमन बनायगा? तो मोटी बात दो तीन कही जा रही हैं कि बाहरकी घटनाओसे मुझमे कुछ भी उपद्रव नहीं आता, किन्तु अपने आपमें कल्पनायें बनाता है, बाहरी पदार्थोंमे उपयोग

जोड़ता है, ममता लगाता है और दुःखी होता है। इन मनुष्योंसे माना हुआ सुख इतना हो तो है कि कुछ लोग कह दें कि यह बहुत समझदार हैं, बहुत विशेष धनवान हैं, सो यह कल्पनामात्र है तो कल्पना न करें और सुखी हो, यह ही उपाय है। कल्पनायें न करें—इसका उपाय क्या है ? मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा ज्ञान करें। किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा ज्ञान करनेका उपाय क्या है ? प्रत्येक वस्तु का सही स्वरूप जान लें।

असाधारण और साधारण गुणोके परिचयमे भेदविज्ञानका प्रकाश—देखो भेद-विज्ञानमे मदद देता है वस्तुका असाधारण गुण। जैसे चेतनमे है ज्ञान, दर्शन आदि गुण, पुद्गलमे रूप, रस आदिक गुण। तो इन गुणोकी जानकारीसे एक द्रव्यका अन्य द्रव्यमे परस्पर भेद है ऐसा समझमे आता। सो असाधारण गुणसे भेदविज्ञान होता है, यह तो बात है हो, मगर ६ साधारण गुणोका भी कोई बढ़िया मनन करें तो भेदविज्ञानका मूल परिचय बन जाता है। कैसे ? पदार्थ है, और हरएक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है। लो वस्तुत्व नामक गुणने भेदविज्ञान ही तो करा दिया। अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है। भेदविज्ञानके लिए और क्या बात समझनी होती है। फिर पदार्थ है तो परिणमता है। व्यक्त गुण हो गया, पर प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे परिणमता, परस्वरूपसे नहीं परिणमता, भेदविज्ञान बन गया। ६ साधारण गुणोके वर्णनके सम्बन्धमे कोई विशिष्ट बात नहीं कही जा रही है, फिर भी भेदविज्ञानके लिए ६ साधारण गुणोका स्वरूप भी समर्थ हो जाता है। फिर असाधारण गुणोका किसीको परिचय हो जाय तो वहाँ तो भेदविज्ञान है ही। फिर प्रदेशत्वगुण आया। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, लेकिन इसमे भी भेदविज्ञान विदित हुआ। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान हैं, लो इसमे भी भेदविज्ञान विदित हुआ। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है। तो कोई दूसरेके प्रदेश वाला है क्या सब अपने-अपने प्रदेश वाले हैं। जब यह निर्णय हो गया तो एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे सम्बन्ध माननेकी गुञ्जाइश कहाँ रहती है ? तो यो पदार्थमे भेदका ज्ञान करें और जो अनात्म तत्त्व है उससे हटकर जो शरण्य है। आत्मतत्त्व उसमें प्रीति करें, यही उपद्रवोंसे दूर होनेका उपाय है।

( ५६ )

बाहरी बातकी उपेक्षा करो, आत्माके हिताहितकी बातको महत्त्व दो, निरपेक्ष सहज-सिद्ध स्वरूपकी उपासनाके प्रसादसे अन्तः प्रसन्न रहो, प्रतिकूल चेष्टा करने वालेको दयापात्र समझकर उनको सद्बुद्धिका आशीर्वाद दो।

आत्माके हित अहितकी बातको महत्त्व आकनेमे लाभ—अब जीवकी एक आदतकी

बात और सुनो–जीवोंकी आदत, मनुष्योंकी आदत है कि बाहरी पदार्थोंकी चर्चा करना, उसका विस्तार बनाना, बाहरी बातोंके व्यवहारमें रहना, एक यह आदत रहा करती है जो वास्तविक बात, कामकी बात, प्रयोजनकी बात है कि आत्माकी चर्चा करना सो आत्माकी चर्चामें तो यह जीव महत्त्व नहीं देता और उसका उदाहरण बताओ। आत्माकी बात जहाँ सुनाई जा रही हो वहाँ नींद क्यो आती ? और अभी लश्करकी या अन्य किसी जगहकी कुछ बात छिड़ जाय तो कान खड़े क्यो हो जाते हैं यह आदत यह सिद्ध कर रही है कि इस जीवको बाहरी पदार्थोंकी घटनाका तो महत्त्व मन मेसमाया है और अपने आपके द्रव्य, गुण, पर्याय आदिककी चर्चाका महत्त्व इसके चित्तमें नहीं है, लेकिन अपनी समझ न भी बन सकी हो तो भी बाहरी पदार्थोंकी घटना बतायें, उसकी अपेक्षा आत्माके हित अहितकी बात बताया करें तो वह इस जीवको लाभ करेगा और आत्महितकी बात तो गौण, है ही नहीं। और बाहरी पदार्थोंकी चर्चायें है, तो वहाँ जीवको हित न मिलेगा। महत्त्व किसे देना ? जिसके लगावसे, जिसकी दृष्टिसे जीवको अतरंगमें प्रसन्नता आ जाय। प्रसन्नता कब आती है ? जब निर्मलता आये। आकाश निर्मल है तो प्रसन्न भी दिख रहा। तो प्रसन्नता है तब स्वयके लिए स्वय अपने सहजस्वरूपकी उपासना करें और उसके प्रसादसे भीतरमे वास्तविक प्रसन्नता जगे, वह है वास्तविक प्रसन्नता। जहाँ निर्मलता लाये बस वही अपने लिए प्रमाण है। एकीभाव स्तोत्रमें पूज्यपाद मुनिराजने स्तवन करते करते एक जगह कहा कि मैने जो घोर दुःख सहे संसारमें रुल रुलकर उनकी अगर याद आये तो रोना आ जाय। अब इस मनुष्य को याद आती है अपनी अभीसे दो चार वर्ष पहलेकी बातें, जो कोई ज्यादा विकट घटनायें नहीं हैं, इससे अनगिनते गुणे दुःख तो पूर्वभवमें मिले। यहाँ तो मौजका दुःख है। कल्पना किया और दुःख है। जैसे जब कोई बालक गृहस्थ बन जाता तो कुछ समय बाद पत्नीसे कुछ विशेष चर्चा सम्बन्धके बाद उसे माता में दोष दिखने लगते। जब कभी सास बहूमें झगड़ा होता है तो उस प्रसंगमें पति अपनी स्त्रीका पक्ष ले लेता है और मातामें दोष देखने लगता है। तो कल्पनायें करके दुःख बनाया, तो इस भवमें कल्पना का दुःख बनाया। देखो इससे अनगिनते, दुःख पूर्वभवमे थे, उनकी आज सुध नही। यदि उनकी सुध हो जाय तो शस्त्रके समान इस जीवको वेदना उत्पन्न करेंगे, ऐसे घोर दुःख सहे। अच्छा तो अब क्या करना चाहिए इस बारेमे ? क्या कहें इस विषयमें ? तो हे भगवन् ! आप ही प्रमाण हैं याने हमें क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर मिलता है आपके पूर्वकृत कर्तव्यसे। जो आज भगवान हुए हैं उन्होने मनुष्यभवमें मुनि अवस्थामें क्या साधना बनायी, जिसके प्रसादसे भगवान हुए, बस यही साधन हमको इष्ट है। एक बात, दूसरी बात–हमने क्या दुःख सहे, क्या दुःख सहेगे, इसे इसे हम क्या जानें ? इसमें तो

भगवान आप ही प्रमाण हैं।

बाह्य घटनाओंकी उपेक्षा कर प्रतिकूल चेष्टा करने वालोंको सद्बुद्धिका आशीर्वाद देकर आत्महितकी लगन करनेका कर्तव्य——लौकिक जनोंकी यह आदत होती है कि थोड़ीसी अंगुली पकड़ पाये कि वह पहुचा पकड़नेकी सोचता है। तो ऐसे ही यहाँ कुछ थोड़ा ही कहीं सम्पर्क बना कि रागमे राग बढ़कर वह सारे उपयोगमे छा जाता है। अपने को कोई मना सके तो मना ले, पर यह भी बड़ा कठिन पड़ रहा है। हम अपने आपको ही नहीं मना पाते। जब जो दिमाग बना, जब जो बुद्धि बनी तब उसके ही हाथ समर्पित हो जाते हैं। तो इस जगतमें बाहरमें क्या होता, उन घटनावोमे महत्त्व न दें, किन्तु महत्त्व दें अपने हित और अहितकी बात मे कि मेरा हित किसमे है और अहित किसमें है? बाहर जो हो रहा है उस की उपेक्षा करें और अपने हित और अहित भावके लिए दृष्टि दें कि कैसा कर्तव्य निभानेमें हित है? तो जब समझ लिया जायगा कि स्वयका स्वरूप निरपेक्ष सहज भाव है और उस का आश्रय बनेगा तो भीतरमें निर्मलता प्रकट हो जाती है। तब क्या करना है बाहरकी घटनायें भी, बाहरकी बात भी प्रतिकूल जचती, तब ऐसा करें कि जो भी खिलाफ प्रतिकूल कोई चेष्टा करता हो तो समझ लो कि यह दयाका पात्र है। सो प्रतिकूल चेष्टावान जीव को दया पात्र जानकर उनको सद्बुद्धिका आशीर्वाद दें। किसी प्रतिक्रियाका आरम्भ नहीं। तो यह आदत चाहिए कि अपना महत्त्व दें अपने हित और अहितपर। मेरी भलाई किसमे है उसको तो दें महत्त्व और मेरा बुरा किसमे है उसको भूल जायें। यह काम पड़ा है मुख्य इस मनुष्यभवमें, न कि दूसरेकी सभाल या कुछ भी करना। यह काम नही पड़ा। यद्यपि ये काम होते, मगर उनके उपादानमे उनके काम होते। तो ऐसा उनके समता परिणाम जगे और यह अधिकसे अधिक ध्यान रहे कि जिसमे हित है सो मुझे करना और मेरा जिसमें अहित है सो मुझे नहीं नहीं करना।

( ५७ )

मै ज्ञानमात्र हूं, क्यों न मैं अपने ज्ञानस्वरूपमे ही मग्न हो जाऊँ? ज्ञानमग्नतासे समस्त मानसिक संकट व शारीरिक क्लेश समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानमग्नता ही मेरी रक्षण और पोषण करने वाली सच्ची माता है।

ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेकी भावना——सब देखा, परखा, बाहरकी घटनाओंको जाना, सब असार है, बेकार है, ऐसी खूब समझ बनी। दर-दर ठोकरें खानी पड़ीं, उन सबके अनुभवके बाद चित्त व्यवस्थित बना कि मैं ज्ञानमात्र हू, और मै इस ज्ञानमात्र स्वरूपमे मग्न होऊँ तो कष्टका नाम नहीं और एक उमग होती, जिसमें ज्ञानमात्र निज तत्त्वको पहिचाना

कि जब मै ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानका ही व्यापार कर सकता हूँ, ज्ञानका ही कर्तृत्व है, जाननेका ही भोक्तृत्व है। जब ऐसा अपनेको ज्ञानमात्र समझ लिया तो अब ज्ञानीके यह उमग जगती है कि क्यों न मैं अपने इस ज्ञानस्वरूपमें प्रवेश पाऊँ ? तब अपने आपके ज्ञानमें ज्ञान समा जाता है, जानने वाला ज्ञान, जाननेमें आया सम्यग्ज्ञान। ज्ञानमे ज्ञानका जब आकार आया तो वह स्वच्छ ही तो हुआ। एक सामने बिल्कुल स्वच्छ दर्पण हो, जरा भी मलिन न हो और उसके सामने दूसरा दर्पण हो तो एक दर्पणमें क्या चीज झलकी ? दर्पण झलका। आखिर दर्पण स्वच्छ है, कान्तिमान है, फिर भी है तो पदार्थ। तो दर्पणमें जब कोई दर्पण झलकता है तो दर्पणमें कुछ नई चीज मालूम पड़ती है क्या ? कुछ नही। न झलकने जैसी स्थिति रहती है। यह तो भिन्न दर्पणकी बात कही, किन्तु खुदके दर्पणमे खुदकी भी तो झलक है वह कैसी ? ऐसे ही जब ज्ञानमे अपना ज्ञानस्वरूप झलका तो ज्ञानने कुछ नया काम किया क्या देखनेमें ? नहीं किया। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाये, यह है अपनी प्रगतिके साधनका मूल उपाय।

ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेके पौरुषसे सकटोका समापन— जब मै ज्ञानमात्र हूँ तो क्यों न अपने इस ज्ञानमात्र स्वरूपमें मग्न हो जाऊं ? ऐसा जिसके विश्वास है और प्रयोग है, उस ज्ञानस्वरूपमें मग्न होनेका जिनके पौरुषोके समस्त क्लेश, चाहे वे मानसिक हो, चाहे वाचनिक हों, चाहे शारीरिक हों। किसी भी प्रकारका संकट वहाँ नहीं ठहरता जब कि ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाया हुआ हो, क्योकि कष्ट तो मिलता है ज्ञानके किसी प्रकारके परिणमनसे। अब ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाये तो अन्य वस्तुओंके परिणननका तो वहाँ ख्याल भी नहीं है, विकल्प भी नहीं। जब ये सारे संकट स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं तब निश्चयतः अपने आपमें अपने ज्ञानस्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बनता है। तो अब ध्यानमे आया—मेरी रक्षा किसमे है ? ज्ञानमग्नता हो उसमे है और उसका पोषण किससे हो ? ज्ञानमग्नता हो उसका ही पौरुष हो। तो देखो जो रक्षा करे, जो पोषण करे, ऐसा कौनसा है निष्कपट जीव ? माता बच्चेकी रक्षा करती है और बच्चेको पुष्ट करनेका उपाय बनाती है। तो ऐसे इस मुझ आत्माकी कौन रक्षा करेगा और कौन इस मुझ आत्माको निर्मल रखेगा, वह है ज्ञानमग्नता। तो मेरी माता है ज्ञानमग्नता। जो मेरी रक्षा करती है और मेरा पोषण करती है। ज्ञानमग्नताकी अपनेको धुन होनी चाहिए और बाहरी घटनाओंकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

कष्टका कारश बाह्यमें उपयोग जोडना—जीवका उपयोग लक्षण है। उपयोग जीव का स्वरूप है। सो उपयोगका जो परिणमन होता है उस परिणमनमें हम तीन प्रकारकी

कलायें पाते हैं, जिसमें हम जानते हैं कि जीवमें विश्वास करना, ज्ञान करना और कहीं न कहीं लीन होना, मग्न होना, लगना, ये तीन बातें प्रत्येक जीवमे पायी जाती हैं। उसमे जो जानता हो, जिसमे विश्वास हो वही तो लीन होगा। तो मग्न होनेकी बात कहनेसे तीनो बातें सिद्ध हो जाती हैं। कोई ससारी प्राणी विषयोमें मग्न होता है तो उसके मायने यह हैं कि विषयोमे उसको श्रद्धा है सुख मिलनेके आराम पानेके, और विषयोंका ज्ञान है तब हो तो वह विषयोमे लगता। तो जहां लगनेकी बात कही जाय वहां तीन बातें सिद्ध हो जाती है कि इसके विश्वास है, ज्ञान है तब यह लग रहा है। तो अब यहां तीसरी हो बातपर विचार करें। दो तो अपने आप आ जाती हैं। यह जीव कहीं न कहीं लगता है, मग्न होता है, तो कहां मग्न होवे कि जीवको सुख शान्ति मिले और कहां मग्न होवे कि जीवको अशान्ति मिले ? सो अशान्तिका अनुभव तो सबको है। बाह्य पदार्थोंमें विश्वास बनाया, इन विषयों का परिचय बनाया और इन विषयोमे उपयोग लगाया तो इसको अशान्ति मिलती है और अशान्तिका मूल कारण यह हो गया कि उपयोग तो है जीवके आधारको बात। विकार किसका ? जीवका। उपयोग किसके प्रदेशमे ? जीवके प्रदेशमे। तो विकार का सम्बन्ध तो है जीव के साथ, मगर इस विकारने अपने व्यापारसे सबन्ध बनाया है परके साथ। तो हो तो कुछ और बने कुछ तो वहां आपत्ति आती हैं। उपयोग तो है जीवकी चीज और यह बमता है बाहरमे, तो इसको दुःख क्यो न होगा ? तो यहां यह विवेक करना है कि जब मैं उपयोग मात्र हू, ज्ञानमात्र हूं और यह आधार हमारा पुष्ट है, मेरा ही तो स्वरूप है उपयोग तो फिर मै क्यो न अपनेमे मग्न होऊँ ? तो फिर क्यो मैं बाहरमे उपयोग लगाने का सोच विचार करने का कष्ट करूँ ? यह विवेक जिसके जगा है वह ससारसंकटोसे दूर हो जायगा। मै हूं ज्ञानमात्र, मेरा ज्ञानाधार कभी छूटता नहीं। असलियत तो यह है और कषायवश, मिथ्या श्रद्धानवश यह उपयोग द्वारा, सोचने द्वारा, कल्पनाओं द्वारा अभिमुख होता है, पर यह जो विषमता है, यह जो बेढगी बात चल रही है इससे जीवको कष्ट होता है। जब ऐसी बात है तब मै क्यों परपदार्थोंके अभिमुख होऊं ? मैं तो अपने ज्ञानमें मग्न होऊँगा, ऐसा एक अपना दृढ़ भाव होना चाहिए। ज्ञानमे मग्न होनेसे लाभ क्या हैं ? ज्ञानमग्नतासे सारे मानसिक संकट दूर हो जाते हैं।

सकटोका आधार बनावट—मनमें सकट आते हैं उनका आधार क्या है ? जीवमें तो संकटका स्वभाव नहीं, परपदार्थोसे संकट आते नहीं। तो बस यही स्थिति है कि है तो कुछ और बनता कुछ। बस इससे सकट आते हैं। लोकमें तो यही देखा जाता है। कोई बड़ा पुरुष है और तुच्छ बने तो संकट और कोई तुच्छ पुरुष है वह बड़ेपनका बाना बनाये तो

संकट यह एक लौकिक बात कह रहे है, किन्तु आत्मामें तो एक अपूर्व ही बात है। है तो यह ज्ञानस्वरूप, पवित्र है, पूज्य है। है तो यह बडे उत्कृष्ट चैतन्यकुलका और बनता फिरता है यह अचेतन। चैतन्यकुलका होकर भी यह अचेतनका बनना चाहता है। तब शान्तिकी आशा कैसे हो सकती है? तो अचेतनता न बने, अपने ही ज्ञानमें मग्न होनेका पौरुष करें तो इस ज्ञानमग्नताके पौरुषसे मनके सकट सब दूर हो जाते हैं। संकट क्या है? अहंकारका और ममकारका। यह मै हूं, यह मेरा है, यह भाव चित्तमें आये तो, पासमें आये तो संकट मान रहा और न मिलता हो तो संकट मान रहा। तो ये संकट कैसे दूर हों? बाह्य वैभव मिलनेसे सकट मिट जायेंगे क्या? नहीं मिटेंगे। अरे ये संकट तो ज्ञानमग्नतासे मिटेंगे। जिस कालमे यह दृढ़ परिचय हो जाय कि मै ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानसिवाय मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं तो ज्ञान इस ज्ञानस्वभावमे ही मग्न होऊँगा। इसके अतिरिक्त मेरा कोई प्रोग्राम नहीं। जिसे कहते हैं प्रधान प्रोग्राम। तो ज्ञानमग्नताकी बात आये तो सारे मानसिक संकट दूर हो जाते हैं और मानसिक सकट ही दूर नहीं, किन्तु शारीरिक क्लेश भी समाप्त हो जाते हैं। देखो जब कोई शरीरमें रोग है, फोड़ा फुंसी या अन्य कोई बात है और शरीरपर दृष्टि हो, शरीरकी ओर ही झुक रहा हो, यह जीव शरीरमें ही मग्न होना चाहता हो तो उसका रोग कई गुना हो जाता है, वेदना कई गुनी हो जाती है, कष्ट सहा नही जाता है और जहाँ समझा कि यह तो शरीर की बात है, शरीरका परिणमन है, मै तो शरोरसे निराला हू, केवल एक प्रतिभासमात्र, अमूर्त, अमूर्तमें फोड़ा फुंसी नहीं, रोग नहीं, रूप रस, गध स्पर्श नहीं ऐसा यह मै ज्ञानमात्र हूं, ऐसा अनुभव करने पर और ऐसा ही उपयोग बनाने पर सारे क्लेश भी दूर हो जाते हैं। सर्वसकटोंसे दूर होनेकी भावना हो तो 'ज्ञानस्वरूपको जानें और ज्ञानस्वरूप में मग्न होवें, यह ही एकमात्र उपाय है, दूसरा और कोई उपाय नही। बाकी उपाय तो सब बनावटी है, दवारूप हैं। थोड़ी देरको उपयोग बदल गया, दब गया, पर मूलतः उपद्रव नही मिटता।

ज्ञानमग्नतामे सच्चे मातृत्वका दर्शन—देखो ज्ञानमग्नता यह ही हमारी रक्षा करने वाली चीज है और ज्ञानमग्नता यह ही मेरे आनन्दको पुष्ट करने वाली चीज है। तब हमारी सच्ची माता ज्ञानमग्नता है। माँ में दोनो गुण होते हैं, पुत्रकी रक्षा करे पुत्रका पालन करे। रक्षाके मायने तो यह हैं कि कोई संकट आ जाय, कोई उपद्रव आ जाय तो संकट और उपद्रवोंसे बचा सके। रक्षा तो एक विशेष समयकी घटना है और पोषण यह निरन्तरकी घटना है। रक्षाका प्रसंग तो होता है संकटके समय और पोषणका प्रसंग रहता है प्रतिसमय। हमको तो दोनों ही बातें चाहिएं। जब विषय कषाय और उपयोग—इनका

आक्रमण होता है तो हम बेचैन हो जाते है तो उस आक्रमणसे हमारी रक्षा होनी चाहिए। इस रक्षाको यह ज्ञान ही कर सकेगा। ज्ञानका स्वरूप जानें और ज्ञानमे मग्न होनेका पौरुष बनायें तो हमारी रक्षा हो सकती है। और पोषणकी बात याने सर्वत्र हम सहज आनन्दको अनुभव करते हुए तृप्त रहें, पुष्ट रहे, यह कहलाता है पोषण तो यह पोषण भी कौन कर सकता है ? ज्ञानमग्न ही कर सकता है। तो वास्तविक तथ्य तो यह है,पर हाँ प्रस्ताव तो बन गया, जानकारी तो बन गई, प्रोग्राम तो बन गया। अब जरा ऐसा करनेके लिए चलें तो सही कि जब ज्ञानमग्नताके लिए पौरुष करने चलते हैं। अनेक बाधायें बीचमे आती हैं, वासना उमड़ पड़ती, आती है, कषायें जग जाती हैं, हम ज्ञानमग्नतामे निश्चित प्रोग्राममे सफल नहीं हो पाते, तब क्या करना ? बस उसी समयकी यह क्रिया कहलाती है व्यवहार धर्म। कषायें उछलती हैं तो उपयोग बदलें, प्रभुभक्ति करें, स्वाध्याय करें, गुरुभक्ति करें, सयम रखें, तपश्चरण करें। यह तन, मन, वचनकी क्रिया यह ही हमारे आनन्दमे बाधक बनती है। इसका सयम बनावें। तो जब हम ज्ञानमग्नताके कार्यके लिए प्रेक्टिकल बात बनाने को चलते हैं तब पता पड़ता है कि किसका कितना मूल्य है ? किसकी कितनी सामर्थ्य है और केवल प्रस्ताव ही प्रस्ताव करके कोई गप्प ही गप्प बनाकर चले, प्रेक्टिकल करनेका भाव ही न आये कि मुझे ज्ञानमग्न होना, स्वरूपमग्न होना। प्रेक्टिकल प्रयोगकी बात न करें तो उसके लिए गप्प करना बहुत सुगम रहता है। मुखसे ही तो बोलना है। तो बोलना होता है सरल और उसका प्रायोगिक रूप देना है कठिन। प्रायोगिक रूप जब देना होता है तो सब बातोंका पता पड़ता है कि हमको क्या-क्या करना चाहिए ? महापुरुषोके चरित्र पढना चाहिए ताकि भीतर उमग रहे कि ऐसा हो सकता है। जिस पथसे महापुरुष चले हैं उस पथसे चलें तो हम सिद्धि पा सकते हैं। फिर चरणानुयोगके अनुसार हमे अपने सदाचार की वृत्ति बनानी चाहिए ताकि पात्र रहे आयें हम कि ज्ञानमग्न हो सकें। हमे न्याय और युक्तिसे वस्तु स्वरूपका सही निर्णय होना चाहिए ताकि हम निःशक होकर ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो सकें। आत्माका हममें बोध भी चाहिए। आत्माका क्या सहजस्वरूप है, इसका भान रहना चाहिए ताकि ज्ञानमग्न हो सकें और ज्ञानमग्न होनेके लिए जो चलता है उसपर क्या बीतती है, क्या परिणाम बनते हैं, ज्ञानमग्न होनेपर क्या-क्या घटनायें बनती हैं, कैसे कर्मका क्षय होता है आदिक बातें ये न जानें तो ? एक उसमे पुष्टता रहती है, यह हुई करणानुयोगकी शिक्षा। तो कोई प्रेक्टिकलमे चले स्वानुभवके लिए, ज्ञानमग्न होनेके लिए तो उसे सब निर्णय होगा और केवल गप्प मारकर कोई रहे तो उसे पता नहीं पड़ता। जैसे रामचरित्रमे लोग कहते हैं कि जब राम रावणसे युद्ध करने चले तो रास्तेमें पड़ा समुद्र तो बदरोने समुद्रको लाँघ दिया।

अच्छा अब उसीपर एक शिक्षककी बात लो, बन्दरोने समुद्रको लांघ लिया तो मान लो थोड़ी देरको बन्दरो ने समुद्र लाँघ लिया तो उन्होने लाँघा ही तो है। समुद्रमें क्या रत्न पड़े हैं इसका परिचय तो लाँघने वाले नहीं पा सकते। वहाँ क्या रत्न हैं, इसका परिचय तो समुद्रमें डुबकी लगाये, देखे, खोजे, कुछ इच्छा बनाये, कुछ चले वही तो पा सकेगा। तो कोई गप्प करके शास्त्रका एक छोरसे दूसरे छोर तक उल्लघन करदे और कहे कि हमने लाँघ लिया तो उसे अपने अन्तरका पता तो न पड़ेगा कि क्या होता है, कैसे समता आती है, क्या अनुभव जगता है, क्या आनन्द होता ? इन रत्नो का पता नही पड़ सकता। इनका पता वही पाड़ सकेगा जो उस ज्ञानसागर में डुबकी लगाये, प्रयोग बनाये और उसे जब यह भी ज्ञान होगा कि मुझे और क्या-क्या तैयारी चाहिये ? तो ज्ञानमग्नता ही एक ऐसी पवित्र परिणति है कि वही आत्मा की रक्षा करती है, वही आत्मा का पोषण करती है। तो हमारी सच्ची साता यह ज्ञानमग्नता ही है।

( ५८ )

अहो, कैसी नादानी, मतलब तो कुछ नहीं, व्यर्थ बाहर उपयोग जोड़कर दुःखी होते, अपनेमे अपने उपयोग को समाकर, समरस होकर क्लेशप्रक्षय करनेको सच्ची शूरता करो। प्रभु को निरख, खुद को परख, अन्तर कहाँ, खुद मे समा और कृतार्थ हो जा।

संसारी जीव की नादानी—जिस पुरुषने विवेक करके ज्ञानमग्नताका कुछ आनन्द उठाया वह पुरुष जब ज्ञानमग्नतामें टिक नहीं पा रहा, पूर्वबद्ध कर्मका ऐसा ही अनुभाग उपयोगमें प्रतिफलित हुआ कि जहाँ ज्ञानबलकी ओर से ढीला पढ़ जाने वाला पुरुष उस मलीनता का अनुभव करता है, वह पुरुष अपने आपपर पछतावाकी बात करता है। अहा कैसी है यह नादानी ? क्या हो रहा है उस उपयोगमे जो अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी ओर अभिमुखता नही है। उपयोग बाहर ही बाहर भटक रहा है। वहाँ क्या हो रहा है ? देखो जहाँ भटक रहा है, जिन पदार्थोमें उपयोग जुड़ रहा है वहाँमतलब तो कुछ है नही, व्यर्थ ही बाहर-बाहर उपयोग जोड़ा जा रहा है। फल क्या होता है कि उसमें केवल दुःख ही दुःख मिलता है। तो यह मूर्खता है ना, नादानी है ना। है तो ज्ञानानन्दमय, है तो अपने स्वरूपमे घन और मान रहा सो व रहा बाहर-बाहर की बातो में अपना सम्बन्ध तो ऐसी मान्यता जहाँ बसी हो वहाँ दुःख होना प्राकृतिक बात है। अच्छा दुःखी हुआ, बाहरमें उपयोग जोडा, नादानी कीतो इसमे भी कुछ पौरुष तो किया उसने ? अरे वह पौरुष नहीं है, वह तो कायरता है।

विषयोके परिहार मे शूरता—विषयोका भोगना कायरता है, शूरता नहीं है। विषयों का तजना शूरता है। अनादिसे जब ऐसी अज्ञान-वासना लगी और ऐसा ही सस्कार चला

आ रहा। किसीमें मोह करना, विषयों में लगना ये बातें इसको ऐसी सरल हो गई और वहाँ यह अपनेको कायर बना लिया विषयभोगोके प्रसग में ज्ञानका जागरण किसीके नहीं होता? पञ्चेन्द्रियके किसी भी विषय से लगे कोई तो वहाँ ज्ञानवल किसीका उदित नहीं होता और न शूरता प्रकट होती। शूरता विषयोमें लगनेमें नहीं किन्तु विषयोके छोड़नेमें है। बड़े-बड़े शूर-वीर बहादुर राजा महाराजा, जिन्होने बड़े-बड़े भोगोको पाया, आखिर उन्होने सर्वसाधन भोग छोडे और अपने आपके स्वरूपकी आराधना में लगे, यह है उनकी शूर वीरता। सो उन्होने अपनेमें अपने उपयोगको समा डाला। उपयोग क्या है? ज्ञानका व्यापार। उस ज्ञानके व्यापार का विषय यही ज्ञानस्वरूप बना, जिसकी कणिका है ज्ञानव्यापार। ज्ञानपर्याय, ज्ञान-स्वभाव, ज्ञेय होना, यह ही है सच्ची शूरता। भोग तजना शूरोका काम, भोग भोगना बड़ा आसान। दुबले पतले कुछ गदे भिखारी, कुत्ता, गधा, सूकर, बन्दर, कबूतर आदिक इन्द्रियके विषयोको भोगनेमे लग जाते हैं। यहाँ शूर वीरता क्या है? यह तो जीवोंकी तुच्छ प्रकृति है। शूरता है इन्द्रियविषयोका उपयोग छोडकर अपने ज्ञानस्वभावका उपयोग बनायें और उसमे स्थिर रहें। तो बाहर उपयोगको भटकानेकी नादानीको छोड़ें और अपनेमे अपने उप-योगको समाकर समरस बननेकी सच्ची शूरता करें, ऐसा जो शूर है उसमे दुःखका निशान भी नहीं रहता। दुःख है क्या? दुःख है कहाँ? दुःख है ज्ञानमे उठने वाली एक कल्पनामें ऐसा अधीर विवश हो जाना कि वह विह्वल हो जाता, अन्यत्र और कहीं दुःख नहीं। तो जब दुःखकी उत्पत्तिकी कुञ्जी समक्ष ली तो बस यही बदल करें, यही परिवर्तन करें, इस उपयोग मे ऐसा ज्ञानप्रकाश लावें कि यह ऐसी पराभिमुखता न कर सके, फिर उसके दुःख न रहेगा।

प्रभु को निरखने और अपने को परखने का प्रभाव—अच्छा दुःखरहित बनने के लिए कुछ अन्तरङ्गमे भी परखें, अपने प्रभु को परखें और कार्यसमयसार परमात्मा को निरखें। निरख ओर परख – इन दो बातोमे थोड़ा ही अन्तर है। निरखसे परख अतरग है प्रभुका, अरहत सिद्ध प्रभुके स्वरूपकी परख न करना, किन्तु निरख करना है। देखा जाना और फिर वहाँ जो कुछ समझा उससे जो स्वभाव माना देखा उसकी परख करें अपनेमे, यह हो तो मैं हू। तो प्रभुके स्वरूपको देखें, अपने स्वभाव को परखें तब विदित होगा कि अन्तर है कहाँ? वही वहाँ वही यहाँ। एक सत्व का तो भेद है। वह सत् पदार्थ जुदा है, मैं सत् पदार्थ जुदा हू, मगर स्वरूपदृष्टि से तो एक कहा जायगा। यह एक व्यक्तरूप संख्याकी बात नहीं। सख्या शुरू होती है एकसे। एकसे सख्या शुरू नहीं होती। केवल एक ही क्या सख्या है? जब दो से आरम्भ कर सकते हैं तो संख्याका आधार तो है एक-एक, मगर एक स्वय संख्या नहीं। पर दो आदिक सख्याका आधार होनेसे एक भी उपचारसे संख्या मानी गई है, एक तो एक

है। और इसीकारण कोष में एकका अर्थ समान होहै। गणना का एक औरसमान दोनोंही अर्थ एक के होते हैं। कही गेहू का ढेर लगा हैतो वहाँकोई भाव पूछे तो वहाँ यह हीतो कहता है कि यह गेहू किस भावदिया? कोईयह तोनही कहताकि ये अरबों खरबो गेहूके दाने किस भावमें दिये? उसकी गेहूके स्वरूपपर दृष्टि है। स्वरूपत भी एक है, इसलिए एकवचनका व्यवहार है। प्रभुके स्वरूपको निरखो, अपने स्वरूपकोपरखो, उसे समझोएक। अन्तर अब रहाकहाँ? तोअपनी अनादिकालकी नादानी तो मिटाना हैतो खुद को परखो, प्रभुको निरखो। खुदकोपरखो और खुदमें समा जावो, ऐसीजो ज्ञानमग्नता आयगी उसही में यह जीव कृतार्थ होग। जगतके अन्य कामोमे बाह्य पदार्थोंमे उपयोग फसा-फंसाकर दौड़-दौड़कर कोई पुरुष कृतार्थ नही हो सकता है।

( ५९ )

सबके हितका चिन्तनकरना, ज्ञानब्रह्मकीआराधना करना मनका श्रृङ्गारहै; हित मित प्रिय वचन बोलना, प्रभुएव आत्मब्रह्मका स्तवनकरना वाणीका श्रृङ्गार है; निर्बल दुःखी रोगी की सेवा करना, गुणविकासक तपश्चरण करना तनका श्रृंगार है।

आत्मश्रृङ्गारसे च्युत प्राणी का बाह्यप्रवतनका श्रङ्गार करने का प्रयास—जीवकी सुन्दरताअथवाजीवका वास्तविक श्रृङ्गार तो सम्यग्ज्ञानका ऐसाविकास होना है कि जिस ज्ञानविकासमें तीन लोक तीनकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, लेकिन अनादिसे ही ऐसीअशुद्धता और बद्धता चलीआरहीहैकि जिससे आत्माका यह सत्य श्रृङ्गारसमाप्त हो गया, और कर्मबन्धन, मलीमसता, अशुद्धता इनके कारण आज यह स्थिति है कि यह जीव तन, मन, वचनसे बधा हुआ है और इससेभी गई बीती स्थिति है अनेक जीवोकी कि वे केवल तनसे बंधे हैं, मन और वचन भी उनके नहीं प्राप्त है, तो ऐसी परिस्थितिमे कि जहाँ हम तन, मन, वचन से बधे हुए हैं तो अब क्या करें? वह श्रृङ्गार प्राप्त नहीं है जो भगवानको प्राप्त है। लोगतो भगवानका श्रृङ्गार बाहरी आभूषणोसे करते हैं, भगवानकी मूर्ति बनाकर मुकुट, कुण्डल, कपड़े,धनुष,बाण, बन्शी आदिक अनेकअनेक श्रृङ्गारबनाकर भगवानका श्रृङ्गार करतेहैंतो लोदेखलोपुजारियोके आधीन होगयाहैभगवान काश्रृङ्गार। भगवान तो स्वतःसिद्ध है। भगवान नामहै उत्कृष्ट ज्ञानवानका। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञानप्रकाश हुआ है उसे कहते हैं भगवान, उसकाश्रृङ्गारक्या? ऐसा अलौकिक, ऐसा अकृत्रिम किजहाँ शुद्ध ज्ञानका विकास है। सर्वद्रव्यों मे सबसे उत्कृष्ट एक आत्मतत्वही तोहै, अन्यसर्वद्रव्य अचेतनहैं।एकआत्मामें ऐसी अद्‌भुत शक्तिहै, चेतना है कि स्वयंको भी परखता और सर्व-वस्तुओं को भी मानता है।ऐसाश्रृङ्गारजिसका लुटगया और लुटाहुआ ससार मेघूमरहा

ऐसा प्राणी क्या करे अब ? एक यह समस्या सामने आती है। यह जीव घबड़ाकर, अधीर होकर जैसेकि किसीकी निधि लुट जाय तो अधीर होकर अटसट काम करता है। ऐसे ही यह आत्मा इसका शृङ्गार लुटा, निधि लुटी तो यह अटसंट जगतमे बाह्य पदार्थों को अपनाता है और उनकी आधीनता स्वीकार कर लेता है और फिर शरीरसे नाना कुचेष्टायें, नानाप्रकारके दुष्परिणाम जो बने सो करता है यह जीव। क्योकि लुटा पिटा है ना। इसका ज्ञान लुट गया, इसके आनन्द नहीं है। इसको अपने घर में रहने का आश्रय नहीं मिल रहा। तो यह लुटा-पिटा जीव इन विषयो मे प्रवृत्ति करके अब अपना मन भरता है।

सत्यश्रङ्गारसे हटकर बनावटी श्रङ्गारमें लगने की गरीबी—जैसे कोई धनी पुरुष हो और होजाय अचानक गरीब, गरीब कोई दूसरा तो नहीं होता। जब गरीबी आनेको होती है तो आवश्यकता होती है उसे द्रव्यकी तो लज्जावश अपने घरका जेवर, सोनेका जेवर खुद नहीं बेंच सकता। शर्म लगती है, खुद नहीं दूसरेके यहाँ गहने धर सकते, सो दूसरेके हाथ गहने धरवाते हैं, कितनाही ब्याज लिखा हो, कितना ही बतानेमें हो, कितना ही बुद्धिमानहो आखिर यो लुटते-लुटते सोनेके जेवर भी, चाँदीके जेवर भी बिक गए, अन्य-अन्य बातें भी किया। अन्तमे जब इसको ख्याल हुआ, घरकी खपरियां भी बेंचनी पडी तो खपरिया बेचते समय वह अपने हाथोसे गिनकर दे रहा, कहीं १०० खपरियो की जगह ११० खपरियाँ न चली जायें। अरे अपनी बात रखने के लिये बड़े-बड़े कीमती जेवर भी शान से न बेचसके और क्या कर रहा ? तो यह जीव जब अपने ज्ञान और आनन्दसे लुट गया तो यह अपने विषयोमें मन भरता है, यह अपना चित्त रमाता है, मगर यह न शोभा है, न शृङ्गार है, न हितका अ श है। क्या है मनका शृङ्गार ? क्या है वचनका शृङ्गार? और क्या है तनका शृङ्गार ? शृङ्गार तो उसे ही कहेगे कि जिसके माध्यम से यह चलते-चलते अपने असल ज्ञान और आनन्दकी निधि तक पहुच सके। वह क्या है मन का शृङ्गार ? सो सुनिये—

करणीय मनशृङ्गार—सर्व जीवो के हित का चिन्तन करना बहुत बड़ा तपश्चरण है यह। ऐसा स्वच्छ हृदय बनना कि जगतमे मेरा कोई विरोधी नही, जगत मे मेरेको कोई अनिष्ट नहीं। जीव है, अनन्त जीव है, सबकी अपनी-अपनी परिणतियां हैं, जैसाजो परिणमता है। कर्मविपाकहै आत्मा तो सबका वही समान है जो मेरेमें सोप्रभु में, जो प्रभुमे सो मेरे मे। अन्तर का कारणबनावटहै। अच्छा, हाँ क्या कहा जा रहा है, मनका शृङ्गार है हितचिंतन। हितचिन्तनकी भी अनेक श्रेणियाँ होती हैं। पहली श्रेणीमें तो यह कि कमसेकम इस जीवनमे तो हमें साता मिले। मेरा आराम, भोजन व्यवस्था और-और प्रकारकी तकलीफोंको दूर करना, पर परमार्थतः हितचिन्तन इसमें है कियह भाव रहे कि इस जीव की

दृष्टि ऐसी विशुद्ध रहे।इसे अपने सहज अन्तस्तत्त्वका परिचय होजाय तो व्यर्थमें जो उपयोग भ्रमा-भ्रमा कर कष्टसह रहेहैं वे कष्ट दूर हों। तो सब जीवोंके हितका चिन्तन करनायह है मनका शृङ्गार। और किसीके अहितकी बात विचारना—इसका ऐसा अपमान हो, इसका ऐसा तिरस्कार हो, यह इस तरह बरबाद हो, किस तरह इसको मिटायें, कैसे विनाश हो आदिक नाना प्रकारकी खोटी चिन्तायें करना, यह है मनकी बरबादी। तो यहतो हुई पर-जीवोंके प्रति हमारी कैसी परिणति हो, उस समयकी बात। अब निजके प्रति हमारी क्या निजी वृत्ति हो कि जो हमारा शृङ्गारकहलाये, मनकाशृङ्गार कहलाये? वह है ज्ञानब्रह्मकी आराधना। अपने आपमें अपने आपके स्वरूप का यो चिन्तन रखना कियह मैंएक ज्ञानमात्र हूं। विशुद्धकाअर्थ परसे निराला, अपने स्वरूपमे रत, अपनेसहजस्वभावरूप यह मैं ज्ञानमात्र हूं। इसका किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं, इसका किसी अन्य विषयका विचार करके अपने आपको मलीमस बनाना विवेक नहीं है। सर्व विचार छूटें, निज ज्ञानस्वरूप का मनन करना यह है मनका शृङ्गार। और इसके विपरीत अपने आपकी परिणतियोंमे आत्मसर्वस्वकी प्रतीति रखना यह है दूषण। मनसे यो विचारना कि मैं मनुष्य हू, मै अमुकग्रामका, अमुक घरका, अमुक धधे वाला, अमुक पोजिशन का आदिक कुछ भी चिन्तन होवे, यहहैदूषण। ऐसे दुश्चिंतनसे हटना, यहहै मनका शृङ्गार। अब मन सब जीवोमे नहीं पाया जाता। जितने ससारकेजीव हैं, जिनमें मन पाया जाता उनके वचन और तनतो जरूर होता है। इसलिये मनकी बात पहले कही। कह रहे हम सब मनुष्योके लिये, पर मनके शृङ्गार का प्रभाव, वचन और तनके त्याग भी पड़ता, इसलिये सर्वप्रथम तो अपने मन को विशुद्ध बनाये।

अनुकरणीय वचन श्रृङ्गार—अब वचन का शृगार देखिये—वचन से प्रवृत्ति क्या होती? बोलनेकी। दूसरे जीवोसे कुछ वचनव्यवहार होतो हितमितप्रिय वचन बोलना, यह है वचन का शृङ्गार। दूसरोका हित हो ऐसे वचन बोले, परिमित व परिमाण लिये हुये हो ऐसे वचन बोलेऔर प्रियहो ऐसी वाणी बोलें, यह है वचन का शृङ्गार। तो इसकातो सम्बन्धदूसरे जीवोंके साथ है और अपनेसाथ होवे सम्बन्ध ऐसे वचनका शृङ्गार क्याहै कि प्रभुके गुणोका स्तवन करना, अपने आपके स्वरूपका स्तवन करना, यह है अपने लिये वचन का शृङ्गार। अब उस शृङ्गार के विपरीतकोई प्रवृत्ति करे तो वह वचन का दूषण है। जैसे अहितकारी वचन बोले, अनाप सनाप अधिक वचन बोले, अप्रिय वचन बोले तो दूसरेका तो अहित है, सो ठीक हो भी और न भी हो, मगर खुद का अहित इसमे अवश्य है। जब सक्लेश किया, खोटी भावना हुई, जब ऐसीपरिणतियां वनीवचनोद्वारा तो यह है वचन का दूषण। यह तो हुआ परके लिये और खुदके लिये क्या है वचनदूषण? अपने मुखसे अपनी तारीफ

करना, दूसरेकी निन्दा करना, और और अनाप-सनाप वचन प्रवृत्तियां हैं वे सब वचनके दूषण हैं। वचनका शृङ्गार है हित मित प्रिय वचन बोलना और अपने और प्रभुके गुण का स्तवन करना।

परसंग के श्रृङ्गारसे हटकर विरक्तिभव तनश्रृङ्गार होनेमे शोभा—अब तीसरी बात सुनो—तनका शृङ्गार। तनका शृङ्गार तो लोग बहुतप्रकार करते हैं। कितनी तरहके कपड़े डिजाइन, एक कमीज का कपड़ा खरीदना हो तो कोई ५ मिनट मे नहीं ला सकता। कई डिजाइन देखते, कैसी कैसी उसमे सब बातें सभालना, खोजना, कोई नाना डिजाइन भी निकाले, ऐसे ही साड़ियोका और कपडोका कितनी तरहकी बातें। यह प्रयोजन तो नहीं रहा कि तन ढाकना है, प्रयोजन रहा तनके शृङ्गारका, और और आभूषणका शृङ्गार, गहनेका शृगार। इससे तो तनको सजाना है, मगर व्यवहार रहे दूसरो के घृणा का, विरोध का तुच्छताका, ऐसी तनकी क्रिया रहे तो उस शृङ्गारको पूछता कौन है? शृङ्गार क्यो किया जाता है? अपनेको खुश करनेके लिये या दूसरोको खुश करनेके लिए? पहले तो इसी समस्याका हल कर लो। एक पुरुष गरीब था और उसकी स्त्री अड़ गई २०-२५ तोलेके गहने बनवानेके लिये। तो अब वह रोज रोज लड़े, खानेके समय ज्यादा बातें होती है, तो वह पुरुष बेचारा परेशान हो गया तो एक दिन कहीसे मांगकर उधार लाकर २०-२५ तोले सोनेके गहने बनवा दिये, नाककी मक्खी, कानकी ततैया, सिरके मेढक, कमरका साप आदि जितने जो कुछ गहने होते हैं वे सब बनवा दिये। अब पति पूछता है कि यह तो सब ठीक बन ही जायगा, मगर एक प्रश्न का उत्तर तो बताओ कि ये गहने जो तुम बनवाती हो तो किसको खुश करनेके लिये बनवाती हो, मुझे खुश करनेके लिये या दुनियाके लोगोको खुश करनेके लिये? देखो बात तो असली यह है कि दुनियाके लोगो को खुश करनेके लिये गहने बनवाये जाते हैं, मगर ऐसा क्या कोई स्त्री कह सकती है कि मै इन पडौसी लोगो को खुश करने के लिए गहने बनवाती हू और है बात यही ही भीतरमे कि पूरा पड़ौस के लोग 'खुश हो, पर मुख से कोई न बोल सकेगा।

तो अब वह वेचारी स्त्री चिन्तामे पडी कि क्या उत्तर दें? कुछ विचारकर कहा कि मै तो तुम्हे खुश करनेके लिये गहने बनवाना चाहती हू। तो फिर पति बोला कि अगर तुम हमें खुश करना चाहती हो तो हम तो इस बात में खुश थे कि तुम कोई गहने न बनवाती और हमे उधार लेकर कर्जी न बनना पडता। कर्जा लेकर तो तुमने हमें संकट मे डाल दिया, फिर हम कहां रहे खुश? तो फिर उस स्त्री ने कहा—अच्छा अब हमे गहने नहीं बनवाना है। हम तो उसीमें खुश हैं जिसमें तुम खुश हो। तनका जो शृङ्गार किया जाता है वह

तो विकारका, विभावका समर्थक है। वह कुछ आत्माके उद्धार करनेका सहयोगी नहीं। तब वास्तविक श्रृङ्गार क्या है तनका ? निर्बल कमजोर प्राणियोकी सेवा करना— यह है तनका अच्छा श्रृङ्गार। अच्छा श्रृङ्गार करके यह ही तो चाहते हैं कि दुनिया हमको अच्छा कहे। मगर आजके जमाने मे तो सजे-सजाये श्रृङ्गार करने वाले लोगोंको देखकर तो लोग मन ही मन गाली भी दे देते है, उसे भला कोई नही कहता। कहते होगे किसी जमानेमे। आजके जमानेमें कोई पुरुष बड़े श्रृङ्गारसे सजकर आये तो एकतो उसपर आपत्तियाँ आयेंगी, दूसरे— कोई भला कहने वाला नही है, और कोई ऐसा सेवाभावी हो कि दीन-दुखियोकी सेवा करता हो तो उसकी प्रशंसा होती है, और हो या न हो दूसरोकी सेवा करनेके प्रसंग में भाव विशुद्ध ही होगा, व्यसन और पापोमे न जायगा। तो इसमे आत्माकी रक्षा ही तो हुई। तो तनका वास्तविक श्रृङ्गार है यह कि दीन-दुखियोकी, निर्बलोकी सेवा करना, यह तो हुई दूसरेके लिये बात। अब खुदके लिये क्या बात होनी चाहिये ? तनके श्रृङ्गार मे तो खुदके लिए है तपश्चरण की बात, जिस तपश्चरण से आत्माके गुणो के विकासमे सहयोग मिले, ऐसा जो तनका तपश्चरण है वह है तनका श्रृङ्गार।

तनका श्रृङ्गार तपश्चरण—अभी देखो वह मुनिरूप नहीं है, आजकल जिसको स्यालिनीने खाया, शेरनीने भखा, जिसपर सिगड़ी जलाई गई, जो ठंड गर्मी आदिके परीषह सहते रहे ऐसे मुनिराज हैं नही, मगर उनका चित्र बनाकर कैसा उनके प्रति एक भाव जगता है ? तो देखो यह तनके श्रृङ्गार की ही तो बात हुई। शरीरका श्रृङ्गार, तपश्चरण से, संयम से दुःखियोकी सेवासे बनता है। कहीं शरीर का श्रृङ्गार गहनो से लद जानेसे नहीं बनता। जहाँ शरीरपर गहने लदाये तो शरीरकी अपवित्रताकी पोल ढाकनेके लिये है। क्या करें ? नाक है, दो छेद हैं नाकमे। दूर से देखो तो नाकके भीतर का लोहू, नाककी हड्डी सब दिखाई दे जाती है।

अब क्या करें बताओ ? इस नाककी घृणा ढाकना है तो फिर नाकको सजा लिया, दो दो पोगरिया। कानमें पहन लिये, अटपट सारा शरीर किसी स्त्रीने या पुरुषने बना लिया भले ही स्त्री पुरुष समझें कि हमारा शरीर बहुत अच्छा है और पशु पक्षी आदिक जीवो को समझते कि ये तुच्छ जीव हैं, चार पैरोसे चलते हैं। कोई पशु भी इस मनुष्यको देखकर क्या सोचते होगे, कैसा अटपट लगता आदमी और आपको पशु अटपट लगते। तो यह शरीर का श्रृङ्गार कपड़ो से नहीं है, गहनोसे नहीं है, और और भी बातें कई तरहकी बालोकी कटिंगके फैशन। गुजरात प्रान्तमे तो सुननेमे आया कि वहाँ महिलाओ के सिरके बाल बांधनेका पाँच-पांच सौ रुपये तककी फीस पड़ती है। पता नही किस तरहसे सिरके बाल बांधे जाते हैं वहा।

तोयह भी कोई शृङ्गार है क्या ? जिससे जीवको संतोष हो, तृप्ति हो, आत्माके गुणोंपर दृष्टि जाय, ज्ञानमग्नता बने, वह कहलाता है शृङ्गार। तो भाई तन, मन, वचन इनकी व्यवस्था है, हम आपको पराधीनता हैं तब इसको किस तरह से प्रवर्तायें कि हम अपना वास्तविक शृङ्गार इसको पहचानें कि निश्चयतः इसी तरह के तन मन, वचनके शृङ्गार हैं।

मन, वचन, काय व धनादि वैभवसे विविक्त अन्तस्तत्वकी दृष्टिमे परम श्रृङ्गार— अभी तन, मन, वचन के शृङ्गारकी बात जो हुई वह अपनेसे बंधे तन, मन, वचनसे विवक्त होनेकी बात है अब इसके बाद एक चीज और रहती है धन। तो धनसे शोभा बने, अपनी तो इस तरह नहीं बनती कि होते हुए भी खुदके लिये भी कजूस, दूसरा दुःखी हो, दूसरी कोई योग्य बात हो, काम हो तब भी एक कृपणता हो, अपने लिये हो, यह भी धनकी शोभा नहीं। धनको कोई ऐसा जोडता हो रहे, बचाता ही रहे तो उससे कहीं धन नहीं बढ़ता, और कोई धनको परोपकारमें व्यय कर रहा तो उसका धन कम नहीं होता। उसकी शोभा है। दान और भोगमे खावे खिलावे और योग्य कार्योमें त्याग करे तो यो जो चार चीजें बोली जाती हैं—तन, मन, धन, वचन। उनका ऐसा सदुपयोग करना कि जिससे अपनेमे कषायभाव न जगे, न जमे और कषायरहित ज्ञानस्वरूपमात्र निज अतस्तत्त्वकी दृष्टि बन सके जो आत्माका सच्चा शृङ्गार है, उस शृङ्गार तक पहुचे हैं, जिसे लोग कहते हैं शुद्ध सत्यं शिव सुन्दरम्। सत्य के मायने क्या ? जो आत्मा सत्‌से स्वय अपने आप होता हो उसकी दृष्टि शृङ्गार है। शिवके मायने क्या ? जो सयमरूप है, आनन्दमय है वह कहलाता है शिव, मायने अपना एक आनन्दमय स्वरूप और सुन्दरके मायने है जो अपने एकत्वको प्राप्त हो। सुन्दर शब्द प्रसिद्ध हो गया है कोई अच्छी बात मे तो अपने लिये अच्छी बात है कि अपने को अपना कैवल्य याने केवल निजका सहजस्वरूप दृष्टिमे आये तो ऐसा आत्मस्वरूप अपनी दृष्टिमे हो तो यह है वास्तविक शृगार और इसी शृगारके पोषणके लिये तनका, मनका, वचनका शृगार करना, सो वास्तवमें वह अपनी-अपनी पदवीमे धर्म के पथ पर है और पाप बढे व्यसन बढ़ें ऐसी तन, मन, वचनकी प्रवृत्ति करना तो वह अपने लिये दूषण है, अनर्थ करने वाला है, जगत मे रुलाने वाला है।

( ६० )

मुझमे कष्टकी तो गुंजाइश नहीं और कष्टका बिछाव है, इसमें अपराध किसका ? मुझमें दोष को तो गु जाइश नहीं और दोष का बिछाव है, इसमे करतब किसका ? मुझमें विकल्प का तो स्वभाव नहीं और विकल्प का वितान है इसमें आग्रह किसका ?

कष्टरहित निजमे कष्टोके बिछावके कारणका निर्णय—सर्व ओरसे विकल्प हटाकर अपने आपके अन्तरमे दृष्टि करें, मै क्या हूं ? जो मैं सहज हूं, जो मैं परके सम्बध बिना हू

अपने आपके सत्त्व के कारण इन कुछ स्वरूप में हूं । मै वह हूं, वह स्वरूप क्या है ? चेतना, प्रतिभासमात्र । एक अपने स्वरूपकी ओरसे, ज्ञानीकी ओरसे जो जाननवृत्ति चलती है वह विशुद्ध है । उसमे केवल जानन है, उसमे नवीनता नही है तब फिर बतलावो कष्ट कैसे आया ? मेरे स्वरूपमे कष्टकी गुंजाइश नहीं । स्वरूप देखो केवल प्रतिभासमात्र सर्व जगत से निराला, जिसका जगतमें कुछ नहा है, सर्व अनन्तानन्त जीवो से अत्यन्त निराला । न प्रदेश का सम्बन्ध, न परिणमनका सम्बन्ध, बिल्कुल पृथक् स्वतन्त्र सत् द्रव्य हूं मैं । मै इस जगत से अत्यन्त निराला हूं । ऐसे इस विविक्त चेतना मात्र अन्तस्तत्त्व मे कष्ट की तो गुंजाइश है ही नहीं ।

अब जरा कुछ बाहर देखें तो कष्टका तो इतना बिछाव पडा है और भीतरमें कष्टकी तो गुंजाइश नहीं, और बाहर देखतेहैं तो कष्टका इतना फैलाव पड़ा हुआ है । यह क्या मामला है ? एक ओर देखते हैं तो परमात्मस्वरूपवत् विशुद्ध चेतनामात्र स्वरूप हूं और जब बाहर की ओर देखते हैं तो बहुत-बहुत कष्टो का फैलाव चल रहा है अब जरा देखो इसमें अपराध किसका ? कष्ट पा कौन रहा और स्वरूप कैसा है पवित्र अविकार कष्ट रहित । तो इस विषमताके होनेमे अपराध किसका । जब अपराधीकी खोज करने चलते हैं तो इन खोजो की भी एक बड़ी समस्या बनती है, क्या कहा जाय ? क्या यह कहा जाय कि मेरा अपराध ? मैं जब अपना स्वरूप देखता हू जो वास्तविक स्वरूप है उसका निरखना होता है, तो अपराध उसका जचता नहीं । मूलमें जो कुछ मैं हूं उसको देखना बने तो अपराध मुझे उसका जंचता नही है । तो फिर किसका अपराध कहा जाय ? क्या कर्मका अपराध कहा जाय ? कर्मका अपराध कहूं तो कर्म दु खी हो । जो अपराध करे सो दु.खी हो । कर्म अचेतन है, वह कुछ महसूस करता नहीं । कैसे कहा जाय कि कर्मका अपराध है ? तो क्या कहा जाय कि दोनो का अपराध है ? अपराध है एक चीज, अपराध है एक परिणमन । अगर यह अपराध दोनोका है तो जैसे मैं दुःखी होता हूं वैसे ही कर्मको भी दु.खी होना चाहिये । तो क्या यह कहा जाय कि अपराध किसी का नहीं, अपराध किसी का नहीं। यह भी कैसे कहा जाय ? आखिर विडंबना बन रही है, मुझमें अनुभव चल रहे हैं । कैसे कहा जाय कि अपराध किसी का नही ? अच्छा तो किसका अपराध है ? जब इस ओर दृष्टि और निर्णय करते हैं तो सुनो । अपराध यह मेरा है ? कैसे मेरा है ? और कोई पूछता है कि मैं अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे हटकर बाहरके इन विषयभूत उपचरित निमित्तोंमें इसने अपना उपयोग फंसाया है, इससे अहंकार किया है, इससे ममतापरिणाम किया है, बस यह अपराध मेरा है । अच्छा, यदि यह अपराध मेरा है तो फिर यह कभी छूट ही न सकेगा, क्योंकि मैं ही शुद्ध ज्ञानमे

चिगता हूं, उपचरित मिमित्तोमें लगता हूं, यह तो मेरा कर्तव्य है ना। तो जो मै हूँ, सो मेरा वह कैसे मिटेगा ? यह तो चलता रहेगा ? नहीं, न चलेगा। कारण यह है कि वह स्वयं निरपेक्ष होकर अपने आपके सत्त्वके ही कारण अपने ही स्वभाव से यह अपराध मुझमे बन रहा है, क्योंकि पूर्वबद्ध कर्मका अनुभाग खिला और उन पूर्वबद्ध कर्मोंमे यह मलीनता बनी जिसको कि अचेतन होने के कारण कर्म अनुभव नहीं कर सकता, लेकिन वह छाया, वह प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब मुझमें पड़ा, क्योकि मैं उपयोगस्वरूप हूं। बस पड़ा और ऐसी योग्यता है कि मै उसको अपनाकर दुःखी होता हूं।

कष्टसमापनमे कष्टनिर्माणपद्धतिके निर्णयका महान सहयोग— ये कष्ट न आयें, इसका सही उपाय क्या है ? सहीउपाय यह नही है कि बाहरी पदार्थोंमे से कुछको तो जोड़ दें, कुछ को हटा दें, किसी का सुधार कर दें, किसी का विगाड़ कर दें, किसी का राग करें, किसी से द्वेष करें। ये बाहर की परिणतियाँ, ये कष्ट मिटाने के उपाय नहीं हैं, किन्तु जहाँ कष्टका निर्माण हो रहा उस निर्माणकी विधिको सही समझलें अपने आप कष्टसे निवृत्ति हो जायगी। समझे अंतरमे दृष्टि देकर। यह मै ऐसे उपयोग परिणाम द्वारा अपनेको दुःखी कर रहा हूँ और ये सब विम्बनायें मै बना रहा हूँ। इस उपयोगको मलीमसता के कारण और यह मलीमसता हुई है कर्म के अनुभाग के प्रतिफलन के कारण। कर्मोदयमे आया है ऐसा है विभावका निर्माण। अपने आपकी ओरसे विकार नहीं करता। अच्छा यह बात अगर सत्यतासे समझ ली है तो क्या करना ? याने बैठे अपने धाममे, अपने ज्ञानस्वरूपमे अपनी दृष्टि लावें, बस सारे कष्ट नष्ट हो जायेंगे। इस जीवन मे जो अनादिसे फिरते-फिरते बड़ी दुर्लभतासे आज मनुष्यदेह पाया है तो यह ममता बसानेके लिये। ममता बसाने को तो गधा, ऊट, घोड़ा, गाय, भैंस, सूकर आदिक सब तैयार हैं, सब कर रहे हैं। वही काम यहां हो तो उन पशु पक्षियोंमे और अपनेमे अन्तर क्या है ? ये तो ससारमे रुलानेके काम है। यह तो सब महान अधकार है। यहाँसे हटकर अपने आपके आनन्दधाम इस चैतन्य प्रकाश में आयें, यहाँ कष्ट का कोई काम नहीं और स्वरूपमें कष्टको कोई गुजाइश नहीं। पर बन जाता है तो हम अपने संयमसे चिग जाते हैं कि यह कष्ट मिला। कष्ट दूर करनेके लिये बहुत-बहुत उपाय करते हैं लोग। यह एक अनोखा उपाय और करना चाहिये, जिस उपाय में न पराधीनता है, न कोई प्रकार की विघ्न बाधा है। यह तो अपने ज्ञान से अपने ज्ञान में सोचने समझनेकी बात है, इस पर कौन दबाव डालता है ? भले ही कोई घरमें बंधनमें डाल दे, कमरेमें बन्द कर दे, जेलमे बन्द करदे, शरीर को जकड़ दे, कुछ भी उत्पात बने बाहरमें मगर भीतरमे ज्ञान स्वतन्त्र है। यह ज्ञान अपने ज्ञानद्वारा भीतरके ज्ञानस्वभावको निहारे, इसमे कोई

झंझट नहीं कर सकता। तो जो कष्टरहित अविकार मेरा स्वरूप है उसको मै अपनाऊँ, फिर मैने वास्तविक विजय प्राप्त कर लिया, इसमे सन्देहको रंच बात नहीं।

दोपरहितमे भी दोपकी छायाका रहस्य—अच्छा अब इस ही अतस्तत्त्वको निरखकर दोषकी बात उपचरित करें। यद्यपि दोष कष्टरूपहै, मगर कष्टमे तो है विषादका अनुभव, दोषसे है मलीमसताका अनुभव। क्रोध, मान, माया, लोभ, विकार नाना प्रकारके जो दोष उत्पन्न होते हैं उन दोषोका होना क्या मेरा स्वरूप है ? मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र है। बस झलक है सब जानना रहे, ऐसा साधारण जानना है कि जिसमें कोई रागद्वेषकी तरंग हो नहीं होती, वह है मेरा स्वभाव। उसमे दोषकी गुञ्जाइश कहाँ ? जब अपने स्वरूपकी विशदता हो, शक्ति अपने ही सत्त्वके कारण मेरेमे जो स्वभाव है उसको जब मै निरखता हूं, इसमें दोषकी गुञ्जाइश नही, अगर मेरे स्वभावमे दोषकी गुञ्जाइश हो तो वह दोष कभी मिट नहीं सकेगा। जैसे आत्मामे जाननेकी गुञ्जाइश है, ज्ञानकी गुञ्जाइश है, ज्ञान स्वरूप ज्ञानका स्वभाव है तो यह ज्ञान क्या कभी मिट सकता है ? वह तो स्वरूप है, वह तो स्वभाव है ऐसे ही यदि क्रोधादिक कषायें इनके दोषकी मेरेमे गुञ्जाइश हो तो बडा अनर्थ है। फिर तो यह ही स्वरूप बन जायगा, फिर मेरे स्वभावके दोषको गुञ्जाइश नहीं, लेकिन जब बाहर उपयोग दें तो बड़ा दोषोंका ढेर लद रहा, दोषोका बिछाव पड़ रहा। आचार्य सत समझाते हैं कि तुम उपयोग किसी पदार्थमे मत डालो, मगर यह तो क्षणभरको भी नहीं हो पा रहा। यो जैसे कि आचार्य समझाते हैं, लदी है विडम्बना, सारी ममता अथवा बाहरी पदार्थोंके उपयोग। बाहरमें दोषोका बिछाव है, सो यह भी विचार करें कि अपराध किसका है ? उत्तर सब सही है, अपराध न मेरा है, न कर्मका है, न दोनोका और अपराध मेरा है कर्मका नृत्य है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय निज सहज शुद्ध स्वभावके दर्शनके लिए होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव यह नही कहता है कि यह जीवका मोक्ष कर्मने किया, किन्तु वह घटना बताती है पूर्वबद्धकर्मका अनुभाग खिला, उपयोगमे प्रतिफलन हुआ और उसका निमित्त पाकर यह जीव अपने स्वभावसे चिगा और बाहरी उपचरित निमित्तोमे लगा। व्यवहारनय एक घटना बताती है, इस घटनाको सही जानकर हमें मार्ग मिलता है। क्या मार्ग मिलता है ? यहाँ भेद विज्ञान करें, जो कर्मका अनुभाग है वह कर्ममे हैं। उस कर्मका निमित्त पाकर जो मैंने ज्ञान विकल्प द्वारा अनुभव बनाया वह मुझमें है। तो मुझमें ज्ञानविकल्प द्वारा अनुभव तो है। पर यह दोष है कर्मके प्रतिफलन की बात, उसे अपना डाला। जैसे यहाँ भी तो बहुत बाह्यकी बातें देखी जाती हैं। मतलब नहीं किसी से और राग बन गया, दुःखी हो गए, तो यहाँ भी भेदविज्ञान करना कि पूर्वबद्ध कर्मका अनु-

भाग खिला, उसका निमित्त पाकर अपनी अनादिकी वासना रीतिके अनुसार यह ज्ञानस्वरूप से चिगा। बाहरी पदार्थोमें लगा और इसने अपनेको बरबाद कर डाला।

विकल्परहितमे भी विकल्पकी छायाका रहस्य--अच्छा तो अब देखिये इसने विकल्प की पकड़ की ना, तो इस विकल्पने बरबाद किया, तो फिर सहजस्वरूपको देखो। क्या विकल्प करना मेरे स्वभावमें बना ? जब अपने स्वभावकी दृष्टि करते हैं तो विदित हुआ कि मुझमें विकल्पकी गुञ्जाइश नहीं, मेरा स्वरूप तो विकल्परहित है। विकल्प क्या है ? ज्ञानके व्यापारका बिगड़ा हुआ रूप। ज्ञानका यह बिगड़ा हुआ रूप बन कैसे गया ? आत्मामे अपनी ओरसे अपनी सहज वृत्तिसे नहीं बना, यह मलिन छाया नहीं बनी। आत्माका ज्ञान करें सब विदित हो लेगा। जैसे पानीमे रग डाल दिया, पानी रग गया तो क्या पानी अपने स्वभावसे ऐसा रग गया है ? वह रग ऐसा घुल गया कि पानी सारा रगीन हो गया। ऐसे ही वह कर्मका ऊधम, कर्मकी लीला, कर्मका अनुभाग, जो कर्ममें ही है, जिसका अन्वय कर्ममे है वह है कर्म की लीला। मगर जैसे रग पत्थरमे तो नहीं घुलता, घुलता तो जलमे है ना, ऐसे ही वह कर्म का रग जो घुला वह कहीं अन्य जड़मे नहीं घुल गया, उपयोगमे आया, यह प्रतिफलन हुआ, उपयोग रंगीन हो गया। तो ऐसा विकल्प होना मेरे स्वभावमे नही। हाँ स्वभावमे तो नहीं, लेकिन जब अपनेसे बाहर उपयोग रखता हुआ हो तो विकल्प होता, फिर भी प्रदेशत. इस मुझमें ही उपयोग है। जैसे कोई पुरुष कमरेमें ही तो बैठा है, मगर ढूक रहा है बाहरमे, तो कहीं वह पुरुष बाहर तो नहीं चला। पुरुष तो कमरेमे ही है, मगर ढूक रहा है बाहर। ऐसा उपयोग कहीं बाहर नहीं चला गया, उपयोग तो है मेरे आत्मामे, आत्मप्रदेशमे, मगर ढूक रहा है बाहर। तो जब यह उपयोग बाहरमें कुछ ढूकता है, कितना बाहरमे ? क्या कोई हाथ दो हाथ दूर ? अरे इससे भी दूर तथा निज घरसे भी बाहर। घरमे भी बाहर, बाहरमें भी बाहर। बाहरमें बाहर तो ये सारे पदार्थ हैं और घरमें बाहर क्या ? जैसे अपनी परिणति हो रही है उस परिणतिको देखना है वह घरमें बाहर देखता है। तो दोनो ही तो कर रहा है यह उपयोग। घरमें बसे हुए इन बाह्य पार्दोको भी देख रहा और बाहरमें इन पडे हुए बाहरमें भी चित्त दे रहा, तो अपनी बरबादीका इतना डबल साधन उपक्रम करने वाला जीव है विकल्पमें। तो भीतर जब स्वभावको देखते हैं तो विकल्पकी गुञ्जाइश नहीं। बाहरमें जब बाह्य तत्त्वोको निरखते हैं तो ये विकल्प बहुत तेजीसे उमड़ते हैं। यहाँ भी सोचें कि यह विकल्पोका अपराध किसका है ? तो इसका उत्तर वह ही है, मेरा अपराध नहीं, कर्मका अपराध नहीं, दोनोंका अपराध नहीं। उत्तर आयगा, निमित्तनैमित्तिक भाव। यहाँ देखो वस्तुके सत्यस्वरूपको देखकर जो ज्ञानविकास जगता है वह तो है एक सीधा उपाय। सो ठीक ही

है, वह उपाय करना चाहिए, पर जो बात अपने आपपर बीत रही है उसका निर्णय न बने तो हम आगे न बढ पायेंगे। उसका निर्णय देता है निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय और उसके निर्णयसे हम स्वभावके परिचयमें पहुच जाते हैं। विकल्प करना मेरा अपराध नहीं, किन्तु पूर्वबद्धकर्मका अनुभाग खिला, उपयोग प्रतिफलित हुआ और यह मैं अपनी धारणा, वासनाके अनुसार स्वरूपसे खिगा और बाह्य तत्त्वोमे लगा, बस विकल्पका रूप बन गया। तो यहाँ भी क्या पौरुष करना ? विकल्प मेरा स्वभाव नहीं, यह निमित्तका प्रतिफलन है। इसमें मै क्यों बसूं ? इस विकल्परहित निज विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमें अपने आपके स्वरूपका अनुभव बसो।

स्वयके लिये स्वयका महत्त्व—देखो अपने लिए आप ही खुद महान् हैं, अपने लिए आप ही महान् सर्वस्व हैं तभी तो आप पौराणिक चित्रणमें यह पाते हैं कि जैसे कि यह घटना आयी—वज्रभानुका जब विवाह हुआ, स्त्री घर आयी, ४-६ दिन बाद उस वज्रभानुका साला उदयसुन्दर अपनी बहन (वज्रभानुकी स्त्री) को लिवाने आया तो स्त्रीके प्रेममें आसक्त होकर वज्रभानु भी स्त्रीके साथ-साथ अपनी स्वसुराल चल पड़ा। देखिये ऐसा तो शायद कभी किसीको न सुना होगा कि स्त्री पहली वार आये तो उसके मायके उसका पति भी उसके साथ-साथ जाये। मगर वज्रभानुको इतना तीव्र मोह था कि वह अपनी स्त्रीके साथ साथ चल पड़ा। अब वज्रभानु, उदयसुन्दर और उदयसुन्दरकी बहन (वज्रभानुकी स्त्री) ये तीनों ही चले जा रहे थे। रास्तेमें क्या देखा कि एक जगह एक मुनिराज शान्तमुद्रामे बैठे हुए तपश्चरण कर रहे थे। मुनिराजके दर्शन होते ही वज्रभानुका मोह गल गया। देखिये बड़े पुरुषोंकी बड़ी अद्भुत महिमा होती है। परिणामोके पलटने मे देर नहीं लगती। जहाँ सत्य ज्ञानप्रकाश जग गया, अपना स्वरूप दिख गया, वहाँ कोई कितनी ही कोशिश करे, वह मोह का दाग अब आ नहीं सकता। वज्रभानु एकदम योगीकी मुद्रा निरखने लगे। उदयसुन्दर मजाक कर बैठा—अरे मुनिराजको टकटकी लगाकर बड़े गौरसे देख रहे हो, मुनि होना है क्या ? वज्रभानु तो इसकी बाट ही जोह रहा था कि मै कैसे इन दो से (उदयसुन्दर व उस की बहनसे) कैसे पिण्ड छुडाऊँ ? तो वहाँ वज्रभानु बोल उठा, हाँ हम मुनि बन जायें तो क्या तुम भी बन जाओगे ? तो वह तो यह जानता था कि इतना तीव्र मोही व्यक्ति मुनि कैसे बन सकता ? सो वह बोल उठा—हाँ हम भी मुनि बन जायेंगे। अब वज्रभानु तो मुनि बन-कर ध्यानस्थ हो गया। उसके मोहको गलते देखकर उदयसुन्दरका भी मोह गल गया और मुनि हो गया। अब वज्रभानुकी स्त्रीने जब उन दोनोंको विरक्त होते देखा तो उसका भी मोह गल गया, वह भी वहीं आर्यिका हो गई। तो यहाँ कौन किसका है ? खुदका खुद है आलम्बन-

आश्रय, महान् जिम्मेदार। खुद अपने ज्ञानको सभालो, अपने ज्ञानमें प्रीति जोड़ो और अपने आपको अमर अनुभव करो। इस उपायसे कष्ट भी मिटेगा, दोष भी दूर होगे, विकल्प भी दूर होगे।

विकल्प, दोष व कष्टका परस्पर सवध तथा इन तीनो विडम्बनाओके विनाशका उपाय—यहाँ जो तीन बातें बतायीं—कष्ट, दोष, विकल्प। तीन बातें होनेपर भी इनमे मूल कारण है विकल्प। उसका कार्य है दोष, उसका कार्य है कष्ट। है यद्यपि ये तीनो एक समय होती है, फिर भी जब उनमे यह खोज की जाय कि किसके कारण क्या हुआ? तो विकल्पके कारण दोष बना, दोषके कारण कष्ट हुआ, और फिर देखो तो तीनो एकमेक, गुत्थमगुत्था। एकके कारण दूसरी बात। तो ये सारी विडम्बनायें जो मुझमे चल रही हैं इनका विनाश होनेका उपाय है निमित्तनैमित्तिक भावको यथार्थ जानकर विभावोकी उपेक्षा करना और फिर अपने उपादानके स्वभावको निरखकर उस स्वभावमे मग्न होना, इस ही विधिसे ससारके समस्त सकट दूर हो जाते हैं।

( ६१ )

मनको नियत्रित करो, इन्द्रियोंका व्यापार बन्द करो, सर्व विकल्प हटा दो, अन्तरमे सहज विश्राम लेकर ज्ञानमें सहज ज्ञानप्रकाशमय हो जाओ। प्रियतम, सहजानन्दधाम! निज सहज चित्स्वभावमें लीन होकर परम तृप्त होओ।

क्लेशविनाशके उपायमे प्रथम आवश्यक कर्तव्य मनका नियत्रण—मनुष्योको जितने भी क्लेश होते हैं उन क्लेशोका कारण है मनका नियंत्रणमें न रहना। जिसका मन अपने ज्ञानप्रकाशके बिना अनियत्रित है अर्थात् मन चाहे विषयोंमें दौडता है और इसी कारण इष्ट रागके साधन न मिलनेसे, या उनमें बाधा आनेसे बहुत व्याकुलता होती है, ऐसी व्याकुलता का कारण है मनको स्वच्छन्द बनाना। कोई सा भी काम मनको सयत किए बिना नहीं बनता। बुरा काम हो, चाहे भला काम हो, प्रारम्भसे अन्त तक पार पाना है तो उस बुरेकी ओर मन लगाना पड़ता है और भले कामका कोई प्रारम्भसे अन्त तक पार चाहता है तो मनको उस भले कामकी ओर लगाना पड़ता है, पर बुरे कामकी ओर मनको लगानेका नाम है मनका अनियंत्रण। बुरे कामसे बचाकर अच्छे काममे मन लगानेका नाम है मनका नियत्रण। सो अगर वर्तमानमे भी सुख पाना चाहते हो तो पहली बात यह है कि मनको नियत्रित करें। मनको नियत्रित करनेके लिए पहले सही ज्ञानद्वारा अपने हितपथका निर्णय बनावें, मेरा हित किस काममे है? भले ही हम हितके पथसे डिगते रहे, उस पर चल न सकें, फिर भी यदि हितपथका निर्णय होगा तो डिगने के समयमे भी हम अधिक डिगे हुए न रहेंगे, क्यो

कि भीतरमे ज्ञानप्रकाश बना हुआ है और डिग भी गया तो उस डिगनेका परिहार हो सकता है। जैसे बताया है कि कोई चारित्रसे भ्रष्ट हो जाय और सम्यक्त्वसे भ्रष्ट न हो, सम्यक्त्व बना रहे तो वह कभी फिर चारित्र पाकर मुक्ति पा लेगा। जहां यह बात कहते हैं कि चारित्रसे भ्रष्टको भ्रष्ट नहीं कहा, किन्तु सम्यक्त्वसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहा। उसका अर्थ यह है कि चारित्रसे भ्रष्ट हुआ पुरुष यदि सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नहीं है तो फिर चारित्रको पा लेगा। मगर जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट है वह वास्तविक चारित्रको नहीं पा सकता। इसके मायने सम्यक्त्वसे भ्रष्ट सिद्ध नही होता और चारित्रसे भ्रष्ट कभी सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ नहीं है। लिखा है ग्रन्थोके भीतर तो उसका अर्थ है कि सम्यक्त्वसे जो भ्रष्ट है वह चारित्रसे भी भ्रष्ट है, सिद्ध नहीं होगा और जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नहीं वह चारित्रसे भ्रष्ट है तो सिद्ध न होगा, किन्तु जिसे सम्यक्त्व है उसे मौका है कि वह चारित्रको पा लेगा और मुक्त होगा। मुक्ति तो चारित्र बिना होती नहीं, मगर यह तारतम्य बताया कि सम्यक्त्व-भ्रष्ट पुरुष तिरनेका पात्र नहीं है, और जो सम्यक्त्वसे लगा हुआ है वह और चारित्रसे भ्रष्ट है तो वह पात्र है, फिर चारित्रको पा सकता है। तो ऐसे ही समझिये कि हमारे मनमें शुद्ध ज्ञानका प्रकाश हुआ, और, मन चाहे डुलता हो, नियंत्रित न होता हो, लेकिन ज्ञानप्रकाश है तो मनके नियन्त्रणकी पात्रता है हममें। हम तो ज्ञानका उपयोग बनायें और मनको नियन्त्रित करें। सर्व-प्रथम हमें प्रगतिमार्गमे आवश्यक है अच्छे काममे मनको नियन्त्रित करना, देश वालोका काम, देश नेताओंका भी काम। मनको नियन्त्रित करके देशोद्धारका काम कर पायें, समाजोद्धार का काम कर पायें, वह काम समाजनेता अपने मनको नियन्त्रित करके कर सकते हैं। तो उद्धारका काम मनकी स्वच्छन्द प्रवर्तनकलासे नहीं हो सकता।

मनोनियन्त्रण और संयमनका भलाईमे सहयोग—जैसे दो बातें रखीं—असंयम और संयम। कोई पुरुष ऐसे ही दो पुरुष जिनमे एक ऐसा है कि अज्ञान छाया है मगर संयममें चल रहा, अपने व्यवहार संयममे, खानपानके संयममें, अपनी भक्ति उपासनाके संयममे चल रहा और दूसरा पुरुष ऐसा कि अज्ञान छाया है और असंयममें लग रहा है। न तो चारित्र है, न ज्ञानप्रकाश है और न बाहरमे कोई मनका नियंत्रण है, जैसा चाहे खाया, जैसा चाहे बोला, जैसी चाहे तृष्णा रखी, जितना चाहे परिग्रहका भाव बनाया। असंयममें बना है तो हैं तो दोनोके ही अज्ञान, मगर अज्ञान और असंयम जहां दो बातें हैं वह ठीक है या अपेक्षाकृत जिसके अज्ञान तो है पर संयममे चल रहा है वह ठीक है? अपेक्षाकृत देखकर विचार करें। एक अपना बाह्य आचरण पवित्र रहेगा तो मौका मिलेगा कोई सत्संग पाकर कुछ ज्ञानप्रकाश में आ जाय, और अज्ञानमे भी है और असंयममे भी है तो उसको मौका मिलना कठिन होता

है। तो पहला काम यह है कि मनको नियंत्रित करें। देखो कोई पुरुष जो चाहे अटपट बोलता। उसका कारण क्या है कि उसका मन नियंत्रण मे नहीं है। अच्छा फिर बाहरमें आपत्तियाँ भी कितनी ही आती हैं, अनेक विडम्बनायें बन जाती हैं। तो सुखसाता शान्ति पानेके प्रयास में पहला प्रयास है कि मनको नियत्रित करें।

विपयव्यापारके निरसनका भलाईमे सहयोग—क्लेशविनाशके उपायमे दूसरी बात है—इन्द्रियका व्यापार बन्द करें, बहुत-बहुत जो चाहे देखते रहें। खूब राग रागनीके शब्द सुननेसे मनमें क्षोभ होता, जैसा चाहे भक्ष्य अभक्ष्य खाकर खूब खानेका मौज लिया, ऐसे ही पञ्चेन्द्रियके विषयोमें स्वच्छन्द प्रवृत्ति हो तो उसका मन अधीर रहता है और वह किसी एक निर्णयपर, सही बातपर आ नहीं सकता है। जीवन है और इन्द्रियविषयोके प्रसग भी होते हैं, खाये पिये बिना भी काम नहीं चलता है, फिर भी मनके भावसे बाहरमे बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। एक तो उन विषयोमें आसक्ति रखता हुआ, उनमे ही मौज मानता हुआ विषयोमें लगता है और एक यह बात स्पष्ट है कि आत्माका कल्याण तो आत्मस्वरूपको समझकर उसकी आस्था रखकर उसही में मग्नकर होनेमे है। परिस्थिति ऐसी है कि करना पड रहा है। जैसे कोई कोतवाल चोरको गिरफ्तार करके ले जाये जेलमे, तो क्या वह जाना चाहता है? नहीं जाना चाहता, पर जाना पड़ रहा है, क्योंकि उसपर हटर लगते हैं, मार लगती है। ऐसे ही ज्ञानी जीव, जिसे ससारका और आत्माका सही परिचय मिल गया—मेरा आत्मा आनन्दधाम है, स्वय आनन्द और ज्ञानसे भरा हुआ है, स्वरूप ही इसका यह है। इस स्वरूपसे विश्राम हो तो वही कल्याण है, और यह संसार ये दुनियाके दिखने वाले बाह्यपदार्थ, ये चेतन और अचेतन पदार्थ इनका सग पाकर, इनको उपयोगमें लेकर इस जीवको सारे जीवनभर कष्ट रहता है, और जीवन गया, दूसरे भवमे गया तो यहांका सग एक भी कुछ भी साथ नहीं जाता है। जरा भी मदद नहीं करता। यहां तो दसों मित्रोका मन रमानेमे या उनसें दिल लगानेमें शोक मान रहा है। मरेके बाद एक भी साथी न होगा, यह है ससारका स्वरूप। तो जिसने ससारका स्वरूप जाना, आत्माका परिचय किया ऐसा पुरुष यदि स्थिति में है ऐसा कि भूखा रह नहीं सकता, खाना पड़ेगा ही और जब खाना पड़ेगा तो उसके साधन जुटाने पड़ेंगे। तो ये सारे काम यों किये जा रहे हैं जैसे कि हटर लग रहे हो। परिस्थिति है, घटना है, करना पड़ रहा है, मगर मन तनिक भी न हो इसमें तो अपनी रक्षा है, और इसकी शक्तियां गईं, भीतरका ज्ञानप्रकाश समाप्त हुआ, अज्ञान अधेरेमें फस गया तो इसका अकल्याण है। भीतरी भावके अन्तरसे ससार और मोक्ष जैसे मार्गका अन्तर मिल जाता है। अब आप यह देखो कि कितनी सुगम ओर सरल बात है। किसीका कुछ लेना

नहीं, किसीको कुछ देना नहीं, किसीसे कोई प्रतीक्षा नहीं, किसीसे कोई फंसाव नहीं, अपना मन है अपने पास है, अपना ज्ञान है, हमारेमे ज्ञान हैं। हम भीतरमें अपने ज्ञानद्वारा सही-सही वस्तुके परिचयको बनाये रहे तो इसमें कौनसा कष्ट है, कौनसा क्लेश है और आनन्द ही आनन्द मिलता है। और उससे संसारमार्ग, मोक्षमार्ग—ऐसे दो पथ स्पष्ट बुद्धिमें अलग हो जाते हैं, तब यह ससारमार्ग छोड देता है और मोक्षमार्गमे लगता है।

पैसेसे धर्मकी असभवता व पैसेमे चित्त होनेसे धर्म की असभवता—देखो बात प्रसग से यह आ रही है कि अपने ही ज्ञानद्वारा अपने आपमे सुगमतया अपना कल्याण किया जा सकता है। पर ऐसा सोचते समय कोई यों खुश हो जाय कि यह तो बड़ा सुगम मार्ग है। इसमे तो पैसे का खर्च भी नहीं करना पड़ता। सो भैया! ऐसा सोचने वाले को मार्ग नहीं मिलता, क्योंकि उसकी पैसेमे बुद्धि है। जिसकी पैसे मे, तृष्णामे बुद्धि फसी हो उसे मुक्तिका मार्ग नही मिल सकता। वह असारता तो पहले चाहिये कि जगतका एक परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं लगता, और मुझको किसी वैभव की जरूरत नहीं। और है, तो लगता हो अच्छे ठिकाने काममें तो खूब लगे, खूब प्रसन्न हो, ऐसी जिसकी भीतरी आदत बनी हो वही पुरुष इस मुक्तिमार्गके पाने मे सफल हो सकता है। आप देखो एक आत्माके अन्दर भीतरी झाड़ू बुहारू करनेका काम बना रहे कि कब कैसी झाड़ू बुहारी लगावे कि सफाई हो और उसमे हम आगे जावें। देखो सबसे बड़ी विपत्ति है वैभवकी तृष्णा, पहले उसको खत्म करना होगा, तब आगे कुछ हमारी प्रगति हो सकती है। तृष्णा खत्म हो जायेगी। वैभव हटा दें, कुवेंमे डाल दें, यह बात नहीं कह रहे, किन्तु सत्य ज्ञानका प्रकाश पाकर उस वैभवकी ओरसे हमारी उपेक्षा बने, और कभी यह भावना न जगे कि हाय पैसा जा रहा है, यह पैसा मेरे पास ही रहे, इसमें कमी न आये, इसमे और बढ़ाया जाये—यह भाव रहेगा तो यह भाव इतना कठिन कलुषित भाव है कि वहाँ धर्म और ज्ञानका प्रवेश नहीं हो सकता। बात यहाँ यद्यपि यह सच कही जा रही है कि धर्मपालनमे पैसेका काम नही, मगर पैसेमें ही जिसका दिल है उसको धर्मका मार्ग नहीं मिलता। पहले अपने ज्ञानप्रकाशसे उस पैसेमें से अपना दिल हटा लीजिये, फिर बादमें यहाँ आइये। बात तो यही सच है कि यह रत्नत्रय धर्म, यह आत्माका शान्तिमार्ग पैसा खर्च करनेसे नहीं मिलता है। यह तो अपने ज्ञानभाव के द्वारा मिलता है, मगर इसके भीतर यदि यह उमग पड़ी हो कि मार्ग तो बिलकुल सीधा है, इसमें पैसेका खर्च नही करना पड़ता है, यह भाव आये तो मार्ग खत्म, क्योंकि एक वैभवकी ओर तृष्णा का भाव चल गया और जिसे वैभवमे तृष्णा है उसको ज्ञानप्रकाश नहीं मिलता। कैसी ये दो बातें स्पष्ट है? पैसेसे धर्म नहीं होता, किन्तु मे पैसे दिल होनेसे धर्म जरा भी नही होता

है, इन दो बातोकी एक ठीक विधि समझलो। कोई यह कहे कि पैसेसे धर्म होता तो वह भी धर्म नहीं कर सकता, और कोई यह समझे कि पैसा खर्च करनेकी तो जरूरत ही नहीं है, यो ही धर्म हो जाता तो उसे धर्म नहीं होता। कितना अंतरगको साफ करने की आवश्यकता है ? मनको नियत्रित करें, पचेन्द्रियके विषयोंके व्यापारको बंद करें। कोई किसी का साथी है नहीं, यहाँ भी आप अपनेमें अकेले-अकेले बैठे हैं। जैसे आपके किसी विषयसुख या अन्य सुखसाता के लिये कोई साथी नहीं है, ऐसे ही आपके धर्ममार्ग को चलाने के लिये भी कोई साथी नहीं है। भले ही वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध है, योग्य वक्ता और योग्य श्रोता और वहाँ लगता है श्रोताओको ऐसा कि देखो हमारा साथी तो कोई नहीं, हमारा हित तो कोई नहीं, मगर यह धर्मात्मा जीव है, ये साधु सतजन, ये यथार्थ उपदेष्टाजन हमारे सच्चे हितू हैं। हां अपेक्षा से तो बात यह बिल्कुल सच है कि त्यागी, साधु, सत विरक्त, ज्ञानी आपके सच्चे हितैषी हैं, मगर यहाँ ही दृष्टि रहे और अपने आपका अकेलापन एकत्व स्वरूप इसका कुछ प्रयोग न करें तो हित नहीं हो सकता। बात दोनो चाहिए —तीर्थ ओर तत्व। तीर्थ बिना तत्व नहीं और तत्त्व बिना तीर्थकी कीमत नहीं। तो यह ज्ञानप्रकाश हमको तब मिलेगा जब समस्त परवस्तुओ से हम अपनेपनका एकदम कटाव कर लेंगे कुछ नहीं मेरा। उसमे चित्त न फसे।

परप्रसगमे रहकर भी परसे कटाव की सभवता — देखो परिस्थिति है ऐसी कि आप को घर जाना पडेगा, आप यहाँ घंटा भर रहेंगे, स्वाध्याय सुनेंगे, कुछ दिन रह लेंगे, पर परिस्थिति ऐसी है कि घर जाना पड़ेगा, यह बात सबको मालूम है। तो परिस्थितिवश घर जाना पड़ा तो चले जायेंगे। मगर वर्तमानमे तो प्रत्येक पदार्थसे एकदम कटाव करके अपना चिन्तन करें, यह बात तो बना सकें १०-५ मिनट। कुछ तो बना सकते। तो कुछ क्षणको ऐसा सबसे कटाव करके अपने आपमे ज्ञानप्रकाशका अनुभव करनेकी योग्यता न मिले, नहीं है, नहीं कर सकते, तब तो समझो कि कल्याणमार्गसे बहुत दूर हैं। विषयोमें तो ऐसा हर एक कोई कर लेता है कि जब खाने के स्वादमे तेज आसक्ति है तो बाकी सभी इन्द्रियोका एकदम कटाव कर दें, आँखोको भी मीचकर, कानोको भी बन्द, नाकको भी बन्द, सब प्रकार का सोचना भी बद। इन विषयोमे तो जानने चलते हैं लोग। किसी भी विषय मे लगना हो तो अन्य विषयोसे कटाव कर डालते हैं। वासना तब भी नही मिटी। मगर कटाव तो कर देते हैं और बातोंका एक ही विषयमें लगनेके लिये। अब जरा पञ्चेन्द्रियके सभी विषयों से कुछ क्षणको यों समझकर कटाव करदें कि विषयोंका व्यापार करना व्यर्थ है, अज्ञान है, इस समय भूख तो लगी नहीं, इसलिये खाने का विकल्प तो आसानी से छोड़ सकते हैं। स्पर्शका

कोई प्रयोजन नहीं। वह भी छोड़ सकते, गंध को भी छोड़ दे, आँखोमें ढक्कन लगे हैं सो बंद कर लें, यह भी बन जायगा, मगर कानोमें कोई ढक्कन नहीं लगा, यहाँ जरूर परेशानी हो जाती है। लेकिन फिर भी देखा चार इन्द्रियोको तो वशमें कर सकते हो, कर ही रहे हो। कान ऐसे वेढगे वने कि इनपर कोई ढक्कन ही नहीं है। आवाज आती है तो कानमें आती है, यह बड़ी विपत्ति है। लेकिन यदि मनको रोक लेंगे तो छोटी मोटी आवाजसे बाधा न आयगी और कोई बड़े योगीजन हो तो बड़ी आवाज से भी बाधा नहीं आ सकती।

इन्द्रिय व्यापार रोककर अन्तरमे अन्तर्नाथके दर्शनका प्रयास— भैया! इन्द्रिय का व्यापार रोक दें और कुछ क्षण अपनेको ऐसा अनुभव करें कि मै ज्ञान ज्ञानप्रकाश मात्र हूं। ज्ञान व जानना। जानना अमूर्त है। ज्ञानमें रूप, रस, गंध नहीं। एक लोक में जिसका केवल जानन प्रतिभास मात्र ही है, यह हूं मै, यह हूं मै, ऐसा बोलना भी जहाँ नहीं यह हूं मैं, उसे देखो और उसमे मै का प्रत्यय बने। यह धारणा जितनी दृढ़ बन जायेगी, मैपर एक ज्ञान जम जायगा, उस समयमे ऐसा अलौकिक आनन्द प्रकट होगा कि उसीको कहेगे स्वानुभव ज्ञानानुभव। एक बात दृष्टिमें फिर याद दिलानी है, बोलो इस ज्ञानानुभवके कामके लिये पैसेकी जरूरत पड़ी क्या? कुछ पैसेसे यह काम बना क्या? एक धेलेकी भी आवश्यकता नहीं स्वानुभव पानेके लिए, मगर सुध हो जाय कोई—यह तो बडा सीधा काम है, इसमें तो पैसेका कुछ खर्च नहीं करना, बस उसकी लुटिया डूब गई। समुद्रमे डूबा। वह ज्ञानप्रकाश नहीं पा सकता। पहले उतना एक उदात्त भाव होना चाहिए कि धन वैभव तो मैल है, कीचड़ है और बल्कि हमको बरबाद करने का साधन है। उसमे लगकर मुझे कोई श्रेय न मिलेगा। यह तो मेरे एक शत्रुकी तरह है, चिपका है, लगा है, और भव भवमे मुझे रुलाता है, ऐसा वहाँ निर्णय होना चाहिए और लोकवैभवको चित्तसे एकदम हटा देना चाहिए। तो चित्त किसका हट सकेगा? कंजूसका नहीं। जिसको पैसे का लगाव है उसका चित्त न बन सकेगा उदार, किन्तु जिसमें प्रकृति यो बनी है कि गया तो गया, कोई काम है उचित, उसमें लगा दिया जावे। यह भी करे, यह भी करें उस पुरुषके चित्तमे इतनी उदात्तता रहती है कि वह किसी समय चाहे कि सारे विकल्प छोडकर केवल अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाये तो वह बना सकता है। ज्ञानानुभवमे पैसेकी जरूरत नहीं, पर पैसेकी जरूरत नहीं ऐसा समझकर खुश हो जाय तो उसे ज्ञानानुभव होता नहीं।

अन्तरमे पौरुष करनेका कर्तव्य—देखो बहुतसे काम पड़े हैं, मनका नियंत्रण करना और इन्द्रियविषयोका व्यापार बद करना। तो पहला काम यह है कि मनको नियंत्रित करें, मनका व्यापार बद करें, तब क्या होगा? देखो सर्वविकल्प छूट जायेंगे, और सर्वविकल्पोका

त्याग करके फिर अपने अन्तरमे अपनेको मग्न कर ले। देखो अपने अन्तरमें पोल नहीं, मुझ में पोल नहीं है, मै ठोस हूं। आप सोचते होगें कि क्या कहा जा रहा कि मुझमे पोल नहीं, किन्तु मै ठोस हू, कैसे हूँ ठोस ? ठोस तो यह शरीर है। आत्मा कहाँ ठोस होता ? आत्मा तो एक पोलका ही जैसा रूप है। क्योंकि अमूर्त है। भैया ! अमूर्त होनेको पोल नहीं कहते। किन्तु खाली रहने को पोल कहते। मैं आत्मा ज्ञानघन हूँ। अमूर्त तो हूँ मगर सर्व प्रदेशोमे पूर्ण ज्ञानघन हूँ, वहाँ अन्तर जरा भी नही है। वहाँ खाली जरा भी नहीं है। ऐसा मैं ठोस पदार्थ हूँ। वजन नहीं फिर ठोस। हैरानी की बात नहीं है। कुछ लोग सोच सकते है कि जिस चीजमे वजन भी नहीं उसे कहा जा रहा ठोस, सभी पदार्थ ठोस हैं। जीव ठोस, अणु ठोस, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी ठोस। जो ठोस नहीं वे वस्तु नहीं। जो भी पदार्थ हैं वे पूरे ठोस हैं। जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा प्रदेश है उन प्रदेशों का वह स्वरूप पूर्ण घन है। वहाँ अन्तर जरा भी नहीं है। तब ही तो इस बातकी याद दिलानेके लिये पानी से भरे हुए कलश को लोग सगुन मानते हे। जा रहे हैं और पानीसे भरा हुआ घड़ा दिख गया तो सगुन मान लिया। अरे सगुन वह कहलाता है जो आत्माकी याद दिलाये, असगुन वह कहलाता है जो आत्माको भुलावेमे डाले। सगुन और असगुनकी अन्य कोई व्याख्या नहीं। वह पानी से भरा हुआ कलश याद दिलाता है कि जैसे कलश के बीच पानी ऐसा ठोस भरा है जिसमे एक सूत भी खाली नहीं, ऐसे ही मै ज्ञानघन हूँ। जो अपने सर्वप्रदेशो मे ठोस भरा हुआ हो, ऐसे ज्ञानमय अतस्तत्त्वको निहारो और देखो अपने आपको पुकारो, यह ही तेरा प्रियतम है। इससे बढ़कर प्रिय जगतमे कुछ नही। हे मेरे प्रियतम, हे अतस्तत्त्व प्रभु, अब तो इस ही सहज चैतन्यस्वभावमे लीन होकर परम तृप्त होवेंगे। मेरा निर्णय है। मेरा अब दूसरा कोई प्रोग्राम नहीं। और इस प्रियतम को भी समझावें कि अब तो अपने सहज चैतन्यस्वरूप मे लीन होकर तृप्त रहू। यदि मै उपयोग बरबाद होकर जगतमे भटकता तो मेरे सगमे हे प्रभु ! तुम भी तो खिचे-खिचे फिर रहे हो। तो यह शिक्षा उपयोगको भी दें, प्रियतम को भी दें, इस चैतन्यस्वरूपको भी शिक्षा दें। यह अभेद उपासनामें जहाँ एक मन हो जाता है वहाँ ऐसी ही एक अलौकिक मैत्री बनती है कि इसकी गाली है तो मुझे गाली है, इसकी प्रशंसा है तो मेरी प्रशसा है। हे प्रियतम अन्तर्नाथ ! बहुत भटका मैं अनादिसे अब तक बाहर ही बाहर विषयोमें उपयोग दे देकर। अब तो अपने निज सहज चैतन्यस्वभावमें दृष्टि दूंगा, उसमें लीन होऊंगा, यो सदाके लिए परम तृप्त होने का पौरुष करूंगा।

( ६२ )

क्रोधके समय कर्तव्यके सुनिर्णय करने की सुबुद्धि रहती ही नहीं, क्रोधके समयके निर्णयका पालन नियमसे पश्चात्तापकारक होगा, अतः क्रोध के समय तन, मन, वचनको विश्राम दो, कोई प्रोग्राम मत बनाओ।

परेशानीका कारण कषाय—जगतके प्राणी कषायवश परेशान हो रहे हैं। स्वयके स्वरूपको देखो, सहज स्वभावको निरखो तो वहाँ परेशानीका कोई नाम नहीं है। दृष्टिमें यदि विविक्त एकत्वगत अपना स्वरूप रहे तो वहाँ परेशानी नहीं होती। जितनी परेशानी है वह कषायभावकी है। विषय और कषाय दो बाते है, तो विषय भी कषायमें ही शामिल है। विषय कषायसे अलग चीज नहीं है, किन्तु लोगोको राग बिषयो से अधिक है, इसलिये मुख्यतः से दृष्टि जाती, इस कारण विषयोंको अलग बोलते हैं। विषय भाव कषायभावसे अलग भाव नहीं है, वह है एक तृष्णाका ही रूप। ये तो सारे जगतके प्राणी कषायसे परेशान है और उन कषायोमें जो चार कषायें हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ सो देखो जब जिसकी चर्चा करें वही बहुत बड़ा लगता है कि जीव इन कषायों से परेशान है। क्रोध के समयकी बातमे क्रोध ही क्रोध परेशानीका कारण दिखता है और लोभसे जो परेशानी होती है वह क्या कम है? तृष्णाभाव होनेसे जो हैरानी होती है वह भी किसी से कम नहीं है। सभी कषायें अपने-अपने समयमे बड़ी परेशानी करने वाली है।

क्रोध होनेकी विडम्बना—अब जरा इस समय क्रोधपर विचार करो। क्रोधसे जीव को कितनी हानि है? देखें कहीं धर्ममे बाधा आती हो, धर्ममार्ग मिटाया जा रहा हो, ऐसी घटनाको देखकर कर्तव्य तो हो जाता है यह कि धर्ममार्ग मिट न पाये, यह है एक सम्यग्दर्शनका अंग। मगर उसको भी विवेकपूर्वक बनाना है ना तो वहाँ भी क्रोध न करना। कोई जीव अपने पर अन्याय करता हो तब भी क्रोध न जगे, प्रतिक्रिया चाहे कर लें। जैसे युद्धमें लड़ते हैं तो लड़ाईका काम तो सभी करते हैं और क्यो जी लड़ाईमें कोई सुभट ज्ञानी हो, सम्यग्दृष्टि हो तो क्या यह सम्भव नहीं है? ज्ञानी भी हो, सम्यग्दृष्टि हो यह सम्भव है। ज्ञानी भी हो, सम्यग्दृष्टि भी हो और युद्धमें है और संघर्ष हो रहा है, मगर उसके मूलमें क्रोध नहीं जगता। क्रोध तो जग रहा, क्रोध बिना युद्ध करे कैसे? पर मौलिक क्रोध नहीं जग रहा। एक कर्तव्यके नाते जो होना चाहिये सो जग रहा। जो ज्ञानी सुभट है उसकी बात कह रहे हैं। तो ऐसे बड़े-बड़े प्रसगों में भी मूलमें क्रोध नहीं, पर परिस्थिति मे क्रोध करना होता है। तब फिर अज्ञानी जो एक पर्यायबुद्धि करके क्रोध कर रहा है इसकी तो बड़ी व्याकुलता है क्रोधके कारण क्रोधके समय हमको क्या करना चाहिये, क्रोध के समय

निर्णय नहीं हो पाता। देखो क्रोध होता है इष्टमें बाधा होते दिख जाय उसमें। कोई काम करना है और उस काम में बाधा आती हो तो क्रोध जगता है और क्रोध जगा कि कर्तव्यका निर्णय करनेकी सुबुद्धि नहीं रहती। क्रोधमे जो कषाय उपयोगमे समायी, बस वहां कर बैठते हैं, तो क्रोधके समयमे कर्तव्य का निर्णय नहीं हो पाता है इसलिये क्रोध करनेके समयमे कोई प्रोग्राम मत बनावें। एक धीरतासे सोचलो, आवश्यक भी है कोई प्रतिक्रिया तो कर्तव्य जानकर प्रतिक्रिया कर लें, क्रोधमे आकर मत करें। वही काम क्रोधमे आकर किया जाय तो उसमे बाधायें विघ्न विपत्तियां बहुत आती हैं और बिना क्रोध किये परिस्थितिमे जितना कर्मोदय होता है उतना ही क्रोधमे रहे तो उससे सुबुद्धि दूर नहीं होती। तो क्रोधके समय चूंकि निर्णय करनेकी सुबुद्धि नहीं रहती, इस कारण क्रोधके समय कोई निर्णय का प्रोग्राम न बनाना चाहिये। क्रोधके समय मौन और प्रभुमन्त्र जपना श्रेय है।

क्रोधके समयके निर्णयकी भयकरता—घरके बालकपर भी क्रोध आ रहा हो तो क्रोधके समय उस बालकपर हमे क्या करना चाहिये, ऐसा अपना निर्णय न बनावें। वह बालकके लिये बडा भयकर बनेगा। एक घटना हुई ऐसी पजाबमे। एक मुख्त्यारने सुनायाथा कि कोई एक किसान गेहूंबेचकर आया, एक हजार रुपये के नोटो की गड्डी लिये था। जाड़ेके दिन थे। आग ताप रहा था। आग बहुत तेज जल रही थी, खूब मौज से बैठे हुए आग ताप रहा था। उसके पास उसके बच्चे लोग भी बैठे हुये थे। एक बच्चे ने खेलनेको वे नोट मांगा तो पिता ने नोटोकी गड्डी दी। बच्चेने खेल खेलमें ही वह नोटोकी गड्डी आग में डाल दी। सारे नोट जलकर राख हो गए। उस जगह उस पिताको इतना क्रोध उमड़ा कि उस बच्चेको उसी आगमें पटक दिया, वह बच्चा उसी आगकी भट्टीमें जलकर मर गया। तो भाई जब कभी अपने स्त्री पुत्र मित्र आदिकपर किसी कारणसे क्रोध आ रहा है तो क्रोधके समय मौन रखना अधिक उचित है। अभी घरमें किसीको तेज क्रोध आये तो उस क्रोधके समय जो कुछ बात बोलते हैं वह भी पूरी सुनने तकमे नहीं आ पाती। थप थप करके बोलता है। समझमे ही नहीं आता कि क्या बोल रहा है? क्योकि ओठ दांत आदि सब स्थान भग हो जाते हैं। शब्द स्पष्ट नहीं निकलते। तो क्रोधके समयमे मुद्रा बिगड़े, बुद्धि बिगडे और फिर क्रोधके समय कोई भी निर्णय किया गया हो, उस निर्णय पर चलें तो पीछे पछतावा होता है। जैसे उस किसानने उस बच्चेको आगमे पटक दिया था, पर बादमे उसे बड़ा पछतावा हुआ था। इसी प्रकार क्रोधके समयमें कुछ भी अनर्थकारी कार्य कर डाला जाय तो बादमे बड़ा पछतावा होता है। अभी कोई दो चार किलो घीसे भरा हुआ डबला अपने हाथमें लिए हो और किसी कारणसे उसे आ जाय क्रोध तो वह कहीं उस डबलेको नीचे

पटक दे, सारा घी खराब हो जाय। क्रोधके समय बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, पता नहीं कौनसा भूत सवार हो जाता है कि उस मनुष्यका बड़ा भयकर रूप हो जाता है। तो यह जीवन की एक साधना है कि किसी जीवके प्रति क्रोधभाव न जगे। भले ही कोई अन्याय कर रहा है तो वहाँ उसकी प्रतिक्रिया करें, समाधान दें, जवाब दें, पर अन्तर में अज्ञानी बनकर क्रोधी न बनें।

क्रोध के समय मौन व स्वरूपमननका कर्तव्य— क्रोध के समय बताते हैं कि किसी स्त्रीको बहुत ज्यादह गुस्सा आती थी तो उसे यह दवा बताई गई कि जब तुम्हे क्रोध आये तो तुम अपने मुखमे पानी भरकर गाल फुलाकर बैठे रहो। पानी गुटको नहीं, मुखमें भरे रहो। अबतो बताओ उस पानीसे क्रोध शान्त हो जायगा क्या? अरे शान्त तो न होगा, मगर जो मुख बद किए रहेगा तो कुछ बोल तो न सकेगा। तो क्रोध के समय बोले नहीं कोई तो इससे भी बड़ा आराम रहता है। पर कोई कहे कि क्रोधके समयमें ऐसा विवेक करो कि खबर ही न रहे। तो भाई उसीके लिये तो उपदेश है कि अपने ज्ञानस्वरूपकी भावनाको दृढ़ बनावें तो सुध भी रही आयगी कषायके समयमे भी। तो जब क्रोधका समय आये उस समय में विश्राम लेना चाहिए। आराम लें। आराममे क्या? राम आ। अपना जो आत्मस्वरूप है वह उसके ज्ञानमे आ, आराम, बस इसी में ही सच्चा आराम मिलता है। जब अपना सहज स्वरूप परमात्मतत्व ज्ञानमे रहता है तो आराम वहीं मिलता है, अन्य स्थितिमे आराम नहीं। तो ऐसे ही आराम पानेको अपनी धुन बनावें। मिलेगा विश्राम, मिलेगा आराम। तो क्रोध को बताया कि यह तो चाण्डाल है। उस क्रोध पर विजय प्राप्त करें तो सद्बुद्धि रहेगी और सर्वकामोंमें योग्य प्रवृत्ति बन जायगी।

( ६३ )

धर्मार्थ भी कुछ दान करानेकी बात कहनेमें कुछ दीलता तो होती ही है, वास्तविक नि संग हुए बिना दानकी बात न कहने में हीनता होती है अतः निःसग होनेका पौरुष करके दीनता व हीनता दोनो से मुक्त होओ।

लोभकषायकी बिडम्बना—उक्त निबधमें बतलायी क्रोधकी बात अब सुन लोजिये—जो बहुत तीव्र बात होती है अपने मार्ग में बाधक वह है लोभ कषाय। देखो जिस पुरुषके लोभ कषाय रहती है चित्तमें उस पुरुषसे धर्म नहीं बन सकता। और ज्ञान बिना ये कषाय दूर होती नहीं है। कभी लगता है ऐसा कि जिसके ज्ञान नहीं है वह भी देखो मंद कषायमे है। कोई विपत्ति नहीं आयी ऐसी अपनी मुद्रा है, मगर वासना जो बसी हुई है कषायकी वह उमड़ आती है। तो बध वहाँ भी अव्यक्त चल रहा था जबकि उस कषायमें दृष्टि भी

थी। प्रसंग आया तो विकार जग गया। एक घरमें बच्चेके पीनेके लिये माँ कटोरीमें दूध भर कर रख देती थी और मंदिर चली जाती थी। वही समय था बच्चेके दूध पीनेका और वही समय था उस बच्चेकी माताके मन्दिर जानेका। वहाँ एक सांप रहता था तो सांप रोज रोज उस बच्चे का दूध पी जाता था। वह बच्चा साँपके पास आकर सांप पर थप्पड़ भी मारता था, परन्तु वह सांप ...... नहीं था, सारा दूध पी जाता था। कुछ ही दिनोंमें वह साँप बड़ा मोटा हो गया। तो एक सांप उस सांप से कहने लगा कि कहो भाई तुम इतनी जल्दी मोटे कैसे हो गये? तो वह सांप बोला कि हम जैसा मोटा होने के लिए बड़ा धीरज चाहिये। अच्छा तुम क्या करते हो, हमे भी बताओ, हम भी वैसे ही कर लेंगे। ''अरे तुम से मुश्किल होगा। क्यो मुश्किल होगा, तुम भी सांप, हम भी सांप?'''अरे हम रोज एक बच्चेका कटोरेमे रखा हुआ दूध पी जाते हैं, बच्चा हमे थप्पड़ भी मारता रहता है पर हम शान्तिसे सहते रहते हैं, तो दूसरा सांप बोला कि हम भी मार सहेंगे और खूब दूध पियेंगे। तुमको उस बच्चेकी मार सहना बड़ा मुश्किल है, अच्छा तो हम नियम लेते हैं कि १०० थप्पड तक हम उस बच्चेसे कुछ न बोलेंगे। अब पहुच गया बालक के पास वह दूसरा सांप और दूध पीने लगा, बच्चेने थप्पड मारना शुरू कियाअब १०० थप्पड़ तकतो वह सांप कुछ न बोला। १०० थप्पड़के बाद जहाँ थप्पड बच्चेने मारा कि सांपने उसे डस लिया। बच्चा चिल्लाया, लोग जुड़े। बच्चा भी मर गया और लोगोने आकर उस सांपको भी मार डाला। तो बात यहाँ क्या हुई कि सांप यह गिनता जा रहा था, सोचता जा रहा था कि यह मुझे मार रहा है, होने तोदो १०० थप्पड। देखो उसके देह का लोभ था और उससे क्रोध उमडा। जबसे पिटना शुरू हुआ तबसे तीव्र कषायभाव हुआ। तो कषाय जिसके रहती है उसके निरन्तर भाव खोटे रहते हैं।

दानसे लोभपरिहार— अब विचार करें, क्या करना चाहिये सद्‌गृहस्थको? पैसा तो रहता ही है। गृहस्थीमे। अब उसका किस ढगसे क्या काम करें? देखो धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश। दान कर लो, या सम्पदाको भोग लो और दोनों ही काम न कर सके तो वह तो नष्ट होना ही है। तो भाई छोडकर जाना ही पड़ेगा सब, पर ऐसा क्यो किया जाय कि विवश होकर छोडना पड़े और दुर्गति हो? तो जब धन वैभव के प्रति उपेक्षा हो जाती है तब उसकी प्रवृत्ति धर्ममार्गमे लगती है और धर्मके लिये भी वह उस द्रव्य का सदुपयोग करता है। अब उस प्रसगमें एक समस्या आती है कि कोई धर्मका काम पड़ा है तो उस समय चाहिये कि जिसके पास धन है वह खुद ही अपने आप बचा करके उस कामकी पूर्ति करे जो सबके लिये हितकारी है। यह तो खुदके विचारकी बात है और दूसरा

पुरुष जिसको धर्म प्रिय है, किन्तु गरीब है तो वह दान नहीं कर सकता, है ही नही पासमे। तो दूसरा जो काम करता हो उसमे तो समर्थन हो सकता।

दानके समर्थनकी पुण्यकारिता——अब धर्मकार्यके अर्थ दूसरोसे पैसेकी बात कहना या न कहना, एक समस्या आती है, उस विषय का निर्णयइस निबध मे यह दिया है कि देखो पुरुषोकी दो स्थितियाँ होती हैं——निःसग और निसग न हो सकनेकी स्थिति। निःसगतामें निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा बनती है। वहाँ तो इस विकल्पका प्रसग नहीं। किन्तु जहां निःसगता नहीं वहाँ बाह्य वृत्ति क्या बनती है? प्रसंग यह चल रहा था कि धर्मके लिए पैसेकी बात कहें या न कहे? तो उसकी स्थिति यों है कि जो मनमे सोच रहा या निर्णयकी बात सुन रहा है कि हमको धर्मार्थ पैसेकी बात कहनी चाहिये कि नही? उसकी स्थितियाँ दो हैं——एक तो संग सहित परिग्रही होनेकी स्थिति और एक होता है निष्परिग्रह होनेकी स्थिति। तो यह बात तो सभीको कहना चाहिए कि धर्मके लिए भी पैसा देनेकी बात कही तो भाई कुछ दीनताके परिणाम तो होते ही हैं, किन्तु उसके साथ एक बात और समझनी है कि कोई पुरुष वास्तव मे नि सग तो हुआ नहीं, अन्तरगसे सगका सम्पर्क छूटा नहीं, ऐसी जिसके वास्तविक निःसंगता नहीं हुई और वह दानकी बात न कहे दूसरेकी भी तो इसमें हीनता होती है।

अब देखलो न दीनता और हीनता। धर्मके लिए भी दूसरोंसे धनका दान कहनेमे दीनता होती है, और खुद हैं परिग्रह सहित और ऐसी स्थितिमे धर्मके अर्थ पैसेकी बात नहीं करते या नही दिलाते तो उसमे हीनता होती है। बडी गहराईसे आप सोचेंगे तो मालूम पडेगा कि किस ढगसे हीनता होती और किस ढंगसे दीनता? तब निर्णय क्या? अब दोनों ही बातें हैं। अरे भाई समर्थन भी और अनुमोदन भी तो एक पुण्यकारी भाव है। अच्छा काम कोई कर रहा हो और उसकी सराहना करे, उसे अच्छा माने, तो यह पुण्यकारी भावना है। अच्छा कोई त्याग कर रहा है और उसका समर्थन न करे, तो उसकी हीनताकी मलिनता का वह परिणाम कारण है और देखो कभी किसी मुनिराजको आहार दिया जा रहा हो और कोई उसका समर्थन करता है तो उसे सद्गति प्राप्त होती है, तो त्यागका समर्थन न करे तो मनमे हीनता होती है। मानो अपने लिये तो कोई बहुत बातें चाहे और परोपकारके लिये दूसरोसे कुछ पैसेकी बात न कहे तो उसमें भी उसके चित्तमें हीनताके परिणाम रहते हैं। जैसे कहो विद्वेषके परिणाम, विरोधके परिणाम, न सुहानेके परिणाम तो ऐसे कलकित परिणाममें बध नहीं होता क्या? तो अब देखिये दोनों बात आ गई सामने कहना भी और

न कहना भी, तब क्या निर्णय है ? निर्णय यह है कि अगर दोनों ही तकलीफोंसे बचना है कि न मुझमें दीनता आये, न हीनता आये । तो वह वास्त वक मानेमें निसग हो जाय तो फिर उसमें दीनताकी बात न आ सकेगी और न हीनताकी। दुनियासे पृथक् हो जायगा।

सद्व्यवहारकी उपयोगिता—भैया ! परिस्थिति सबको समझा देती है । किसीको कोई कितना ही समझाये कि आपको यो करना या यो तोसमझमें नहीं आता और समझावो या न समझावो, बड़े हो गये तो अपने आप समझ बन जाती कि किसके करनेमें हमारा कल्याण लाभ है ? तो यह सब व्यावहारिक बात चल रही है। अपना व्यवहार कैसा होना चाहिये और देखो व्यवहार बिना गुजारा होता तो नही, जैसा होना चाहिये । व्यवहार वैसा न करें ऐसा किसी से नहीं बनता । करते ही हैं सब, अगर मुख से बोले और तरह करें और तरह, बस संघर्ष उसका होता है। मुख से बोलना पड़ता है सभीको न्याय जैसी बात पर जिसके अन्दर कषाय बसी है, चेष्टा बनेगी उसके तो उस कषायके अनुकूल चेष्टा बनेगी। क्रोधके समय निर्णय न करें और परोपकारके अर्थ सारा धन खर्च करें और दूसरो से भी कहकर धन खर्च करायें तो इसमें न दीनताका प्रसग आयगा, न हीनताका कर्तव्य निभ जायगा और अगर ये दोनो बातें पसद नहीं हैं तो परिग्रह रहित हो जायेंगे, फिर दोनो से छुटकारा हो जायगा। फिर क्या करना है कुछ ? तो अपना व्यवहार कैसा बने ? शान्त बने, क्षमाशील बने, उदार बने, उदात्त बने तो इस दृढ़ भावनाका जो संस्कार बनेगा वह तो काम देगा, मगर यहांका यह लौकिक वैभवका प्रसंग इस जीवके कोई काम न आयगा।

धन, मान, यश भोगादि विषयक तृष्णाकी सीमा होती नहीं, तृष्णामें विश्राम आराम आनन्द की झलक की संभावना होती नही, अत: हीन संसारी प्राणियो से सतोष की शिक्षा लो और आराम करो ।

क्लेशविस्तारका कारण तृष्णा—संसारके प्राणी जो दुःखी हैं वे सब तृष्णाके सम्बन्ध से दुःखी हैं । तृष्णा होती है परपदार्थोंमें उपयोग जोड़नेसे । कर्मोदयका निमित्त पाकर जो अव्यक्त विकार होता है याने नोकर्ममें उपचरित निमित्तमें उपयोग न जुड़नेकी घटनामें जो कर्मोदयका निमित्त पाकर अव्यक्त विकार होता है उसकी कुछ चर्चा नहीं करते, क्योंकि उसमें अपना क्या पौरुष चल सकता है ? बुद्धिपूर्वक विकार न हो एतदर्थ पौरुष करना है तो उसका उपाय यही है कि इन बाह्य निमित्तोमें उपयोग को न जोड़ें, मगर हमने परको अपनाया तो उसमें तृष्णाका सम्बन्ध जरूर रहेगा और जहां तृष्णाका सम्बन्ध है वहां सतापकी शान्ति नहीं हो सकती। तो तृष्णा होती किन-किन चीजोमें ? सो पहली बात तो

लीजिये। भोगकी पञ्चेन्द्रियके विषयोके भोगमें तृष्णा जगती है । जैसे खानेको मै खूब खाऊँ अच्छा बढ़िया रसीला भोजन ऐसी एक तृष्णा रहती है और उस तृष्णामे आनन्द नहीं है यह तो बात प्रकट है, मगर उस तृष्णाकी सीमा भी नही है। जैसे बताओ पकवान खा लेंगे तो तृष्णा फिर मिट जायेगी क्या ? मिठाई खा लेंगे तो तृष्णा मिट जायगी क्या ? जो बहुत बहुत स्वादिष्ट लगती हो उसे खा लिया तो क्या तृष्णा मिटेगी ? तृष्णा तो और बढ़ेगी। तो पंचेन्द्रियके भोगोसे तृष्णा मिटेगी नहीं, क्योकि तृष्णाकी सीमा नहीं होती । तब ही तो गुणभद्राचार्यने कहा है कि आशाका गड्ढा, तृष्णाका गड्ढा प्रत्येक प्राणोमें ऐसा अद्भुत है कि इस गड्ढेको पूरा करनेके लिये जितना-जितना विषयोका कूडा करकट भरा जाय उतना हो उतना यह गड्ढा बढ़ता चला जाता है । नहीं तो दुनियामें जो जमीनके गढ्ढे होते हैं उनमें कूडा करकट भरे तो वे भर जाते है, मगर तृष्णा का गड्ढा तो ऐसा ही विलक्षण है, जितना वैभव आये, जितने साधन मिले, जितना आराम मिले उतना ही तृष्णा का गड्ढा चौड़ा होता चला जाता है और उसी तृष्णाके कारण दुनिया दुःखी है ।

धन मानकी तृष्णाका दुःखद विस्तार—तृष्णा होती है भोगोंमे भोगका साधन है धन सो तृष्णा होती है धनमे और धनमे उतनी तृष्णा बढ़ जातो है कि जरूरत नहीं है धनकी फिर भी धन की अवधि नहीं रह पाती कि कितना धन जोड़ लें तो हमको तृष्णा मिट जायगी या सतोष होगा। तृष्णाकी म्याद नहीं रहती और फिर इतनी भी तृष्णा बढ़ जाती कि धन का प्रयोजन क्या है— यह भी बात भूल जाती है। धनका प्रयोजन यह है कि जब गृहस्थीमें रह रहे हैं तो भूख आदिककी वेदनायें नहीं सता सकती और वे मुझे बरबाद न कर दें, इस लिए उनकी वेदनाओको सिद्ध करनेका साधन होता रहो, धनका प्रयोजन इतना ही है, इससे अधिक कुछ प्रयोजन नहीं है, लेकिन इस प्रयोजन को भूल जाते हैं। और फिर यह मनमें आ जाता कि मै दुनियामे सबसे बड़ा धनो कहलाऊं, यह प्रयोजन चित्तमे आ जाता है, फिर इसके लिये सारा जीवन लग जायेगा, मगर इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती । तो धनकी तृष्णाकी भी सीमा नहीं होती। जब सीमा नहीं है तो जितना बढ़ते चले जायेंगे उससे आगे ऐसा लगता जायगा कि अभी तो कुछ नहीं है, अभी इतना और चाहिये । तृष्णा होती है मानमें। मेरा सबसे अधिक मान रहे और मैं मानमे सर्वाधिक रहूं, ऐसा कह सकते हैं तब जब अन्य सबकी तुच्छता जाहिर हो, यह छोटा है, यह बात जाहिर हो तब अपने मानका बड़प्पन रह सकता । मान में एक तो अपना गौरव चाहिये, इतनी भर बात और एक ऐसा मान जिसमे हो जाए कि दूसरे लोगोकी तुच्छता जाहिर हो, अपनी श्रेष्ठता जाहिर हो। मान की कोई सीमा नहीं है। करते जाओ तृष्णा, तृष्णामें सताएकी शान्ति नहीं है। जहां तृष्णा

है वहां आराम नहीं, विश्राम नहीं, शान्ति नहीं।

यश कीर्तिकी आकाक्षाका दुःखद विस्तार—तृष्णा होती है यश कीर्तिमें। तो देखो लोग यश की तृष्णामें ऐसा बढते हैं कि चाहते हैं कि मेरा सारे विश्वमे यश फैले। मेरा सदाके लिये यश फैले, सब जीवोमे यश फैले, मगर यह मालूम नहीं कि दुनिया कितनी बडी है ? जितनी आज की यह परिचित दुनिया है वह तो सारी दुनिया के आगे उतना है जितना कि समुद्रमे एक बूंद और फिर उस बूंदभर सारी दुनिया मे जितनी जगह में हम रहते हैं वह कितनीसी है ? सारे विश्वमे, सारे लोकमे क्या यश फैल सकता है ? यदि इस थोडी सी जगहमे यश फैलानेकी कुबुद्धि मिट जाय तो जीवका भला हो जाय, लेकिन तृष्णा ऐसी रहती है कि जितना-जितना क्षेत्र परिचित होता जाता है उतना ही उतनी तृष्णा बढ़ती चलीजाती है। चाहते हैं लोग कि मेरा सर्व जीवोमे यश फैले, पर ऐसा हो सकता क्या ? सभी मनुष्यो मे भी नहीं फैल सकता तो और जीवोंकी तो चर्चा ही क्या है ? २९ अक प्रमाण पर्याप्त मनुष्य होते हैं। आजकल के लोग तो कहते हैं कि दो तीन अरब मनुष्य हैं। जैसे १० अक रख दिया तो अरबकी सख्या हो गई, उसके बाद और भी ११, १२ आदि १८ अक तक बनाते गये तो वह शखकी सख्या हुई। आजकल बस इतनी ही सख्या चलती है, पर इतनी ही सख्या मनुष्योकी नहीं है, २९ अक प्रमाण मनुष्यो की सख्या है। हर अक मे १० गुना बढ़ता जाता है, तो २९ अक प्रमाण वाली संख्याका अनुमान तो करो कि वह कितनी बडी सख्या बन जायगी ? जरा विचार करो कि लाख दो लाख, १० लाख मनुष्योमे यश फैले, तो क्या हुआ ? मनुष्य कितने हैं, जीव कितने हैं और जहां यश फैलाया गया वे सब खुद स्वार्थी हैं, अपने आपका मतलब रखने वाले हैं, मोही जन हैं, उनसे क्या मिलता है ? वे मेरे प्रभु तो नहीं, व्यर्थकी बातमे अटककर अपने प्रभुका अपमान करना, तिरस्कार करना, भूला रहना, यह कितना बडा भारी अपने आपपर अन्याय है और यशकी, तृष्णाकी अवधि नहीं हुआ करती, सीमा नहीं हुआ करती, इसलिये तृष्णामे जरा भी मत पडो।

तृष्णाकी अत्यन्त अनर्थकारिता—लोग तो तृष्णामे अपनी चतुराई समझते हैं, मगर जीवको दुःखका कारण है तो यह तृष्णा ही है। तृष्णामे विश्राम नहीं, आराम नहीं, आनन्द और शान्तिको झलक भी नहीं और सम्भावना भी नहीं है कि तृष्णाका मार्ग अपनाकर और शान्ति पासके। तो बिल्कुल मोटी सी बात जो सबके सामने स्पष्ट है कि जो मिला सो सब छूटेगा, सब यहीं धरा रह जायगा। अकेला जीवको ही जाना पडता है ? यहांका सग समागम कुछ सुविधा भी दे सकता क्या ? प्रकट बात मालूम है फिर भी कैसा मोहका मद पिये हैं ससारी प्राणी कि जान रहे कि ये सब बेहोश पड़े हैं, शराब पीकर इनकी दुर्गति हो

रही है, नालीमें पड़े, मुखमें कुत्ते भी मूत रहे, इतना सब कुछ देखकर भी शराबका लोभ है, शराब ही पीता है। ऐसे ही मोहके मस्त पुरुष संसारी जीवोंको देख रहे हैं कि ऐसी विकट स्थितियोंको भोग रहे, कोई कीड़ा बना, कोई पतिंगा बना, कोई पेड़ बना, कोई पानी बना, कोई आग बना, ये सब ही तो जीव हैं जैसे कि हम है तो ऐसी हालत देख रहे हैं फिर भी अपनी जो पुरानी वासना है उससे नहीं हटते।

तृष्णाविनाशका आन्तरिक व बहिरग उपाय—भाई तृष्णाके त्याग बिना धर्ममें कदम नहीं आ सकता, यह बात पूर्ण निश्चित है। तब तृष्णाको छोड़नेका कोई उपाय है ना ? हाँ उपाय तो है। एक तो अंतरंग अमोघ उपाय–भेदविज्ञान बना लें, मै आत्मा समस्त पर और परभावोंसे निराला एक प्रतिभासमात्र चैतन्य ज्योति स्वरूप हूं, मेरा इन बाह्य पदार्थोंसे क्या सम्बन्ध ? इस ओर उपयोग देकर वर्तमानमे भी क्लेश सहूं और भव-भवमें रुलते रहनेका भी उपाय रच डालूं, ऐसी मुझको क्या पड़ी है ? तो अतरग उपाय तो है भेद विज्ञान और बाहरी उपाय एक यह ही बना लें कि जो ससारके जीव दिख रहे है दीन हीन खोटी स्थितियोंमें रहने वाले गधा, कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदिक पशु, पक्षी, कीड़े मकौड़े और यह तो एक बड़ी सुविधाकी बात है—जो सड़कपर चलने वाली बीसों सुगरियाँ मिल जाती है किसीकी पीठपर विष्टा पड़ा, किसीके कानोंपर पडा, किसीके मुखपर पड़ा तो आखिर यह सब क्या है यह भी तो अपने ही समान चैतन्यस्वरूप जीव है, उनको देखकर संतोष तो लेवें कि हम तो बहुत अच्छी स्थितिमें हैं। यह जीव कितना विकट खोटी स्थिति में है, उनको देखकर तृष्णा दूर करें और ऐसा अनुभव करें कि जो वैभव मिला है वह मुझे आवश्यकतासे कई गुना अधिक मिला है, उतनेकी जरूरत न थी इस जीवनको चलानेके लिए मिल गया, ठीक है, पुण्योदय है, अब आगे की तृष्णा न करें और वर्तमानमे पाये हुए धनको खोटे कामोंमें मत लगावें, अच्छे कामोमें उपयोग दें, तृष्ण मिटेगी और तृष्णा मिटने पर बुद्धि व्यवस्थित बनेगी और मोक्षमार्गमे अपना प्रवेश हो जायगी। तो यही एक उपाय बना लो। दिखने वाले इन हीन ससारी प्राणियोंसे संतोषकी शिक्षा ले लें, जिसे देखकर शिक्षा मिले वह तो हमारे लिए बडा महान् है। कोई बोलकर शिक्षा देता है तो कोई अपनारूप देखकर शिक्षा देता है तो ये ससारकी हीन दशायें अपना रूप दिखाकर शिक्षा दे रहीहै। इससे सतोषकी शिक्षा लें और अपना जो सत्य आराम है, सहज आनन्द है, बिना बनावटके जो सहज आनन्द है उसको प्राप्त करें।

( ६५ )

अपने आत्महित भावना हो तो वर्तमान व भविष्य समृद्ध हो।

भावनासे चूके तो न यहां कुछ मिलेगा, न आगे। सबसे निराले सहज ज्ञानमात्र अतस्तत्वके आश्रयमे हित है।

आत्महितकी भावनामे उभयत्र समृद्धि—लोग हिसाब लगाया करते हैं कि मैं सम्पन्न किस बातमे कहलाऊँ, इतना वैभव जोड लूं, डिग्री ले लूं तो सम्पन्न। क्या-क्या नहीं सोचा करते, अपने आपको समृद्ध घोषित करनेके लिए ? मगर सब जगह खूब निरीक्षण करके समझ लें कि समृद्धि कहीं बाहरके कीचड़ लपेटनेसे न बनेगी, किन्तु आत्महितकी भावना हो तो समृद्धि बनेगी। मै अपनेको अपनेमे जो चाहे कर पाता हूँ तो यहां ही क्यो न वह मार्ग अपनायें कि हम अपने को समृद्ध बनायें। आत्महितकी भावना हो तो देखो वर्तमानमे भी समृद्धि है और भविष्यमें भी समृद्धि रहेगी, जिसका वर्तमान सघषमय जीवन हो उसी वर्तमान दशामें कष्टमय जीवन हो और वह चाहे कि मुझे मोक्षमार्ग मिल जायगा, तो मिलेगा या उल्टा ससारमार्गमें बढ़ रहा। आत्महितकी भावना बिना मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकता। जिसके आत्महितको भावना है उसका जीवन बहुत सुलझा हुआ होगा। आप देखते हैं, रेलगाड़ीमें सफर कर रहे, आप किसी सीटपर बैठ हैं और कारणवश आप कहीं डिब्बेसे बाहर चले जायें, उस पर कोई दूसरा आदमी आपकी सीटपर बैठ जाय और आप आकर कहते हैं भाई यह हमारी सीट है तो वह अगर सज्जन है तो बड़ी शान्तिसे उठ लेगा। कहीं जगह मिली तो वहाँ बैठ जायगा या खड़ा हो जायगा। मगर जो उद्दण्ड लोग हैं, कोई गुंडा आकर बैठ जाय तो अशान्त कर देगा, कहो आपको पीट भी दे। तो भाई कारण क्या कि गुन्डा है और अगर वह सज्जन है तो बड़ी शान्तिसे उठकर आपकी सीट आपको दे देगा। तो जब तक इस जीवमें गुन्डापन रहता, कषायोका आदर रहता, अन्याय-का आदर रहता है तब तक जीवको वर्तमान में भी शान्ति नहीं, और जिसको वर्तमानमें शान्ति नहीं उसको भविष्यमे शान्ति कैसे मिल सकती है ? तो शाति चाहते हो तो अपने आत्माकी भावना बनायें। मुझे इस जीवनमे और कुछ न चाहिए। मेरे आत्माका ज्ञान और मेरे आत्माको शान्ति रहे, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए। देखो वर्तमान जीवन शान्तिमय रहेगा तो अगला जीवन भी शान्तिमय बन जायगा और ऐसी धारा रहेगी तो निकट कालमें मुक्ति पा लेंगे।

प्रभुताकी उपादेयता का स्मरण—सर्वोत्कृष्ट शुद्ध उपादेय है तो परमात्मा होना और यह बात हम आप सबमें सम्भव है, किन्तु स्वरूप तो वही एक है जो सहज वास्तविक अपने मे स्वरूप है, वही प्रभु कहलाता, इसीके पूर्ण विकासके होने को कहते हैं भगवान होना। भगवान होनेमे कहीं यह कारण नहीं है कि ऐसी शोभा हो, ऐसा सिंहासन हो, ऐसे छत्र लगे

हो, ये भगवान होनेके साधन नही, यह तो भक्तजन अपनी भक्ति करते है, उस परमात्म स्वरूपका आदर करते। और भक्ति इतनी बढ़ी है कि जिसकी जितनी योग्यता है वह वैसी भक्ति करता है। गृहस्थजन हैं तो छत्र वगैरहसे सजा देते हैं, जो योगीजन हैं वे गुणों का स्मरण करके अपूर्व आनंदका रस लेते हैं, वे छत्र चमर आदिकमे न पड़ेंगे। ऐसी जिसकी जैसी पदवी है उसके माफिक वह अपनी प्रभुभक्ति किया करता है। पर प्रभु तो वह है कि जो आत्माका सहजस्वरूप है वही मात्र विकसित हो गया, चीजका कोई सम्बन्ध न रहा। भगवानके कोई चिन्ह नही होते कि त्रिशूल हो, स्त्री हो, पुत्र हो, भस्म, जटा आदिक लगे हुए हो। भगवानका जो चिन्ह है उसे जो पहिचान जाता है वह कहलाता है मोक्षमार्गी, जान लिया प्रभुका स्वरूप क्या और वह किस उपायसे हो सकता है? हाँ तो इस सबके लिए चाहिए आत्महितकी भावना। आत्महितकी भावना हो तो वर्तमानमें भी समृद्ध है और भविष्य भी समृद्ध मिलेगा। इसलिए जीवनमे जो चाहें परिणतियाँ गुजरें, मगर आत्महितकी भावनासे न चूको। आत्महितकी भावना, सत्य धुन अन्दरमें बराबर रखते रहे, क्योंकि वह ही अपनेको शरण है, यह ही अपनेको पार करेगा, दूसरा कुछ पार न करेगा। अगर आत्म-हितसे चूक गए तो न यहाँ कुछ मिला, न आगे कुछ मिलेगा। इतनी तो एक दृढ़ गाँठ लगा ले अन्दरमें कि मेरे जीवनका लक्ष्य तो मात्र यही है कि आत्महित। बाहरी पदार्थोंसे उपयोग हटकर अपने आपके स्वरूपमें मग्न रहें, यह मात्र चाहता हूं, और इसी लिए मेरा मनुष्यजीवन है। आत्महित इसीमे है कि जो अपने आपका अपने ही सत्त्वके कारण जो स्वरूप है वह मेरा अतस्तत्त्व है, जिसको अगर कुछ विशेषतासे समझना चाहे तो ज्ञानमात्र, ज्ञान ही ज्ञानमात्र यह ही स्वरूप है और यह स्वरूप है सहज। जबसे मै हू तबसे ही स्वरूप है और जब तक मै रहूगा तब तक स्वरूप है। यह मै हू अनादिसे और अनन्त काल तक रहूगा याने अविनाशी हू—ऐसा यह मेरा ज्ञानमात्र स्वरूप सहज है और सबसे निराला है। शरीर के बधनमें है तो भी शरीरसे निराला है। शरीर यहाँ बैठा रहे तो मै आत्मा आगे कहीं जा न पाऊँ, शरीर चले तो आत्मा चले, इतना विकट बन्धन होने पर भी शरीरमें शरीर है और आत्मामें आत्मा है। आत्मस्वरूपमें शरीर नहीं और शरीरस्वरूपमें आत्मा नहीं। तो ऐसा यह मै ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व समस्त परपदार्थोंसे निराला हूं, विभावोसे निराला हू।

विकारोसे भी विविक्त अन्तस्तत्त्वके परिचयका पौरुष—देखो अतरंगमें विचारो, मै विषय कषाय विभाव इनसे भी निराला हू, यह भी समझते हैं कि नहीं? इसके समझे बिना हमारा भेदविज्ञान न कहलायगा, बाहरी पदार्थोंसे भिन्नताका कुछ ज्ञान बढ़ा लेना तो देहाती और बिना पढ़े लिखे लोगोके भी सम्भव है। सब जानते—शरीर निराला, आत्मा निराला

क्योकि यह हस उड़कर चला जायगा, ऐसा सभी लोग बोला करते हैं, मगर वह भेदविज्ञान उन्हे मिलता जिन्होने भेदविज्ञानसे परमात्मस्वरूपका अवलोकन करके आनन्द पाया है। व्रत संयम आदिक सब सफल होते हैं, वह सबको प्राप्त नहीं होता, या प्राप्त तब ही होगा जब इन विकारोसे निराला हूं मै, यह बात समझमे आये। क्यो जी, इस बातके समझनेके लिए प्रधान उपाय क्या है तो प्रधान उपाय है निमित्तनैमित्तिक भावकी समझ। जहां यह परिचय हो कि मै आत्मा तो स्वभावतः सहजस्वरूप हूं, इसमे प्रतिबिम्ब, प्रतिफलन, विकार ये कुछ भी नहीं होते, इनकी तो निरपेक्ष वृत्ति है। सो ज्ञाता द्रष्टा रहना है। अब इनमें जो विकार झलक आया है सो कर्मविपाकका निमित्त पाकर आया है, मेरेमे अपने आपके स्वभावसे नहीं आया। यह नैमित्तिक है, परभाव है, देखो ऐसा ज्ञान करने पर वहांसे वृत्ति हट जाती है और अपने आपके स्वरूपमें लग जाती है। तो भाई अपना लक्ष्य बनावें कि मै स्वभावका परिचय करूंगा। स्वभावका परिचय करना हो अब प्रयोजन है तो आपको किसी बातमे विवाद न जचेगा और न कुछ सघर्षका मौका ही मिलेगा और जहां लक्ष्यहीन बन गए वहाँ सारी बातें अटपट होगी ही और कभी अपनेको शान्ति सतोष नही मिल सकता। तो देखो हर उपायसे निश्चयनयकी बात समझकर, व्यवहारनयकी बात समझकर हर एक प्रकारके चिन्तन द्वारा यह पौरुष करें कि मेरेको मेरे ज्ञानसे सहज स्वरूप ही प्रतिबिम्बित हो, ऐसे परसे निराले, परभावसे निराले ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका आश्रय लें, इस ही में आत्महित है। आत्महितकी भावना हो तो वर्तमान जीवन भी शान्तिमें गुजरेगा और भविष्य भी शान्तिमे गुजरेगा।

( ६६ )

ज्ञेयज्ञायकसाकर्यका दुष्परिणाम भाव्य बनकर भोक्ता होना है। तब भाव्य न बनकर वेदक बनते हुए ही भोक्ता बन लो। पश्चात् वेदकता दूर कर मात्र ज्ञायक रह लो, यही सत्यशूरता है।

भाव्य न बनकर वेदकतासे हटकर ज्ञायक होनेके पौरुषका स्मरण—जीव उपयोग स्वरूप है। उपयोगका परिणमन निरन्तर चलता ही रहता है, अथवा कहो चैतन्य परिणाम का जो परिणमन है वह है उपयोग। तो उपयोगका परिणमन तीन प्रकारोमें समझें—ज्ञायक, वेदक और भाव्य। जब यह जीव ज्ञेय और ज्ञायकका विवेक नहीं रखता, ज्ञेय और ज्ञायकमे सकरता सहित है याने ज्ञेयरूप ही अपने आपको समझता है वहां यह जीव कर्मविपाकका निमित्त पाकर कर्मके अनुरूप अपने आपको अनुभवता है। ऐसे अनुभवनको कहते हैं भाव्य। भाव्यमें कर्मफल भोगा गया, मगर बड़ी अज्ञानदशाके साथ भोगा गया याने कर्मविपाक हुआ

कर्म मेकर्मका अनुभाग खिला, उसका हुआ उपयोग में प्रतिफलन और उस समय इस जीवने जिस विषयभूत पदार्थको जाना उस विषयभूत पदार्थोमें हुआ आसक्त। ऐसी स्थितिमें यह जीव भाव्य बनकर कर्मफलका भोक्ता होता है। सो देखो जब बड़ी बुरी स्थितिमे फस जाते हैं तो धीरे-धीरे निकलने के लिये सोचते हैं। तो जब कर्मफलके भोगने वाले तो हुए, मगर हुए भाव्य बनकर। तो ऐसी स्थितिमें यह जीव सकुशल नहीं है। कोई भी समझदार भाव्य बनकर भोक्ता न बने, किन्तु वेदक बनकर ही भोक्ता बन लेवे। वेदक ज्ञानकी सुध होनेपर भी होता है, मगर भाव्य ज्ञानकी सुध होते हुए नही रहता। फलदान देनेमें समर्थ होकर जो सामने आया है उस कर्मानुभागके प्रतिफलनरूप नाना क्रोधादिक विकारके रूपोमें यह जीव अपनेको अनुभवला हुआ कषायो को भोगता है। तो ऐसा भाव्य बनकर भोक्ता नहीं बना किन्तु इसकी जो द्वितीय श्रेणी है याने वेदक बनकर भोक्ता बनता है सो उसकी अपेक्षा ठीक है। तो अब भाव्य बनकर, भोक्ता न बनकर वेदक बनकर ही भोक्ता बन ले, पश्चात् वेदकता भी दूर की जा सके प्रबल भेदविज्ञानके बलसे अनात्मतत्त्वको उपयोगसे हटाकर, अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको जोड़कर वेदकता भी दूर की जा सकी और तब ज्ञायक बनने लगे। ज्ञायक जब बनता है तो यही अपनेको सत्य शरण है और ज्ञायक रह जानेमें ही आत्माकी सच्ची शूरता है। शूरवीरता शारीरिक बल से न आँकियेगा। मोक्षमार्गमें अथवा आत्महितमें शूरताका अकन होता है ज्ञानबलसे। शारीरिक बलको शूरता तो बड़ी विषम होती हैं। मनुष्य से कई गुणा बल है भैंसोमें, पर भैंसे को तो एक ८ वर्ष का बालक भी लाठी से हाँकता चला जाता है। लोकमें भी शारीरिक बलसे शूरता मानने की बात उत्तीर्ण नही होती है और मोक्षमार्ग मे तो शारीरिक बलकी कुछ बात ही नहीं है। यहाँ तो ज्ञानबल चाहिये। तो यह जीव जब ऐसा ज्ञानबल पाये कि यह ज्ञायक रह जाय, वेदक न बने, भाव्यकी तो चर्चा ही क्या, याने केवल विश्वके पदार्थो का ज्ञाता रहे, जाननहार रहे, उसको अपना कुछ न जोड़ें, कल्पना न करें, ऐसी स्थिति पायें तो यह कहलाता है कर्मफल टालनेका पौरुष।

( ६७ )

उपयोग में कोई भी बाहरी पदार्थ मत आओ। उपयोग में निज सहज आनन्दस्वभावी ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व ही रहो। ऐसे पुरुषार्थपूर्वक क्षण बीतें, इसमें ही मनुष्यभवकी सफलता है।

उपयोगमे बाह्यपदार्थ विषयको न फसाकर ज्ञानमय अन्तस्तत्त्वका मनन रहनेमे छुटकारेका पौरुष—जीव भाव्य बनकर कर्मफल न भोगे, फिर वेदक बनकर भी कर्मफल न भोगे और जगतके पदार्थों का ज्ञाता मात्र रहे, ऐसी जिसके मनमें धारणा हुई है उस पुरुषके अन्तः यही आवाज होती है कि उपयोगमे कोई भी बाहरी पदार्थ मत आये, क्योकि वेदक बनना

पड़ता है, भाव्य बनना पड़ता है तब जब बाहरी पदार्थ उपयोगमे आते हैं। देखो अव्यक्त विकारकी अध्यात्मशास्त्र में चर्चा नहीं चल पाती। यहां तो बुद्धिपूर्वक जो बात बनी उसकी ही चर्चा होती है। अव्यक्त विकारकी चर्चा एक सूक्ष्म चर्चा है और उसमे अधिकार करणानुयोगका है। अध्यात्मशास्त्र में तो जिससे व्यवहार चले, काम चले अर्थात् जिसका निवारण करना शक्य हो, उसकी चर्चा चलती है। जहां समयसारमे निरास्रव कहा है ज्ञानीको तो अमृतचन्द्रसूरीने स्पष्ट किया है कि 'ज्ञानी हि बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहाभावान्निरास्रव एव।' ज्ञानी पुरुष बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह न होनेसे निरास्रव कहलाता है और फिर और भी स्पष्ट किया। उसके भी जो अबुद्धिपूर्वक रागद्वेप चलते हैं सो वह ज्ञानगुणके जघन्य परिणामसे चलते हैं और यथाख्यातचारित्र अवस्थासे पहले अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष होना अनिवार्य है, वह चलता ही है। तो अध्यात्मशास्त्र भी बतलाता है कि १०वें गुणस्थान तक रागद्वेष चलता है, मगर वह है अबुद्धिपूर्वक, जहां अप्रमत्त दशा है। तो आखिर हुआ क्यो? इससे बाहरी पदार्थोंमे उपयोग भी नहीं जोडा और वहां चल रहा है अबूद्धिपूर्वक रागद्वेष, तो इसकी वही रीति है कि निमित्तनैमित्तिक भाव बराबर व्यवस्थित चल रहा है। तो जहाँ कर्मानुभाग खिले और उसे उपयोग आत्मरूपसे पकड़े वहां जो फल भोगा जाता वह कहलाया भाव्य और जहां ज्ञानकी सुध भी रहे और कर्मफल भी भोगना पड़े वहां कहलाता है वेदक और जहां फल भोगनेकी बात ही नहीं, केवल ज्ञाता रहनेकी बात है वह है ज्ञायक। सो ज्ञायकता ही मेरे रहे, मेरे उपयोग में कोई भी बाहरी पदार्थ मत फसो।

अन्तस्तत्त्वकी आराधनासे ही मानवजीवनकी सफलता—देखो अन्तस्तत्त्वकी अगर दृढ भावना होगी तो अपन सफल हो जायेंगे। भावना ही नहीं है वहां सफल कैसे हो सकते? बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ बनावें या अन्तर मे भेदविज्ञान करें और ऐसा उपाय, ऐसा ज्ञानका उपयोग बनावें कि बाहरी पदार्थ उपयोगमे न आयें और आये तो यह हमारा सहज अतस्तत्त्व ही उपयोगमें आये ऐसा साहस बनायें। पौरुष बनायें कि उपयोगमे निज सहज आनन्दमय यह अतस्तत्त्व ही बसा करे। जैसे कि लोगोके चित्तमे कितने ही लोग बसते हैं ना, कोई जिसको जो इष्ट हो। जिसका वियोग हो वह बसता रहता है। तो जैसे अनेक बातें बसती हैं चित्तमे उस प्रकार यदि चित्तमें, ज्ञानमें उपयोगमे यह सहज चैतन्यस्वरूप बसे अनुभवन चले, यह हूँ मैं अविकार स्वरूप तो उस जीवके कर्मफल भोगनेकी नौबत न आयी। ऐसा पुरुषार्थ चले, पुरुषार्थमे ही अपना जीवन जाय तो समझिये मनुष्य जीवनकी सफलता है। जीवके जो कोई प्रसग हो जाता है, मोहपरिणाम बन जाता है, पक्ष आग्रह हो जाता है सो देखो आये तो थे मानो इस मनुष्यभवमे कि संसारके कष्टोसे सदा छुटकारा पानेका उपाय

बन जायगा और कर बैठे हैं यह ससार संसरणकी नीति। तो मनुष्य जीवन बेकार रह गया। फिर तो अपनेसे अपने अतस्तत्त्वकी आराधना बनावें। एक ही सुनो अन्तस्तत्त्व, एक ही गुनो, उसका ही मनन करो तो यह मानव जीवन सफल होगा।

( ६८ )

जीवके जन्मव्याधिका रोग सहजात है, अनादिका पुराना है। यह रोग असाध्य तो नहीं, किन्तु महौषधि द्वारा साध्य है। वह जन्मव्याधिविनाशिनी महौषधि चित्स्वभाव की दृढ़ आराधना है।

जन्ममरणव्याधिकी अनादि परम्परा—अपने आपकी परख करना है कि मैं वस्तुतः हूं क्या और मुझपर बीत रही है क्या ? दोनों बातें समझनी हैं। मुझपर क्या बीत रही है, इसको न समझे तो वहाँ भी एकान्त हो जायगा। और मैं वस्तुतः परमार्थतः क्या हू ? अपने सहजस्वरूपसे मै क्या हूं, इसको न समझे तो वहाँ एकान्त हो जायेगा। दोनो बातें समझनी होंगी। मै वस्तुतः हूं चैतन्यस्वरूप, जिसमें विकारका कषायका कोई काम नही, अपने सत्वके कारण उसका जो भीतरमे स्वरूप है, शक्ति है उसको निरखियेगा। यह मै हूँ एक केवल-चैतन्यस्वरूप, अविकार स्वभाव और बीत क्या रही है हमपर ? अनेक विकल्प दुःख सुख आकुलता आदि व्याधि और इन सब व्याधियोमें प्रधान व्याधि है जन्ममरणकी। जन्म मरण का रोग इस जीवको ऐसा लगा हुआ है कि जैसे शरीररोगमें कहते हैं ना राजयक्ष्मा वगैरा तो जीवके आतरिक रोगमें प्रधान रोग है, जन्म और मरण। सो जीवका यह जन्म और मरणका रोग सहजात है याने जबसे जीव, तबसेही जन्म मरणका इसे रोग लगा है। जैसे कोई जन्मसे ही अधा हो तो कहते हैं कि यह तो जन्मसे ही अधा है तो ऐसे ही जबसे जीवका अस्तित्व है याने अनादि कालसे, तबसे ही इसके जन्मव्याधिका रोग लगा है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। बताओ सबसे पहले अपना मरण हुआ या जन्म हुआ आप कहेगे कि जन्म हुआ तो इससे पहले मरण न था क्या ? आप कहेंगे कि मरण हुआ तो इससे पहले जन्म न था क्या ? क्या कहेगे आप ? सबसे पहले हमारा मरण था या जन्म ? बस इसीको कहते है एक अनादि परम्परा। अच्छा और बताओ पेड़ होते ना, नीमका, बड़का, आमका तो यह बतलाओ कि पहले पेड़ था या बीज ? अगर कहोगे कि पेड़ था तब वह बीज बिना पेड़ कैसे हो गया ? और आप कहे कि बीज था तो पेड़ बिना बीज कहाँसे आ गया ? पेड़से पहले बीज और बीजसे पहले पेड़ और बोलते जावो, इतना समय जिन्दगी मे कहाँ रखा ? सारे जीवन भर बोल लो, पर कहानी पूरी न हो पायेगी। यह कहलाती है अनादि परम्परा।

अच्छा बताओ इस दुनियामें सबसे पहले बेटा था कि बाप था ? अगर कहो कि बेटा था तो बाप बिना बेटा कहांसे आ गया और अगर कहो कि बाप था तो वह भी बाप बिना कहांसे आ गया ? बापोंकी सतान थी। मेरा बाप था, उस बाप का भी कोई बाप था। बताओ क्या कभी कोई ऐसा भी बाप था जिसका बाप न रहा हो ? नहीं था ना ? तो ऐसे ही जन्म व्याधिकी बात सोचलो। जन्मव्याधि अनादिकालसे थी, इसे बोलते हैं जीवका सहजात। ऐसा यह जन्मव्याधिका रोग बहुत अधिक पुराना है। यह कितना पुराना है ? जबसे जीव तबसे ही यह व्याधि। अगर जन्म व्याधि के बिना जीव था पहले तो जन्मव्याधि लग कैसे गई ?। कोई कारण ही नहीं हो सकता। तो जन्मव्याधिका रोग यह अनादिका पुराना है। बहुत पुराना रोग है।

*जन्ममरणकी अनादिव्याधिके विनाशका उपाय चित्स्वभावकी आराधना*—अगर तपेदिकमें तीन वर्ष हो जायें तो लोग बोलते हैं कि अब तो यह असाध्य है, उसकी तीन सीढियां होती हैं, तो कहते हैं कि पहली सीढी तो सुगमतया दूर होती है, दूसरी सीढी दु:साध्य है और तीसरा नम्बर पा लिया वह तपेदिक तो असाध्य है। ३-४ वर्ष का पुराना तपेदिक असाध्य बताते हैं और यह जन्म मरणकी व्याधि तो अनादिकालसे लगी है। तो बताओ यह कैसे दूर हो ? हां यह बात ऐसी है कि भले ही अनादिकाल से रोग है जन्मव्याधि यह असाध्य नही, किन्तु उपाय करेंगे तो यह व्याधि मिट सकती है। अच्छा चलो करो उपाय। यह जन्मकी व्याधि मिटजाय—इसका उपाय है जन्मव्याधिरहित सहज चैतन्यस्वरूपमे 'यह मै हू, ऐसी भावना पुष्ट होना, यह है उसकी औषधि, तो आप कहेगे कि इस औषधिको खाने पर भी तो जन्मव्याधि बहुत दिन तक रहती है, सो रहो कुछ भव, मगर मिटकर रहेगा। जैसे बीमार आदमीको आज वह औषधि दी और आज ही वह बिल्कुल ठीक हो जाय, लोग ऐसी आशा तो नहीं रखते। इलाज चलता रहता है, मिट जायगा रोग, अनुकूल औषधि चल गई तो। ऐसे ही चित्स्वभावकी आराधना हो तो जन्म मरणके नाशकी बूटी मिल गई, उस का पान भी किया जा रहा है और कुछ असार नजर आने लगे कि हां यह जन्म मरणका रोगमिट जायगा, क्योकि भवरहित, विकल्प रहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव हो जाता है ना, तो उस अनुभवके पानेसे इस ज्ञानी को यह सब आस्था पुष्ट हो गई कि जन्म मरणके रोग दूर हो सकते हैं। तो जन्ममरणकी जो व्याधि अनादिकालसे जीव के साथ लगी है, उस व्याधिको नाश करने वाली महान औषधि है तो यह चैतन्यस्वभावकी दृढ़ आराधना यह जीव अचेतन तो है नहीं कि इसकी मलीमसता साफ करनेके लिये कोई दूसरा पुरुष आये।

चौकोपर कूडा लग गया है तो चौकी अचेतन है वह अपने आप क्या साफ कर सके ? सम्पर्क हो गया है कूड़े का तो कोई पुरुष कूड़ा और चौकी स्वरूपका विवेक करके अच्छी सफाई करता है। अचेतन है, उसका ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग बनता है, पर यह जीव तो चेतन है, इसमें जो आने वाले विकल्प हैं उनको दूर करने कौन आयगा ? खुदको ही दूर करना होता है। उसकी औषधि है सहज ज्ञानस्वभावकी उपासना, आराधना।

सद्व्यवहारके विरुद्ध रह कर ज्ञानाराधनाकी असभवता—भैया ! आत्महित करें उपासना अन्तस्तत्वकी। और सोचें ज्ञानभावकी उपासनाका प्रयत्न करके भी लोग सफल क्यों नहीं हो पाते कि उनकी अनादि कालकी वासना विषयोके प्रति लगी हुई है, सो यह मन स्वच्छ हो जाता है और बारबार उसमें विघ्न आता है। तो उस आक्रमणको विफल करने के लिये यह ही तो उपाय बताया है कि विकारके उपचरित निमित्तमें हम उपयोग मत जोड़े इसीका नाम है व्यवहार धर्म, इसोको कहते हैं चरणानुयोगकी प्रक्रिया, जो आश्रयभूत बाह्य पदार्थ हैं उनका परिहार करें। देखो यह बाह्यवस्तुका आज त्याग कर दिया, तिस पर भी विकल्प छूट ही गया, यह नहीं कह सकते, मगर त्याग किये बिना विकल्प छूटता नहीं। चाहे बाह्यत्याग करने पर भी विकल्प न मिटे। विपाक तीव्र बने तो, मगर एक भी उदाहरण ऐसा न मिलेगा कि जो बाह्य पदार्थोंका त्याग किये बिना इस जीवने मुक्ति पाई हो। वहाँ कोई पूछ सकता है कि ज्ञानको ज्ञानस्वभावमें लीन करना है। यह तो सारा भीतर का काम है। इसमें त्याग की क्या बात है ? कोट, बूट, सूट भी पहने हो और भीतरमें ज्ञान स्वभावकी आराधना बनायें तो मुझे मुक्त हो जाना चाहिये। भले ही जूते पहने हों, टोप लगायें हो, पर ज्ञानको ज्ञानमे ही तो सोचना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोकी एकताको ही तो मोक्षमार्ग बताया है। फिर क्या आवश्यकता है कि कपड़े भी त्यागें, घर भी त्यागें ? तो भाई भगवन्तोने यह बताया है कि बाह्य भेष रख लिया, द्रव्य-लिंग पा लिया, उसकी मुक्ति होगी ही ऐसा नियम नहीं है। लेकिन द्रव्यलिंग पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती—यह नियम जरूर है। अतरंगका वह विकास इस अनादिकालकी वासनाको लिए हुए जीवमें कैसे त्वरित हो जाय, विषयवासनायें सताती हैं, तो उनको आवश्यकता हो जाती है कि वे बाह्यपदार्थोंका त्याग कर दे ? देखो जिस चीजसे क्लेश होता है वह चीज सामने बनी रहे उसके क्लेशकी बात देखो और उसकी चीजको कहीं हटा दें, उसके सामने ही न जायें। हठ करके बाहर रहने लगें तो उसके विकल्प की बात दिखे। चाहे मूलसे नष्ट न हो, फिर भी विकल्पमें अन्तर अवश्य ही आता है और लोग अहानेमें कह देते हैं ना कि न देखें, न भोकें। तब फिर कोई कष्ट ही नही है। तो बाह्य पदार्थोंका परित्याग करना अपनी शक्ति

माफिक आवश्यक है। इसीको कहते हैं व्रत नियम संयम तो यह जीवनमें तो रहना अच्छी बात है।

व्यवहारचारित्रमे रहकर व्यवहारचारित्रको गौण कर ज्ञानाराधनामे लगनेका अनुरोध—अब यदि अज्ञानबस रहा तो भीतरमें अज्ञानको टालनेका उद्यम भी कर लें, भेदविज्ञान करें, वस्तु स्वरूपका सही ज्ञान करें, भीतरका भी काम करें। इस जीवने एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पशुपक्षी नर नारकादिक पञ्चेन्द्रियमे, देवो तकमे इन्होने सयमवृत्ति नही प्राप्त किया, योग्यता ही नहीं, पा ही नहीं सकते। अब गाय, बैल, भैंसोंसे पूछो कि भाई तुम्हारे जीभ लगी है और हमारी जीभसे तुम्हारी ८ गुनी लम्बी जीभ है, पर जैसे हम बोलते हैं, भाषण करते हैं, समझाते हैं, कविता गाते हैं, अरे एकाध दिन तुम भी तो उसी तरहसे बोलकर सुना दो तो क्या वे सुना देंगे ? नहीं सुना सकते। अरे भाई उनकी ऐसी पर्याय ही है कि उनके ऐसी भाषा बोलनेकी पात्रता ही नही है। तो इसीप्रकार नारकी, देव, पक्षी और एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक तिर्यञ्च—इन तीन गतियोमे व्रत और सयमकी पात्रता नहीं होती, सज्ञी तिर्यंचमे भी सकल सयमकी पात्रता नहीं। एक मनुष्यभव ही ऐसा है कि जिसमे सयम धारण करनेकी पात्रता हो सकती है। अगर अज्ञान है और संयम भी धारण न किया तो यह मानब जीवन पाना ही व्यर्थ रहा। शास्त्रो में भी बताया है कि "कोटिजन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरें जे, ज्ञानीके छिन माहि त्रिगुप्ति तै सहज टरें ते" हा इस तरह बताया तो गया, पर इसमें मुनि को समझा रहे, जरा उन शास्त्रोकी बात देखो आज श्रद्धाहीन क्यो बन रहे ? भाई जो बात मुनि मुनिको समझाते थे उस बातमे हम श्रावक अपनेको समझाने लगे, इससे श्रद्धामें कुछ अन्तर पड़ता ही जायगा। जो व्यवहार चारित्र मे ही लगे हैं उन मुनियोंको खूब डाट फटकार की गई कि तुम इस ही में लगे रहोगे तो मोक्षमार्ग नहीं पा सकते। उसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहारचरित्र छोड़कर तुम हमारी बताई ज्ञान-आराधनामे लग जावो, किन्तु उसका अर्थ यह है कि तुम मुनि हो तो मुनि बने रहो, पर तुम ज्ञानाराधनाकी मुख्यता रखो और ज्ञानका अनुभव करके अपना जीवन सफल करो। है उपदेश उन मुनियोको और उनकी मान्यता बना लिया अपने को कि व्यवहार चारित्र के लिये तो बहुत डाट फटकार दिखाया है कि हेय है, इसको छोडो, अरे व्यवहारचारित्रमे लगे हुएको फटकारा है। व्यवहारचारित्रसे हटे हुये को फटकारनेकी बात इसमे नहीं है। कुछ तीर्थ प्रवृत्तिके लिये भले ढगसे पहले यह बात सोचिए और अपने पर अपनी व लोकसमूह के कल्याण अकल्याणके वातावरणकी जिम्मेदारी समझकर प्रवृत्ति करिये। जो प्रवृत्ति चली आयी अपनी दिगम्बर जैन आम्नायमे साधु सतोंकी वह संशोधितरूप है व्यवहारसयममें चल

कर कीजिये अपनी ज्ञानाराधना और ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करनेकी मुख्यता दीजिये। तो बात यहाँ यह कही जा रही कि जन्म व्याधिके विनाशकी करने वाली औषधि चैतन्यस्वभावकी आराधना है, मगर चैतन्यस्वभावकी आराधनाके हम पात्र बनें, इसके लिये कुछ सदाचार धारण करना आवश्यक है। अब कोई झूठ लेख लिखे, झूठ दस्तखत करे, गहनेको चोजें चुराये, सोना-चांदी बदले, अनेक प्रकारके अन्याय हो, मनमे हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह इनकी वासनायें रहे, ऐसा आचरण खोटा हो और चाहे कि ज्ञानकी आराधना बन जाय तो वह गप्प मात्र है। जितना कर सकें, जितना बन सके, प्रमाद न करे, बढ़े, इस ओर से भी बढ़े, भीतरसे भी बढ़े, आखिर काम तो आयगी भीतर की बात, मगर उसके पाने का उपाय क्या है इस सम्बन्धमें, सो भाई व्यवहार सयम भी रखो और अन्तः ज्ञानाराधना बनाकर उस ज्ञानसंयमकी अपनी योग्यता बनावें, सब तरहसे अपने आपको तैयार रखें। इस जन्म व्याधि से अपने आपको मुक्त होना चाहिये।

( ६९ )

निज सहज ज्ञानस्वरूपका मात्र जाननरूप परिणमनमे सकट नही। कर्मविपाकके प्रतिफलन से सम्पर्क जुड़नेपर ज्ञानका विकल्पपरिणमन ही संकट है। कर्मविपाक और ज्ञानवृत्ति—इनमें भेदविज्ञान करना अमृतपान है।

सकटमुक्तिके अभिलाषियोको अवश्य ज्ञातव्य तीन बातें—ससारमे संसारी जीवोंपर सकट हो संकट छाये नजर आ रहे हैं, और सभीको यह आकांक्षा है कि मुझपर कोई संकट न रहे तो इस आकांक्षाकी पूर्तिके लिये तीन बातोंका निर्णय आवश्यक है। सकट क्या है। सकट कहाँ नही है और संकटके मिटनेका उपाय क्या है ? जब तक सही मालूम ना पड़े कि यह कहलाता है सकट, तो उस संकट को मिटानेकी आकांक्षा ही कैसे बनेगी ? और जब तक यह न मालूम हो कि संकट कहाँ नहीं है तो जहाँ संकट नहीं वहाँ पहुचनेका प्रयास कैसे किया जा सकेगा ? और संकटोके मिटनेका उपाय ही ज्ञात नही है तो संकटों के दूर करने का उपाय कैसे किया जा सकेगा ? कारण कि जो संकटोंसे मुक्ति चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे इन तीन बातोंका निर्णय कर लें। इस लोक में सकट क्या है ? सकट किसे कहते हैं और यह संकट कहाँ नहीं है और इन संकटोंसे दूर होनेका उपाय क्या है ? इन तीन बातोंका विवरण इस निबन्धमें किया गया है।

सकटका रूपण—अब पहले यह सोचो कि संकट क्या है, हम क्या हैं ? उपयोग स्वरूप। मेरा काम जाननेका है, जाननेके अतिरिक्त और कुछ काम कर नहीं पाते। यह तो

अज्ञान है, भ्रम है कि मैंने मकान बनाया, दुकान बनायी, लड़कों को पढ़ाया या जो-जो भी विकल्प किया, विकल्प ही है, जीव तो अमूर्त है, उपयोगरूप है, वह इन मूर्त बाह्य पदार्थोंपर कर क्या सकेगा ? जैसे आकाश कहीं परपदार्थोंको चलाता नहीं और परपदार्थोंके चलनेसे आकाश चलता नहीं, आकाश तो बाह्य पदार्थोंसे निराला ही स्वरूप रखता है, इसीप्रकार इन सब बाह्यपदार्थोंसे निराला ही मेरा स्वरूप है उपयोगरूप । तो यह बाह्य पदार्थोंमे कुछ नहीं कर सकता । यह तो अपना उपयोग परिणमन करता है । तो उपयोग का परिणमन जब विकल्पररूप होता है, विकल्प किया, कल्पना किया कि मेरा यह अच्छा, यह बुरा, तो ज्ञानकी ही तो कोई प्रकारकी परिणति बनी । तो जब ज्ञानका विकल्परूप परिणमन होता है तब वही संकट कहलाता है । भले ही यह जीव उस ज्ञानविकल्परूप परिणन से अनभिज्ञ है और उसे संकट समझ नहीं पाता तथा उस विकल्परूप परिणमनमें जो बाह्य पदार्थ आश्रयभूत हुआ उस बाह्य पदार्थके रहने, न रहने या किसी प्रकार परिणमनेसे यह संकट समझता है । वास्तवमे तो उपयोगका ही विकललपरूपसे परिणमन हो जाना सकट कहलाता है ।

विकल्परूप से परिणमनकी निष्पत्तिका कारण—अब इस बात पर विचार करें कि ज्ञानका विकल्परूप परिणमन होता क्यो है ? जब ज्ञान ज्ञान है, एक ज्योति है, एक प्रतिभास है तो प्रतिभास होनेरूप इसमें विकल्प और सकट क्यो बन जाते हैं ? तो पहले यह जानना होगा कि यह जीव मात्र अपने आपके निमित्तसे यह विकल्परूप या सकटरूप नहीं बनता, क्योंकि वस्तुमे यह स्वभाव ही नहीं है कि कोई वस्तु अपने आपसे अपनेमे परकी अपेक्षा न करके विल्परूप परिणम जाए, ऐसा वस्तुमें विकारका स्वरूप नहीं हैं, तो यह समझना होगा कि मुझमे किसी अन्य पदार्थ का या अन्य भावका सम्पर्क जुड गया, सम्बन्ध बन गया, जिससे कि यह विकल्पजाल उठता है तो उस सम्बन्धके भी दो किस्म हैं—एक तो किसी परवस्तुका सम्बन्ध और दूसरा है अपने उपयोगमे किसी प्रतिफलनका, मायाका सम्पर्क । तो देखो यहाँ जो अनादिकालसे कर्मबन्धन चले आये, इस जीवने पूर्वकालमे जो कर्म बाधा उस कर्मका तो है इसके साथ सयोग सम्बन्ध । यह हुआ परद्रव्योंका सम्पर्क । और उस कर्मका जब अनुभाग खिलता है तो उस अनुभाग का प्रतिफलन हुआ उपयोगमे तो अब कर्मविपाक के प्रतिफलन का सम्पर्क जुड़ गया उपयोगमे, बस यह है मूल कारण कि जीव के विकल्परूप सकट उत्पन्न होते हैं ।

अब यहाँ दो बातें निरखनी हैं कि मेरा स्वभाव तो है प्रतिफलन उपयोग, प्रतिबिम्ब, विकल्प सकट से रहित और कर्म उपाधिका सम्बन्ध है । इस कारण ये सारी विपत्तियां बल

रही हैं। जब इस प्रकार देखते हैं कि मै तो हूं अविकारस्वरूप और इसमें कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ है तो मार्ग मिलता है कि यह प्रतिफलन तो परभाव है। उससे उपेक्षा करके निज अविकार स्वभावको निरखना चाहिए। यह बात मिलती है, सकट कैसे होता है इसका निर्णय वाले ज्ञानमे ? अच्छा तो सकट तो हुआ इस तरहके कर्मविपाकका प्रतिफलन। और उस प्रतिफलनका उपयोगमे सम्पर्क जुड़ा, उपयोगने नही जोड़ा सम्पर्क, किन्तु जुड़ गया। जैसे अजीव अजीव पदार्थोंमें कोई पदार्थ अपना सम्बन्ध जोड़ता नहीं, किन्तु जुड जाता है। तो यो उपयोगमें कर्मविपाकके प्रतिफलनका सम्पर्क जुडा तब ज्ञानमें विकल्परूप संकट बन गया।

सकटसे विविक्त धामका दिग्दर्शन—अब यहाँ देखिये कि यह संकट कहाँ नहीं है ? यदि यह विश्वास हो कि यह सकट न रहे, ऐसी भी स्थिति बनती है तब तो सकट न रहे इसका उपाय किया जा सकता। तो है ऐसी स्थिति कि जहाँ विकल्परूप संकट नहीं होते। देखो ऐसी बात दो जगहमें दिखती है—एक कार्यसमयसार अरहतसिद्ध भगवानमें, वहाँ विकल्परूप सकट नहीं, मगर भगवानका आलम्बन तो हम नहीं कर सकते, क्योंकि वे परपदार्थ हैं। तो दूसरी बात देखिये अपने निजमें निज बसा हुआ अन्त प्रकाशमान कारण-समयसार। निज सहज ज्ञानस्वरूप मात्रका जानन जब होता है तब समयसारका परिचय होता है तो वहाँ रह जाता है मात्र जाननरूप परिणमन। तो ऐसे अपने स्वभावके अवलबनसे होने वाले उपयोगके परिणमनमें कोई संकट नहीं है। देखो जहाँ सकट नही है वहाँ अपनी गति हो सकती है। ज्ञान द्वारा ही तो ज्ञानस्वरूप प्रतिभासित होता है कि यह मै सहज ज्ञानस्वरूप अपने आपके सत्त्वके ही कारण खुद जो बन रहा है उस स्वरूपमें विकार नहीं है, कष्ट नहीं है, प्रतिफलन नहीं है। वहाँ तो केवल एक जाननरूप वृत्ति चलती है। देखो भले ही उपयोगमें विकल्प कष्ट चल रहा है, मगर उसकी यहाँ मनाही की जा रही है। दृष्टिबल ही तो है ऐसा। जब अन्तर्दृष्टि करके अपने आपमे सहज ज्ञानस्वरूपका अवलोकन हुआ तो उसमे नियमसे सकटरहित स्थिति होती है।

सकटसे छुटकारा पानेके उपायमे कर्तव्य—यहाँ तक समझें कि सकट क्या है और संकट कहाँ नही है ? इन दो बातो को जानकर अपनेको क्या करना चाहिए कि सकट वाली स्थितिसे हटकर सकटरहित स्थितिमे पहुंचे, ज्ञानकी चेष्टा, ज्ञानका व्यापार, यो कर्मविपाक और ज्ञानवृत्तिका भेदविज्ञान करना—यह है उपाय सकटोके दूर करनेका। इस उपायको करने का नाम है अमृतपान करना। कर्मविपाक अजीव है और ज्ञानवृत्ति निज चेतनाकी वृत्ति है। इन दोनोंमें तो बहुत अन्तर है। उस अन्तरको समझें और उस अन्तरका ज्ञानमें प्रयोग करें

तो ससारके विकल्पजन्य संकट हटते हैं और निःसकट आत्मस्वरूपमे अपना प्रवेश होता है, यह कहलाता है अमृतपान। इस आत्ममग्नतारूप अमृत के पीनेसे, इस भेदविज्ञान के करनेसे स्पष्ट अन्तर आता है और आपके स्वरूपका आलम्बन मिलता है। वह अमृतपान ही कहलायेगा जिसका पान करके जीव अमर हो जाता है। तो वह अमृत कहीं बाहर नहीं रखा, कोई फलसा या पानीसा हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि हो कोई ऐसा अमृतफल जिसको खाने से अमर हो सकते तो जब उसे खाया तो पहले तो वह ही बरबाद हुआ, मिटा, उसकी दुर्दशा हुई, तो जो स्वय ही नष्ट हो वह मुझे क्या अमर कर सकेगा? पहले वह अमृत फल अपने आपको तो अमर करले, फिर दूसरेको अमर करनेकी बात बने। तो वह नहीं है अमृत। अमृत है अपने भीतरका ज्ञान जगे तो वही कहलाया अमृतपान। ऐसा अमृतपान करके उपयोगके विकल्परूप सकटको समाप्त कर देना चाहिए।

( ७० )

मुझे तो सिद्ध ही होना है, ऐसे निर्णयसे संतोष मार्गपर विहार होने लगता है। परपदार्थ व परभावकी उपेक्षा होनेपर संतोष सुतराम् ही हो जाता है, साथ कुछ रहता नहीं सतोषबलसे शान्त हो लो तो बुद्धिमानी है।

ज्ञानीका सिद्ध होनेका प्रतिज्ञापन—यह जीव ऐसी स्थिति चाहता है कि जिसमें सतोष मिले, अपने संतोषको पानेके लिए ही जीव नाना प्रकारकी चेष्टायें करता है, सो किया तो है सब कुछ, लेकिन सतोष तो न मिला, ऐसे सबके अपने अपने अनुभव बता रहे होंगे। बहुत बहुत चेष्टायें कर लेनेपर भी संतोष प्राप्त न हुआ तब फिर कौनसा काम करना चाहिए जिससे कि सतोष प्राप्त हो? प्राप्त भी न हो, किन्तु सतोष मार्गपर चलने तो लगें, इतना ही कोई ज्ञानप्रकाश हो तो उस प्रकाशसे अपनेको सत्पथ मिलेगा। तो संतोषमार्गपर चलने के लिए क्या पौरुष चाहिए? सीधी बात यह है कि अपनेमें यह निर्णय होना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध ही होना है। मुझे क्या होना है—इसकी बात हर एक जीवमें बनी रहती है। रोजकी बात, महीने भर बादकी बात, वर्षों बादकी बात चित्तमें अभीसे समाई रहती है कि मुझे यह बनना है। अच्छा तो पहले संसारकी सारी स्थितियों के बारेमें विचार करलें कि मुझे यह बनना है और उसका फल भी देख लो क्या सतोष मिल जायगा? न मिलेगा और अब जरा अपने भीतरमें अपने इस अन्दरमे पायो हुई प्रभुतासम्पन्न निज समयसारको देख लो और उसके दृढ़ निरखनसे बनते हैं सिद्ध भगवान। जैसे यहाँ यह अकेला स्वरूप है वैसे ही वह सिद्धालयमे अकेला स्वरूप है। सिद्ध होनेमें ही संकट मिटता है, सकट न रहे तब ही सतोष

मिलता है तो यह निर्णय बनाये कि मुझे तो सिद्ध होना है और कुछ नहीं होना है और किसी फदमें नही रहना है । मुझे तो सिद्ध ही होना है, ऐसा निर्णय जब आ जाता है तब उस जीवका संतोषमार्गपर विहार होने लगता है । सही मार्गपर ले जाना ही एक सही उद्देश्यको पा लेनेकी निशानी है । चलना सरल हो जायगा जब हमे किसी मार्गपर चलना है यह निर्णय बन जाय कि मार्ग यही है, उसपर जितना चलेंगे उतना ही संकट मुक्त होते जायेंगे और उतना ही दूर ससार होता जायगा । तो यह निर्णय बनायें पहले कि मुझे तो सिद्ध ही होना है । देखो इसके खिलाफ लोगोकी कितनी भावनायें वासनायें रहती हैं ? मुझे तो ऐसा सम्पन्न होना है, मुझे तो बाल-बच्चों वाला होना है, कितनी ही बातें चित्तमें अज्ञानी जनोके बसी रहती है । तो जैसे अज्ञानी जन अपने आपमे बडी दृढताके साथ अपने आशय के अनुरूप संकल्प बनाते है, पर्यायको आपा मानते हैं तो वे ऐसा मानते तो मानने दो, किन्तु ज्ञानी पुरुष तो अपने आपमे अन्तःप्रकाशमान सहज स्वभावरूपसे अपना निर्णय रखते हैं और उसके विकासकी याने सिद्ध होने की भावना रखते हैं तो उसका सतोष मार्गपर विहार होने लगता ।

सतोषका साधन पर व परभावकी उपेक्षा—अब देखिये, संतोष मार्गपर आये ही है कि सब कुछ अनाकुलताकी विधि दिख गई और जब सतोष मार्गपर विहार होने लगा तो इस जीवकासम्यक्त्व दृढ हो जाता है । सतोष होता किस तरह है उसकी विधि एक है, जो परपदार्थ हैं अथवा परभाव हैं उनकी उपेक्षा हो जाय, ये मेरे नहीं, मेरे हितरूप नहीं, ऐसे पर और परभावके विषयमे उपेक्षा जग जाय तो सतोष स्वय हो जाता है, पर और परभावकी उपेक्षा होनेसे सतोष क्यो होता है ? यो होता है कि असतोषका बीज वही था ? परपदार्थकी ओर लगाव करना और परभावकी ओर लगाव करना, यह ही सतोषमे बाधक था । जहाँ यह लगाव-दूर किया कि जीवमे संतोष स्वय स्वतः आ जाता है । असतोष नहीं वहाँ सतोष है । सतोष नहीं वहाँ असंतोष है । यह स्थिति तो हुई साधारणतया गृहस्थजनो की और जहाँ उपेक्षा हुई वहाँ सतोष है, यह घटना बनती है बुद्धिमान जनोकी ।

अच्छा पर और परभावके लिए उपेक्षा क्यो नही करते ? जिनसे हम परेशान हैं उनसे हम उपेक्षा क्यो नहीं करते ? करना चाहिए उपेक्षा । तब यह समझमे आयगी कि अनर्थ परपदार्थमे लगनेसे है । उनका लगाव मिटायें, सतोष स्वतः हो जायगा, और मोटी बात भी तो निरखते जावो, जब दुनियाके समागममें आये हुए पदार्थोंमे कुछ भी साथ नही रहना है तो क्यो नहीं संतोष करके शान्ति पानेकी बुद्धिमानीमें चलते ? कल्पनासे अपना

लिया है कि यह मेरा है, अब इतना धन हो गया, इतनी बात हो गई, पर वस्तुतः इस जीव का सम्बन्ध नहीं है किसीसे कुछ भी। यह तो अपने आपमें ही कल्पनायें करता और दुःखी होता है, साथ कुछ रहना तो है नहीं, कुछ दिन और जी लें, कुछ दिन और मौज करलें, मगर कुछ भी वस्तु सदा नहीं रहती और निजके स्वरूपमें किसी प्रकारकी आकुलता नहीं है। तब हे अन्तःप्रभु, क्यो नहीं सन्तोष बल लगाते ? सन्तोष लायें, शान्त होवें, इसीमें अपनी बुद्धिमानी है, इसके लिए करें परपदार्थ और परभावसे उपेक्षा और उपेक्षा तब ही बनेगी जब अपना यह निर्णय बन जाय कि मुझे कुछ नहो करना है, सिर्फ सिद्धभगवान होना है। सबसे निराला जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसकी उपासनामें ही सतत रहना चाहिए, यह निर्णय बनायें कि मुझे सिद्ध होना है और ये बीचके निर्णय मत रखें कि मुझे धनिक होना, विद्यावान होना, प्रतिष्ठावान होना आदिक विकल्प न रखें। मुझे तो सिद्ध ही होना है, यह एक परिज्ञान अपना रहेगा तो प्रोग्रामके अनुरूप अपनी वृत्ति चलेगी, और यह मुक्ति स्वय अपने आप होगी। कोई दूसरा मुक्ति दिलाने न आयगा। भगवानका स्मरण तो सदा मुक्त ज्ञायक स्वभावका परिचय पानेके लिए है। सन्तोष मिलेगा, साता मिलेगी, शान्ति मिलेगी तो अपने स्वभावमे 'यह मै हूं, ज्ञानमात्र हू' ऐसा अपने आपका निर्णय बनायें तो शान्ति मिलेगी।

( ७१ )

कोई भी जीव वस्तुतः परपदार्थसे लगाव कर ही नहीं सकता है। उपयोगमें प्रतिफलित कर्मविपाकसे ही लगाव बनाया जाता है। यह तो निजके घरकी बात है, अपने स्वरूप को सम्हाल लो, सब सम्हल गया।

निज मे विभावके लगावसे निजकी विडम्बना—हम आप ससारी जीव जो कुछ कष्टमें नजर आ रहे हैं तो ऐसा ही मालूम होता है कि हम किसी बाहरी चीजमे अपना उपयोग लगाते हैं और कष्ट ही होता है याने जितने भी कष्ट हैं वे हम बाहरी पदार्थोंमें लगाव किए हैं इसका कष्ट है। किसी प्रकारका लगाव न हो, कोई भी बाह्य पदार्थ चित्तमें न बसे तो क्या कोई कष्टका रूप बन सकता है ? कष्ट जब बनता है तो किसी न किसी बाहरी पदार्थके विकल्पमे कष्ट बनता है। न हो विकल्प तो कष्ट नहीं, ऐसा यद्यपि नजर आ रहा, फिर भी परमार्थदृष्टिसे देखें तो किसी भी बाह्य पदार्थमें मेरा लगाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि भिन्न द्रव्यमें भिन्नका लगाव नहीं बनता। मै चेतन हूं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हू। बाहरी पदार्थ वे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। मेरा उन पदार्थोंमें लगाव कभी सम्भव नहीं है, फिर भी जो बोल जाते हैं कि बाह्य पदार्थमें लगाव रखनेसे कष्ट है। उसका अर्थ है कि बाह्य

पदार्थके बारेमें अपनेमें विकल्प करके कष्ट किया जाता है। तो वास्तवमे मेरा किसी बाह्य पदार्थमे लगाव नही ही सकता। तब फिर हमारा कहीं लगाव है क्या है या है ही नही। हां लगाव तो है, पर बाहरी पदार्थमें लगाव नही बनता। तो कहाँ है लगाव ? कर्मका उदय हुआ, कर्ममें अनुभाग खिला, और उसका प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब उपयोगमें आये तो हम लगाव रखते हैं उपयोगके प्रतिफलन से। सो यह भी लगाव हम जानकर नहीं करते, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्मके अनुभागका उपयोगमें प्रतिफलन हुआ तो उसका प्रभाव अपने आपमे होता है, यों उपयोग लगता है। यहां एक बात और समझ लेनी है, भीतरमे दो बातें हुईं—कर्मविपाक और कर्मविपाकका प्रतिफलन। सो विकारका लगाव तो प्रतिफलनमें है, पर कर्मविपाकमें नही, और उस प्रतिफलनमें बुद्धिपूर्वक नहीं, किन्तु निमित्त उपादानमें जितना सम्बन्ध होता है उस नातेसे उस प्रतिफलन में लगाव है। बस जहाँ यह लगाव है वहां ही इस जीवको कष्ट होता है। यह लगाव कैसे मिटे ?

निजकी सभाल से निजकी विडम्बनाकी समाप्ति—देखो किसीकी बात कही जा रही है ? क्या यह दूसरे गाँवकी या दूसरे घरकी बात कही जा रही है ? अरे यह तो अपने खास निज घरकी बात है, शरीरकी भी बात नहीं है। शरीर भी परघर है, पर निजके जीवके आत्मप्रदेश है वह निज घरकी बात है। शरीर भी परघर है, पर उसके जो आत्म-प्रदेश हैं वह निज घरकी बात है। यहां ही प्रतिफलन है, यहां ही उपयोगका लगाव है, यहां ही तो परिणामका भोगना है, सब कुछ यहां हो रहा है। अपराध भी मुझमें, फल भी मुझमे, सर्व कुछ मेरे निज प्रदेशमें हो रहा। तो जब यह अपने निज घरकी ही बात है तो यहां क्यो न अपनी सभाल कर लूं ? घरको संभाल करना तो सरल है ना, परघरकी सभाल नही कर सकते, पर अपने घरकी संभाल तो बन सकती। तो अपनाघर है अपने जीवका प्रदेश, जीवका स्वरूप, जीवका निज क्षेत्र। तो यहां ही अपनी सभालकर लीजिए। मै ज्ञानमात्र हूं, ऐसा निर्णय करें। इस ज्ञानस्वरूमें ही अपना अनुभव करना, ऐसी सभाल अगर बन सकी तो समझ लीजिए कि सब संभल गया और एक अपने आपके स्वरूपकी संभाल न बने तब समझो कि मैने कुछ भी नहीं सभाल पाया। तो अपना यह निर्णय बनायें कि मै किसी बाह्य पदार्थमें लगता नही, किन्तु अपनेसे ही कषाय बना बनाकर मै दुःखी होता हू। सो कल्पनाको छोड़ें और स्वयं सहज जो अपनेमें ज्ञानानन्दका अनुभव हुआ बस वही रहे तो वही ससारके समस्त संकटोके नष्ट करनेका उपाय है।

( ७२ )

ज्ञानमें खेद असम्भव है, बाह्यसे खेद आता नहीं। खेद तो उपयोगमें प्रतिफलित

कषायके आग्रहसे ही है। कषायका आग्रह न करो, स्वरूपका आग्रह करो, खेद सब समाप्त।

अकषाय आत्मस्वरूपके मननसे खेदका समापन—खुद-खुदका तो अनुभव सब करते हैं, मगर यह तो बताओ कि खुदको पाला पोषा किसने है, खुदको उत्पन्न किसने किया, खुद पर छाया, छत्रछाया किसकी है? इस विषयमें कुछ विचार तो करें। देखो ज्ञानमें खेद तो सम्भव नहीं, याने आत्मामें, आत्मस्वरूपमें खेद सम्भव नहीं है। वह तो प्रभुस्वरूप सो वह जानता रहे, देखता रहे, प्रतिभासता रहे, इतना ही काम है। तो जैसे खेदसे खिन्न रहते हैं लोग, जिस खेदसे विडम्बना, आपत्ति और एक समस्या मानते हैं लोग वह खेद ज्ञानमे तो सम्भव है नहीं, और बाह्यसे खेद आता नहीं, दोनो बातोंको समझ लीजिए। मेरे आत्माका जो स्वभाव है, स्वरूप है, प्रतिभासमात्र ज्ञानस्वरूप उसमें तो खेद है ही नहीं और बाहरी पदार्थोंसे खेद आता नहीं। किसीने देखा हो कभी कि किसी बाह्य पदार्थसे खेद निकलकर जीवमें आया हो और यह जीव उससे खिन्न हो रहा हो, ऐसा किसीने देखा हो तो बताओ। होता ही नहीं। मै ही स्वयं खेदरूप परिणम जाता हूं, अज्ञानरूप परिणम जाता हूँ। मगर मेरे स्वरूपमे खेद नही, स्वभावमे खेद है नहीं, और बाहरसे खेद आता नहीं, तब समझनेके लिए बंया समस्या उपस्थित होती है कि फिर यह खेद है क्या चीज? इसकी जड़ कहाँ है? हाँ नहीं है, कहीं जड नहीं है, कोई खास चीज नहीं है, फिर खेदका निर्माण कैसे हुआ? तो यों बना खेद कि जो कर्मोदय आते हैं उनमे कषायें जगती हैं, वे कषायें आत्मामे झलकीं और उस कषायका कर लिया इस जीवने आग्रह। यह ही मै हूं। इस भावसे ही मेरा बड़प्पन है। ऐसा इस जीवने कषायमें कर लिया एक अपनायत तो बस कल्पनासे यह उपयोग खेदरूप परिणम जाता है। तब यह खेद न रहे और आत्मा शान्त विश्राममे रहे, उसका उपाय है कुछ क्या है? हाँ उपाय। कषायोका आग्रह मत करे स्वरूपका आग्रह करें, आग्रह मायने हठ। आग्रह मायने उसको ही पकडकर रह जाना। कषाय जगी, किसकी कषाय थी, किसका कषाय परिणाम था मूलमे? कर्मका। सो वह कर्म कहीं स्वरूप रूपसे कर्म नही है, किंतु हमारे ही विभावका निमित्त पाकर वह कर्म बँध गया था। कब? खरबो वर्ष पहले और वे अनगिनते वर्ष पहलेसे बँधे-बँधे पड़े, और आज उनका उदय हुआ, विपाक झलका, तो वह क्या है? कषाय प्रकृतिमे कषाय थी, वह कषाय झलकी। उस कषायका इस जीवने कर लिया आग्रह। यह ही मै हूँ, अज्ञानी जीवका कैसा आग्रह रहता है पर्यायमें कि उसने एक क्षण भी तो तका नहीं कि यह हूं मै विशुद्ध ज्ञानस्वरूप। तक लें तो सम्यग्दर्शन हो जाय, तो यह जीव अब तक कषायोका आग्रह करता आया, कषायोको नहीं छोड़ना चाहा। जैसे बिल्ली कोई शिकार कर ले, चूहा पकड़ ले तो लोग उसपर डंडा भी बरसाते, पर वह चूहेको नहीं

छोडती, ऐसे ही संसारी जीवोंने कषायोंका आग्रह करके एक दुःख पाया है और उस दुःखमे इस पर डडे बरषते है मायने अनेक विडम्बनायें विपत्तियाँ आती है फिर यह मोही जीव कषायोका आग्रह किए है, कषायोंको छोड़ नहीं सकता। यह ही विपत्तिका कारण है। कष्टका कारण है कषाय छोड़ दें तो कष्ट न रहेगा। लेकिन जब अज्ञान छाया है। यह समझ बनाये हैं कि यह मेरा अमुक है, इसको मै जानता हूं। ये सब मुझे पहचानते हैं। मेरे रंगमें भग न हो, ऐसा सोचकर जो कषायोका आग्रह किया जा रहा बस इसीसे दुःख है। कषायोका आग्रह तज दें, स्वरूपका आग्रह करें, अर्थात् मै क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायोरूप हूं ऐसा अपना अनुभव मत बनायें, मै इन विकारोसे भी रहित केवलज्ञानमात्र हूँ, यह भावना दृढ़ करें।

( ७३ )

सकट तो है, मगर बहुत बड़ी उलझन हो तो हिम्मत हारो। उलझन तो अन्दरमें बहुत नहीं, सिर्फ अभिमुखताके जरासे फेरकी है। प्रतिफलित कर्मविपाकके अभिमुख न होकर स्वभावके अभिमुख होओ, उलझन सब खत्म।

सकटरहित निज स्वरूपकी अभिमुखतामे उलझनोकी समाप्ति—सब जीवोको कष्टसे, सकटसे दूर होनेकी बात मनमें पड़ी है। सभी सोचते कि कष्ट दूर हो, और उसके लिए प्रयत्न भी करते, मगर कष्ट दूर नही हो पाता, इसका कारण है ? कारण तो वही हैं कि कर्म कर्मोदयसे आये, उसका प्रतिफलन हुआ और यह जीव ज्ञानस्वरूपसे चिगा और मलीमस परिणतिको अपनाता है, संकट बनते है। सो देखो सकट तो है, सब जीव अपनेमे कोई न कोई संकट लिए हुए हैं, किसीको सुख समृद्धि है तो भी वह संकट मानता है। किसीको कष्ट है, क्लेश है तो वह भी संकट मानता है। तो सकट तो है इससंसारमे, मगर यह सकट कोई बहुत बड़ी उलझन नहीं है, अगर यह बहुत बहुत बड़ी उलझन होती तो हिम्मत हारो कि अब मै क्या कर सकता हूँ, मगर सकटका होना कोई बड़ी उलझन नही। कैसे उलझन नही सो परख लो अदरमे। उलझन कहां है यहाँ बहुत? सिर्फ उपयोगकी अभिमुखतापर आधारित है सकट, यह सब बड़ी उलझन कुछ नहीं, उपयोगको बाहरमे रखें, अभिमुख करें तब ही है उलझन और अपने स्वरूपकी ओर अभिमुख करें तो उलझन सब समाप्त हो जाती है तो कुछ बड़ी उलझन तो नहीं है। कितना सरल काम है—इस उपयोगको बाहरसे घुमावें तो सकट है, उलझन है और अपने स्वरूपमें लगावें तो कष्टका काम नहीं, उलझन कुछ है ही नहीं। तो अपनी उलझन कोई खास नहीं है। हम आपसे केवल एक ज्ञानको अभिमुख करने भरकी कला है मूलमें, तब फिर क्यों न अपने आपमें समाकर इस उलझनको समाप्त कर दें। हो

क्या रहा है अन्दरमे कि यह विकार प्रतिफलित कर्मविपाककी ओर ही अभिमुख है याने उसके विषयभूत बाहरी पदार्थोंमे यह उपयोग लदा हुआ है । सो यही उलझन है। कर्म-विपाक जो कि आत्मामें झलका उस ओर मत बढें, वहाँ उपयोग न लगावें, वहाँ अभिमुखता न हो और स्वभावमे अभिमुखता आये तो सारी उलझन समाप्त हो जाती है, क्योंकि उलझन कोई बाहरसे नहीं आयी। भीतरमे ही राग किया, द्वेष किया, इष्टबुद्धि की, किसीको अनिष्ट माना, ऐसा जब मैं अखड ज्ञायकस्वरूप होकर भी धीरता नहीं रख पाता, बाहरी पदार्थोंमे उपयोग जोडते हैं, यही है अपनेपर सकट और उलझन। सकटरहित निज स्वरूपको सभालें तो उलझन समाप्त ।

सकटोमे मूल भ्रम—देखो—जब तक भ्रम है तब तक संकट है । जहाँ भ्रम नहीं है वहा सकट नहीं रह सकता । जैसे एक दृष्टान्त लो—एक कुम्हारका गधा गुम गया था, वह अपने गधेको ढूँढ़ने निकला। उसी दिन हुआ क्या कि कुछ थोड़ी बरसात हो रही थीतो एक कच्चे घरमे पुरुष बात कर रहे थे । घरमे पानी टपक रहा था, चू रहा था । उसके बारेमे बात कर रहे थे कि देखो उतना हमे शेरका डर नहीं है जितना हमे टपकेका डर है । पानी टपक रहा था । यह बात सुन ली-एक शेरने कि हमसे बडा कोई टपका हुआ करता है, जिस-से लोग तो डरते हैं और हम नहीं डरते। सोशेर कुछ भय खा गया कि टपका तो कोई मुझ से भी बड़ी चीज है। कहीं यह टपका मुझपर न आ जाय । तो यो घबड़ाया हुआ शेर बैठा हुआ रात्रिको ९-१० बजे और उसी समय वह कुम्हार अपने गधेको खोजता हुआ चला । डंडा हाथमे था, रस्सी भी साथमे लिए था । सो जैसे ही कुम्हारको कुछ नजर आया अधेरेमे कि यहतो मालूम होता है कि गधा है, सो वह तो नि.शक होकर चला गया और उसके कान पकड़े। था तो शेर पर समझा गधा । जब समझा कि गधा है तो अब डर काहेका रहा ? सो उसके कान पकड़े और शेर यो समझ बैठा कि लो मुझपर अब टपका आ गया, सो डरके मारे जैसा कुम्हार नचाये सो नचे । रस्सीसे बाधा और चला। पहुंच गया जहाँ बहुतसे गधे बधा करते थे, वहां जाकर बँध गया, कायर बन गया और जहा कुछ उजेला हुआ और शेरने देखा कि अरे मै तो यहां गधोके बीचमे बधा हुआ हूँ, ये तो सब गधे हैं, सो उसको ऐसा बल जगा कि भीतरकी रस्सी-पस्सी सब तोड़कर छोड़कर छलांग मारकर जगलमे चला गया तो जैसे टपकेका भ्रम लगने से शेर जैसा शूर भी कुम्हारके वशमे पहुंच जाता है, ऐसे ही विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्मस्वरूप होनेपर भी भ्रमवश यह अनेक विपत्तियां मानता है और दुःखी होता है । सो जितने भी दुःख होते हैं ये दुःख कोई उलझन नहीं हैं । जब तक अपने स्वरूपको नहीं संभाला तभी तक ये उलझनें कहलाती हैं । जहाँ अपना अनुभव किया किमैं

तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, वहाँ फिर इसको कष्ट नहीं रहता। तो करनेका काम यही है अहर्निश, इसीका उद्यम बनाये कि ऐसा अनुभव जगे कि मैं तो सिर्फ ज्ञानमात्र हू। जिस बच्चेपर संकट आता तो उसे माँ की खबर आ जाती और माँ की ही ओर भागता है, ऐसे ही जब जब भी अपनेपर सकट आये तब तब अपने स्वरूपकी दृष्टि दे और उस स्वरूप-की ही शरणमें पहुचें तो सकट तो बाहर दुःख तो है और जब अन्तरमें एक ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखा तो वहाँ कोई सकट नही। ऐसा ही अनुभव बने कि मै ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूँ, मैं सहज आनन्दमय हूँ, ऐसे अपने उस दर्शन ज्ञान चारित्रके विषयमें कुछ चिन्तन करें, कष्ट दूर हो जायगा। तो देखो अपने आपमें हमपर कष्ट आये या आनन्दमें हम रमें, यह जरासे फेरका फर्क है। इसमे कोई ज्यादह फेरकी बात नहीं। बैट्रीसे अगर पूरबको उजेला है और उसे पश्चिमको करना है तो फर्क बहुत आयगा, फेर बनेगा बहुत, मगर आत्मामें उपयोगके फेरके लिये क्षेत्रान्तरका फेर नहीं बनता। कुछ जरा सा ही फेर है अभिमुखताका। तो जरासे फेर को समाप्त करें, अपनेमें अपना ज्ञानबल प्रकट करें, ये सब उल्झनें समाप्त हो जायेंगी। इनमें चित्त देनेके लिए मनुष्य जीवन नहीं है, किन्तु अपने स्वरूपका निर्णय करके उस ही मे मग्न होनेके लिए यह जीवन है।

( ७४ )

राग तो दबी आग है जिससे अंदर-अंदर तो जलते रहते, बाहर मौज मानते। अन्दर की जलन व बाहरकी मौजके कारण रागसे दोनों ओरसे प्रगतिमें रुकावट रहती है। 'राग त्यागि पहुचूँ निज धाम। आकुलताका फिर क्या काम ?'

राग द्वेषकी आग—अब यहाँ देखो जगतके जीव परेशान हो रहे है तो राग और द्वेषसे। जब द्वेष पैदा होता है अन्तरमे तो यह जीव बहुत सतप्त होता, झुलसे जाता और जब राग होता है किसी चीजके प्रति तो यह नही समझ पाता कि मै झुलस रहा हू, क्षुब्ध हो रहा हू और हो रहा है दुःखी। तो बड़े दुःखोमें भी मुकाबला बनायें कि जिस दुःखको हम दुःख मान लें और दुःख भोग रहे हों वह दुःख बड़ा है या जिस दुःखको हम दुःख ही नहीं समझ पा रहे हैं और दुःखमें ही रम रहे हैं वह दुःख बड़ा है ससारका सुख दुःख ही है। उसको दुःख न मान सके कोई अज्ञानी और उस ही में लिप्त रहा करे तो यह तो दुःख भोगनेसे बुरी बला है। तो यहाँ यह बात जाननी है कि क्लेश होते हैं रागसे और द्वेषसे, मगर राग तो है दबी आग और द्वेष है खुली ज्वाला। तो राग दबी आग है, तो इससे यह जीव अन्दर ही अन्दर झुलसता रहता है। इससे क्या स्थिति बनती है कि यह जीव बाहरमें तो मौज मानते है और अन्दरमे इसको बड़ी जलन उत्पन्न होती, आकुलता रहती, व्यग्रता

रहती, हम दुःखी रहें और अपनेको दुःखी न मालूम करें ऐसी स्थिति तो बडी भयंकर होती है। ऐसा हो सकता है क्या ? हाँ होता ही तो है। जगतके जीवोंको ऐसी बात बनती ही तो रहती है जैसे कि मिर्चसे जीभ जल रही है और फिर भी मिर्च खानेसे कष्ट नहीं मानते, उमग रखते हैं और अधिक मिर्चकी चाह करते हैं। यों ही समझ लो कि संसारके सुखोंका जितना भोगना है वह सब है कष्ट क्लेश, पर उसे क्लेश नहीं मानते और उस ही सुखको पानेकी तरस लगाये रहते हैं। तो देखो किसीके रागभावकी पकड हो, राग हो रहा हो तो दोनों ओरसे इसके मोक्षमार्गकी रुकावट है। कैसी रुकावट कि राग होने पर बाहरमे मौज मानते, सो बाहरसे रुकावट हो गई। अन्दरमे यह जल रहा है, व्यग्र हो रहा है सो यह अन्दरसे मोक्षमार्गकी रुकावट है।

समतामृतसेवनसे राग आगका शमन—रागभाव यह सचमुच आग है, यह जीवको जलाता रहता है। उसकी औषधि है समतारूपी अमृत। तो अमृतका पान करके इस रागके सतापको दूर कर दिया जाय तो फिर जीवको कष्टका नाम न रहेगा। भावना भायें— 'राग त्यागि पहुचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ?' रागको छोडकर जो मेरेमें कर्मकृत विकार झलकता है उसकी अपनायत तजकर ज्ञानमे आस्था न रखकर अगर यह मै अपने धाममे पहुंचूं याने मेरे स्वरूपमे अपने आप जो एक सहज प्रतिभास है उससे ही 'यह मैं हू, ऐसा अनुभव करता रहू तो वहाँ आकुलताका फिर क्या काम रहता है ? हम करते हैं राग और दुखी होते हैं और रागको छोड नहीं सकते। बच्चोके कारण भी तो बहुत दुःख होता है कि नही सुबहसे शाम तक ? और देखो तब ही बच्चेको पीटते भी रहते हैं, झल्लाते भी रहते हैं, गाली देते रहते है, कष्ट ही कष्ट तो पाते हैं। पर भीतरमे राग। अगर राग न हो और ऐसा कष्ट मिले तो बच्चेको छोड़ देनेमें किसे हिचकिचाहट होती है दुःखी भी होते जाते और राग भी करते जाते, यह स्थिति होती है मोह दशामे। तो जब तक रागका परिहार न होगा, अपने आपके ज्ञान प्रकाशका अनुभव न होगा तब तक यह जीव अपने खास आराम के महलमे नहीं पहुच सकता। याने आत्माकी विशुद्ध परिणति रूप जो आनदधाम हैं वहाँ नही पहुचता और आकुलता भोगता रहता है। तो एक यह निर्णय बनावें कि मै तो रागको छोडकर अपने शान्तिधाममें पहुचूंगा और मुझे अन्य किसी भी प्रकारकी आवश्यकता नहीं है। सो इस दबी राग आगसे छुटकारा पाकर अपनेमे अन्तःप्रकाशमान सहजज्ञानानन्द अमृत का पान करें और समग्र आकुलताओंसे अपनेको हटा लें। यह काम किया जा सके इस मनुष्यभवमे तो बुद्धिमानी है, और राग द्वेष मोह ये ही करते रहे, जैसे गधे, कुत्ते, सूकर आदि कर रहे हैं तो उनसे इस मनुष्यभवमें कौनसी विलक्षणता समझी जाय ? इसलिए निर्णय

बनायें कि 'राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम।'

( ७५ )

**न इकतरफा क्रोध करो, न दुतरफा क्रोध करो, क्रोध करो ही नहीं। क्रोधसे बुद्धि बिगड़ी है, बिगड़ी बुद्धिमें विपदा आती है। अपने अविकार शान्तस्वरूपको ही अपना सर्वस्व समझकर इसी अन्तस्तत्त्वकी भक्ति करो।**

कषायोके आग्रहसे हुई परेशानीसे शान्तिका विघात––आत्माकी भलाई शान्तिमें है और शान्ति मिलती है मुक्तिमें, अनाकुलतामें और अनाकुलताका उपाय है अपने विशुद्ध सर्व-विशुद्ध अर्थात् समस्त पर और परभावोसे निराला जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपमे 'यह मै हूँ' ऐसी भावना, ऐसा ज्ञान, ऐसा ही उपयोग बना रहे तो इस रत्नत्रयके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म दूर हो जाते और मुक्ति प्राप्त होती है, पर जो आत्मज्ञान, आत्माचरणकी धुन बनाये है उसका जब पहले विषयवासनाके वातावरण थे तो वह वातावरण बदलता है और व्यवहार चारित्रके वातावरण आते हैं। अब जो अनिवारित है, आता ही है उसके प्रति विवाद कर लें और मूलसे उद्देश्यको भूल जाये, एक तो यह जीवको मुक्तिके मार्गमें विघ्न है। दूसरे तत्त्वको भूल जायें: तीर्थ और तत्त्व–ये दो जब तक चलते रहेगे तब तक सन्मार्ग मिलेगा। यदि तीर्थको मिटा दें तो तत्त्वकी पात्रता न रहेगी। तत्त्वको मिटा दें तो तीर्थ न चल सकेगा। जिसमें कि अनेक जीवोंके कल्याण होनेकी सम्भावना हो। हाँ तो देखो अपने व्यवहार आचरणमें चलते हुए, भीतरमे अपने स्वरूपको निरखते हुए एक शन्तिमें अपनी प्रगति करना, भगवान महावीर और अनेक तीर्थकर मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए तो उनका आत्मा अब सदाके लिए शान्त निराकुल कल्याणमय हो जाता है, यही चीज हम आपको हो सकती है, पर इसमें कषायका आग्रह कर लिया, इस कारण यह संसारमें रुलता है। कषायका आग्रह किया, क्रोधका आग्रह, क्रोधसे दुःखी होते जाते और उस क्रोधको ही पसन्द करते मानका आग्रह, जो मैने समझा सो ठीक, मै ही महान्, शेष सब तुच्छ। तो अपने आपकी पर्यायमे अहबुद्धि करके मानका आग्रह किया जाता है––छल, कपट, मायासे दुःखी हो रहे हैं कपटोंकी वजहसे और उन कपटोका जाल ही गूंथा जाता है। और लोभका रंग कितना कि कोई धर्मप्रसग हो अथवा कोई दीन दुखी तड़फ रहा हो, ऐसा देखकर भी और पाये हुए फाल्तू पैसेका त्याग न कर सके, यह है लोभका रग। जिसको जितना पैसा मिला है वह फाल्तू है, मुफ्त है, आत्माका उससे सम्बन्ध नहीं है। यह तो पूर्वकृत पुण्य कर्म का, कर्मबिपाकका सम्बन्ध हो, जो समागम मिला उसमें क्या आत्मबुद्धि करना? तो यों यह

जीव कषायोंके आग्रहसे परेशान है ।

समाजपर वर्तमान दो संकट—कषायोंके आग्रहकी परेशानी कब छूटे ? जब आत्मा में सद्‌बुद्धि आये, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, सुबुद्धि आये तो कषायो का आग्रह छूटेगा । यह बात मानकर चलें कि मेरा जिम्मेदार केवल मैं ही हूँ, अगल-बगल सग साथी दोस्ती आदिक का चक्कर न लगायें, क्योंकि मेरा कोई दूसरा मददगार नहीं । खुदके किए हुए कर्मोंका फल खुदको ही भोगना पडता है । तब अपने आपपर दया करके कषायोंका आग्रह छोडना चाहिए । देखो आज समाजपर दो संकट छाये हैं एक तो छाया है संकट जिसे कहते हैं दहेज वह है लौकिक विरूप, जिसकी वजहसे समाज परेशान है । सभी घर-वर परेशान हैं । मगर वह बढता ही जाता है । यह है लोभके रंगकी प्रकृति । दूसरा संकट छाया हैं यह कि कोई जैन साधुसतजन व्रत लेवें, नियम लेवें तो उसे पापी कहकर घृणा करना, ऐसी कुबुद्धिक फैलाने वाला एक विभाग बन गया, यह उससे भी बडा संकट है । इन दो संकटोसे समाज परेशान क्या, बरबाद होने वाला है । तो कुछ थोडा विचार करें, लोभका रग त्यागें । जो मिलता है सो भाग्यसे मिलता है, जो नही मिलता सो नहीं मिलता । किसी दूसरेके देनेसे कहीं धन अधिक नही बढ जाता और दूसरा संकट टाल, मान कषायका त्याग करें । गुरु, साधु सत व्रती तपस्वी समाजमे न हो तो समाजमे कोई आदर्श न मिलेगा और फिर ऐसे ही भटकते रहेगे । तो ऐसे समयमे भाई जो धर्मके विरुद्ध आग्रह करते हैं तो गृहस्थ होकर उसका तो कुछ उपाय करना ही पड़ेगा, मगर क्रोधके वशीभूत होकर उपाय न करें ।

क्रोधपरिहारकी उपयोगिता—धर्मके विघातके विरुद्ध अपना उपाय तो बनावें, किंतु किसी भी समय क्रोध न करना । न एक तरफसे क्रोध करें, दूसरा अन्याय करते हैं धर्मके विरुद्ध धर्मका विनाश करना चाहते है तो भी क्रोध न करें । शान्तिसे जो उचित है वह अपना उपाय करें । प्रथम तो ऐसी भावना करें कि विरोधी जनोमे सद्‌बुद्धि जगे ताकि उनके आत्माका कल्याण हो और भावी जो अनेक संतानें होगी उनका भी कल्याण हो। क्रोध जीवकी बरबादी करने वाला भाव है । क्रोध किसी समय मत करें, विवेक करें, विवेकसे अपने आप की रक्षा, समाजकी रक्षा, धर्मकी रक्षाका उपाय करें, एक तो होता है आधारमे धर्मका अनुराग, जो आधार हो वही प्रसग कहलाता है । तो धर्मके प्रेमसे, धर्मके अनुरागमे आकर सब कुछ करें । क्रोध भी आयगा, किन्तु धर्म प्रसगके आधारमें है वह । पर मूलमे एक क्रोध का ही लक्ष्य बनाकर मत करें । अपना जगतमे कोई वैरी नही है । सर्व जीव समान हैं, पर जब कुबुद्धि छा जाती है किसीपर तो उसको उल्टा ही उल्टा सूझता है । फिर देव, शास्त्र, गुरुका विनय नही रहता है । अपने आपकी पर्यायका अभिमान हो जाता है, तो यह सब कर्म

की लीला है। किसी जीवका अपराध नही है वह अपने स्वभावसे, ऐसा जानकर भीतरमें सबके प्रति क्षमा रखें और हाँ धर्मका विछोह हो, धर्मका नाश हो, विध्वस हो तो वहाँ अपने कर्तव्यका पालन करें, क्योंकि धर्मके विध्वंशके समय कर्तव्यका पालन न करें यह कहलाता है कायरता और क्रोध मूलमे रखकर कोई बात करे तो वह कहलाता है अविवेक। न तो अविवेक बनावें और न कायरता बनावें। मूलमे क्रोध न करें, क्योंकि भीतरमें यदि क्रोधका अधेरा छा गया तो उसमे बुद्धि बिगड़ती है और बुद्धि बिगडनेमे विपदा आती है। तो कषायोसे बचनेका उपाय क्या है ? तो मूल उपाय है अविकार शान्तस्वरूपको ही अपना सर्वस्व समझें, उससे प्रति रखें और उस अंतस्तत्व की भक्ति करें।

( ७६ )

इष्ट के अलाभमें होने वाले विपदासे इष्टलाभमे होने वाला मौज अधिक भयकर है। विषादमे तो आत्मप्रभुकी सुध रह सकती, मौजमे प्रभुकी सुध नही रहती। जहाँ आत्मप्रभुकी सुध नही वहाँ भव-भवमे रुलाने वाला कर्मबन्ध होता है।

इष्टलाभजन्य विपादसे इष्टलाभजन्य मौजकी अधिक भयकरता—देखो अनादिकालसे भटकते भटकते आज हम मनुष्यभवमें आये, इससे पहले अनेक भव पाये, सभी भवोंमें विषयों के साधन मिले, उन कषायोंके साधनोमें इष्ट बुद्धिकी, उन विषयो के साधनोमे उपयोग लगा कर मौज माना, वही करते आये भव-भवमे और इस इष्टबुद्धिमे बाधा हुई तो क्रोध किया, बस यही रागद्वेषकी सततिमे अनन्त भव बिता डाले, इष्ट न मिले तो खेद किया, इष्ट मिले तो मौज किया, बस ये दो ही व्यापार अनादिसे इस जीवके चले आये है। इसके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय कुछ सीख ही नही पाया, भले हो मुखसे बोले, अमुक व्यापार करते, ये सैकडो तरहके धधे, मगर सैकडो तरहके धधे नही कर रहा यह। यह तो दो ही धधो मे लगा है। यह जीव हर समय रात दिन कोई अपनी मनचाही चीज मिल जाय तो मौज मानता और मनमानी चीजमे बाधा आये तो विषाद मानता, बस ये ही दो धधे करता आया यह। तो इसमे बतलावो कौनसा धधा बढ़िया है जिससे इस जीवको नफा मिलता हो ? इष्ट का लाभ मिले, मौज मिले यह धधा अच्छा है क्या ? अथवा इष्ट चीज न मिले, विषाद हो रहा, यह धधा अच्छा है। प्रायः करके लोग जल्दोमें यह कह सकते हैं कि इष्टका लाभ मिले, शान्ति आये आनन्द मिले, मौज मिले, यह धंधा अच्छा है, और इष्ट न मिले, वहाँ विषाद रहे यह धंधा अच्छा नहीं लेकिन विचार करके समझें तो दोनो ही धधे नुकसान के हैं इस जीवके लिये। इष्ट चीजके मिलनेसे मौज मानते हैं यह भी नुकसान वाला धधा है और इष्टके न मिलनेसे विषाद हो यह भी धधा नुकसानका है, क्योंकि आकुलता दोनोमे है। मौजकी आकु-

लता तो ऐसी भयानक है कि आकुलित होते जाते और आकुलताका पता नहीं पाड़ते और विषादका धंधा प्रकट आकुलताका धधा है। फिर भी यदि मुकावला करें तो इष्ट चीज न मिलनेसे होने वाले विषाद के धधेसे बुरा है इष्टके लाभ होने पर होने वाले मौजका धधा क्योंकि मौजके धधेमे प्रभुकी सुध नहीं रहती, आत्माकी सुध नहीं रहती। जहाँ ज्ञानकी, आत्माकी सुध न रहे वह धंधा वहुत विकट भयकर है, भव-भवमें रुलाने वाला है, अनेक दुर्गतियोमे जन्म लेनेका कारण है और इष्टके अलाभ में जो विषाद हुआ उस विषादके समय मे इस जीवको प्रभुकी सुध होती है।

इष्ट लाभमे मौजमस्त होनेके कारण प्रभुताकी वेसुधी का महान् उत्पात—अच्छा थोडा मोटी वात यहींकी विचार लो—किसी गृहस्थको यदि घरके कोई झंझट लद गए, कोई विपदा आ गई तो देखो मन्दिरमे आकर प्रभुमूर्तिको देखकर कैसा अनुराग बनता है? एक लगन हो जाती। होती है इस भावसे कि हे प्रभु मेरा दु ख मिटा दो, दुःख आनेपर आते तो हे मन्दिरमे, बडी भक्तिमे लगते तो हैं। कोई विरले ही होते हैं ऐसे कि जो सुखमे प्रभुभक्तिमे वहुत समय वितायें। जो सुखमें भी प्रभुभक्तिमें अपना समय बिताये ऐसा पुरुष धन्य है। प्रायः करके वह देखा जाता कि लोग दुःख आनेपर प्रभुके गुणगानमे भारी समय देते हैं और सुख आ जाय, बाधा मिट जाय तो प्रभुकी सुधभी नहीं लेते। तो देखो जो ज्ञानकी सुध करावे, प्रभुकी सुध करावे, कठिन कर्मबधनको रोक दे, ऐसा जो विषादका धंधा है वह तो कुछ अच्छा है, पर इष्ट चीजके मिलनेपर जो मौज माना जाता है वह मौजका धधा इस जीवको अच्छा नहीं। जो लोग मौजमे मस्त रहे हैं उनको वडे बुरे दिन देखने पड़ते हैं, क्योकि मौज रहता कब तक? किसी भी तरहका मौज मान लें तो वह मौज कब तक रहेगा? चीज मिटेगी, शुभ मिटेगे, वियोग होगा, कल्पना जगेगी और पहले मौज पाया उसका स्मरण होगा, तो जो वर्षों मौज पाया है उस सबकी कसर ५-७ मिनटमे निकल जायेगी। इतना विषाद होगा, इतना सक्लेष होगा कि वह सारे मौजमे मस्त होनेकी कसर ५ मिनटमें अतिसक्लेशरूप से निकर जायगी। मौजमे मस्त होना भला नही है। इस मौजके साधनको मानो यह कर्म-विपाक है, कर्म लोला है। समागम मिला है मुझको फसानेके लिये, तो देखो इष्टके न मिलने पर होने वाले विषादसे कहीं बुरा है इष्टके मिलने पर होने वाला मौज। मोहमें ज्ञानकी सुध नहीं, अपनी सुध नही, प्रभुकी सुध नहीं रहती। वहाँ विकट कर्मबन्ध होता है।

पापसे दूर रहनेमे ही लाभ—देखो हम चाहे छुपकर पाप करें, प्रकट पाप करें, जहाँ दुर्वासना है, दुर्भावना है वहाँ कर्मबन्ध अवश्य है और जो कर्म बध जाते हैं वे भोगे बिना नहीं टलते हैं। किसी बिरले महात्मा सतका अधिक समाधिभाव बन जाय तो भले ही कर्म

सक्रान्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जाये, मगर यह तो समझो लाखोंमे एककी बात, किन्तु जो कम बाँधे हैं वे कर्म भोगने अवश्य पड़ते हैं। मोही पुरुष यह मानते है कि मुझको तो बहुत मौज है, दुःख आ ही नही सकता, क्योंकि मै बहुत ही भला हूँ, बढ़िया हू, सुख है पुण्यका उदय है, मगर कलका भी भरोसा नहीं कि यह पुण्य टिकेगा या नही। पता नही कब कैसी विपत्ति आ जाय, कुछसे कुछ हो जाय, इसलिये कर्मबन्धसे अवश्य डरो । और कभी भी पाप भाव, विषयोका भाव मत करो विषयोको देखकर हर्ष न मानो, उन विषयो को देखकर पापमयी भावके समर्थनके भाव मत बनाओ, नही तो विकट कर्मबन्ध होगा और उसका फल इसको ही भोगना पड़ेगा। सर्व जीवोंमे मित्रताका भाव रखें, भीतरमे सब जीवोका स्वरूप एक समान समझें, स्वरूपकी भूल न करें। ससारमे कुछ भी चीज उपादेय नहीं है जिसके लिए मायाचार छल कपट बनाया जाय और लोभके परिहार करनेमे तोऐसे कौतूहली बनें कि जरूरत समझें, आवश्यक समझें तो उसका परित्याग करें धर्मके काम और जीवोके उपकार के लिये। एक ऐसा नि.सग बनें भीतर मे कि कुछ विचार मत करें कि मै इसको त्याग दूंगा तो मेरेको कमी पड जायगी। जैसे बहुतसे खेल देखे वैसे ही एक यह भी खेल देख लो, मरनेपर तो छूट ही जाता है, जरा जिन्दगीमे ही उसका खेल बना लो। उसके लोभ त्यागकी मौज माननेकी और न जाने क्या क्या बातें गुजर सकती है ? क्या मै दुःखी हो सकता हूँ, अथवा नही, ये सारी बातें देख तो डालो, मरने पर छूटेगा तो वह तो विवश होकर छूटेगा, पर अपने जीवनमे इतना उदारताका भाव लावो कि जिसका सुफल इसी भवमे मिले, भविष्य भी अच्छा बने।

सदभावनाओके कषायरग तज कर शान्तस्वरूपमे मग्न होनेका सदेश— देखो— कषायोका रग त्यागकर अपने आपके अविकार स्वरूपको निरखकर अपनेको शान्त बनावें। चार भावनायें जो आचार्यसतोने कहा है— १–मैत्रीभाव, २–प्रमोदभाव, ३–कारुण्यभाव और ४–माध्यस्थ्यभाव, इन भावनाओका पूरा पालन करें। सर्वजीवोको जब भी देखे तब एकबार यह जरूर सोचलें कि इसका सहजस्वरूप वही है जो मेरा है। गुणियो को देखकर, सयम, व्रत, पालनकरनहारको देखकर प्रमोद लावे, हर्ष लावे, मार्ग तो यही है, इसके विपरीत अन्याय करें, पाप करें-अथवा गुणी जनोको देखकर गाली दें घृणा करें तो इससे बड़ा विकट कर्मबन्ध होता है। भले ही कुछ पुण्यका उदय हो सो अभी पता नही पड़ता, लेकिन जब कर्मोदय आयगा तब सब सामने आयेगा और पछताएगा। व्यर्थकी क्रियायें हैं, खोटी क्रियाये है जब एक अजैन साधुको देखकर आप गाली नही दे सकते, उन्हे पापी नही कह सकते और बल्कि उनके हाथ भी जोड़ने लगते और एक यहाँ जैन व्रती, त्यागी, साधुसंत कोई हो

उससे नाक भौं सिकोड़ना, घृणा करना, पापी कहना, निरन्तर चित्तमें यह कैसे दु:खी हो, यह कैसे टले आदि खोटी-खोटी भावनायें बनाना और ऐसी भावनाओमे सहयोग देना, भला सोचो तो सही कि यह अपने लिये कितनी कलककी बात है ? पश्चिमी अत्यात्मकी खोटी वासनामे न वह जावे, क्रोधभाव न लायें, गुणियोको देखकर हर्ष मानें, कोई न करे तो न करे मगर खुद की जिम्मेदारी तो समझें । खुदका किया हुआ खुदको ही भोगना पड़ता है। दीन दुखियोको देखकर करुणाभाव चित्तमे लायें, दया लायें । यदि बन सके तो उसका दु:ख दूर करे । जो ऐसा भाव भी बना रहा हो तो वह भी कुछ शान्त परिणाममे आयेगा और जो अविवेकी है, कुबुद्धि जिनके छायी हुई है उनमे माध्यस्थभाव रखें, ससारसे विरक्ति लावें शरीरसे वैराग्य लाये, ससारका स्वभाव विचारें, ऐसे कुछ शुद्ध चिन्तनमें आवें और पाये हुए इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल करें। अगर हमने इस जीवनमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और इनके आराधक महान पुरुष सतोकी आस्था की तो हम इस जीवन को पवित्र बना सकेंगे और यदि हमने रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक पुरुषोके प्रति विरोध किया, विद्वेष किया तो जैसे अनेक भव गुजार डाले व्यर्थ, ऐसे ही यह भव भी व्यर्थ गुजर जायगा ।

( ७७ )

समस्त बाह्य पदार्थोंसे उपयोगका एकदम कटाव कर दो । उपयोगमे ज्ञानमात्र अतः सहजस्वरूप ही प्रतिभासने दो । भव-भवमें क्लेश सहते रहना अच्छा नहीं, ज्ञानमग्न होकर भवरहित हो जाओ ।

( ७८ )

द्वेष वाला व्यवहार विपत्ति करता है, राग वाला व्यवहार विडम्बना करता है। विपत्ति और विडम्बना दोनो ही सक्लेशहेतु होनेसे अहित हैं । अन्तस्तत्त्वको निरखो, राग-द्वेषसे हटो, ज्ञानमग्न होओ, यह समाधि ही सत्य सम्पदा है ।

॥ सहजानन्द ज्ञानामृत प्रवचन समाप्त ॥

उससे नाक भौं सिकोडना, घृणा करना, पापी कहना, निरन्तर चित्तमें यह कैसे दु:खी हो, यह कैसे टले आदि खोटी-खोटी भावनाये बनाना और ऐसी भावनाओमे सहयोग देना, भला सोचो तो सही कि यह अपने लिये कितनी कलककी बात है ? पश्चिमी अत्यात्मकी खोटी बासनामे न बह जावे, क्रोधभाव न लायें, गुणियोको देखकर हर्ष मानें, कोई न करे तो न करे मगर खुद की जिम्मेदारी तो समझें। खुदका किया हुआ खुदको ही भोगना पड़ता है। दीन दुखियोको देखकर करुणाभाव चित्तमे लायें, दया लायें। यदि बन सके तो उसका दु:ख दूर करे। जो ऐसा भाव भी बना रहा हो तो वह भी कुछ शान्त परिणाममे आयेगा और जो अविवेकी है, कुबुद्धि जिनके छायी हुई है उनमे माध्यस्थभाव रखें, ससारसे विरक्ति लावें शरीरसे वैराग्य लायें, ससारका स्वभाव विचारें, ऐसे कुछ शुद्ध चिन्तनमे आवें और पाये हुए इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल करें। अगर हमने इस जीवनमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और इनके आराधक महान पुरुष सतोकी आस्था की तो हम इस जीवन को पवित्र बना सकेंगे और यदि हमने रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक पुरुषोके प्रति विरोध किया, विद्वेष किया तो जैसे अनेक भव गुजार डाले व्यर्थ, ऐसे ही यह भव भी व्यर्थ गुजर जायगा।

( ७७ )

समस्त बाह्य पदार्थोंसे उपयोगका एकदम कटाव कर दो। उपयोगमें ज्ञानमात्र अतः सहजस्वरूप ही प्रतिभासने दो। भव-भवमे क्लेश सहते रहना अच्छा नहीं, ज्ञानमग्न होकर भवरहित हो जाओ।

( ७८ )

द्वेष वाला व्यवहार विपत्ति करता है, राग वाला व्यवहार विडम्बना करता है। विपत्ति और विडम्बना दोनो ही सक्लेशहेतु होनेसे अहित हैं। अन्तस्तत्त्वको निरखो, राग-द्वेषसे हटो, ज्ञानमग्न होओ, यह समाधि ही सत्य सम्पदा है।

॥ सहजानन्द ज्ञानामृत प्रवचन समाप्त ॥